

समकालीन हिन्दी उपन्यास साहित्य  
और आत्म-निर्वासन

(Samkalin Hindi Upanyas Sahitya Aur Aatm Nirwasan)

कोटा विश्वविद्यालय, कोटा की  
पीएच.डी. (हिन्दी) उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध  
(कला संकाय)

शोधार्थी  
वन्दना शर्मा



शोध पर्यवेक्षक  
डॉ. हिमानी सिंह  
सह आचार्य

हिन्दी विभाग  
राजकीय कला कन्या महाविद्यालय, कोटा. (राजस्थान)  
कोटा विश्वविद्यालय, कोटा

2019

## *Certificate*

I feel great pleasure in certifying that the thesis entitled "समकालीन हिन्दी उपन्यास साहित्य और आत्म-निर्वासन" (SAMKALIN HINDI UPANYAS SAHITYA AUR AATM NIRWASAN) by **Vandana Sharma** under my guidance. She has completed the following requirements as per Ph.D. regulations of the University.

- (a) Course work as per the university rules.
- (b) Residential requirements of the university (200 days)
- (c) Regularly submitted annual progress report.
- (d) Presented her work in the departmental committee.
- (e) Published/accepted minimum of Two research papers in a referred research journal.

I recommend the submission of thesis.

**Date:**

**Dr. Himani Singh**

Research  
Supervisor

## ANTI-PLAGIARISM CERTIFICATE

It is certified that Ph.D. Thesis Titled "समकालीन हिन्दी उपन्यास साहित्य और आत्म-निर्वासन" (SAMKALIN HINDI UPANYAS SAHITYA AUR AATM-NIRWASAN) has been examined by us with the following anti-plagiarism tools. We undertake the follows:

- a. Thesis has significant new work/knowledge as compared already published or are under consideration to be published elsewhere. No sentence, equation, diagram, table, paragraph or section has been copied verbatim from previous work unless it is placed under quotation marks and duly referenced.
- b. The work presented is original and own work of the author (i.e. there is no plagiarism). No ideas, processes, results or words of others have been presented as author's own work.
- c. There is no fabrication of data or results which have been compiled and analyzed.
- d. There is no falsification by manipulating research materials, equipment or processes, or changing or omitting data or results such that the research is not accurately represented in the research record.
- e. The thesis has been checked using "Plagiarism Checker X" and found within limits as per HEC plagiarism Policy and instructions issued from time to time.

**Vandana Sharma**  
(Research Scholar)

**Dr. Himani Singh**  
(Research Supervisor)

Place:

Place:

Date:

Date:

## शोध सार

स्वतन्त्रता प्राप्ति भारतीय मन को समग्रतः आन्दोलित करने वाली एक घटना थी। परतन्त्र भारतीय मानस ने सोचा कि उसका अपना जो वर्तमान है वह स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद आमूलचूल परिवर्तित होगा तथा एक नितान्त भिन्न परिवेश में उसे मनवांछित जीवन जीने का अधिकार मिल जायेगा, किन्तु बदलती परिस्थितियों तथा जीवन की असंगतियों के कारण वह कुछ भी कर पाने में असमर्थ रहा। अभावों से पीड़ित, निराशा से क्षुब्ध होकर वह अकेलेपन, अलगाव की जिन्दगी जीने को विवश हुआ। आज व्यक्ति एक स्वतन्त्र इकाई बनकर रह गया है, आधुनिक मानव ज्यादा व्यावहारिक है, इसलिये उसके सम्बन्ध भी व्यावहारिक है। युद्ध, नैतिक मूल्यों के पतन, यांत्रिकता, औद्योगिकीकरण आदि कारणों ने निराशा, कुण्ठा, असंतोष, संत्रास, अजनबीपन, अकेलापन, अलगाव की भावनाओं को वर्तमान जनमानस को भीतर तक प्रभावित किया है जिससे चाहकर भी वह मुक्त नहीं हो पा रहा है।

मेरे द्वारा अपने शोध विषय “समकालीन उपन्यास साहित्य और आत्म-निर्वासन” में वर्तमान मनुष्य की इसी अनकही पीड़ा को अभिव्यक्त करने का पूर्ण प्रयास किया गया है। प्रस्तुत शोध के माध्यम से आत्म निर्वासन को उत्पन्न करने वाली परिस्थितियों, कारणों को पाठकों के समक्ष रखना चाहती हूँ, जिसका अध्यायवार विवरण निम्न प्रकार है –

प्रथम अध्याय – “समकालीन हिन्दी उपन्यास साहित्य : एक अनुशीलन” में उपन्यास की विकास यात्रा को बताते हुए उसके स्वरूपगत परिवर्तन को स्पष्ट किया गया है, तथा उसके वर्तमान स्वरूप पर प्रकाश डाला है।

द्वितीय अध्याय – “आत्म-निर्वासन का अर्थ एवं स्वरूप” में आत्म निर्वासन की व्युत्पत्ति, परिभाषा, क्षेत्र तथा व्यापकता को विस्तार से बताया गया है तथा पश्चिमी एवं भारतीय सन्दर्भों में अर्थ एवं स्वरूप की व्याख्या की गई है।

तृतीय अध्याय – “आत्म-निर्वासन की भावना को उत्पन्न करने वाली परिस्थितियाँ” में व्यक्ति के जीवन की उन परिस्थितियों पर प्रकाश डाला गया है जो आत्म-निर्वासन को जन्म देने में उत्तरदायी होती हैं। व्यक्तित्व के निर्माण में परिवेश एक महत्वपूर्ण कारक होता है, इसलिये सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक आदि परिवेशगत स्थितियों का विस्तृत वर्णन किया गया है।

चतुर्थ अध्याय – “समकालीन उपन्यासों में वर्णित आत्म-निर्वासन के कारण” पर चर्चा करते हुए मूल कारणों को अभिव्यक्त किया गया है जो व्यक्ति को आत्म-निर्वासन की स्थिति में पहुँचा देते हैं। इन कारणों पर चर्चा करके इन्हें शब्दगत अभिव्यक्ति देने का प्रयास किया गया है।

पंचम अध्याय – “समकालीन उपन्यासों का अभिव्यंजना शिल्प” में समकालीन उपन्यासों के शिल्प पर प्रकाश डाला गया है। समकालीन उपन्यासों में कथावस्तु से लेकर शिल्प अभिव्यंजना

तक अत्यधिक परिवर्तन आए हैं। जिनके कारण समकालीन उपन्यासों के भावपक्ष के साथ-साथ कलापक्ष में भी आमूलचूल परिवर्तन हुआ है। इस अध्याय में इन सभी परिवर्तनों पर चर्चा की गई है।

षष्ठ अध्याय – “अनुभूति और कथ्य सौन्दर्य” में उपन्यास के कथानक भाव आदि में आए समकालीन परिवर्तनों को स्पष्ट किया है। जो जीवन की परत-दर-परत व्याख्या करने में सहायक है।

सप्तम अध्याय – “समकालीन हिन्दी उपन्यासों में आत्म-निर्वासन की प्रवृत्ति : एक मूल्यांकन” में आत्मनिर्वासन की परिस्थितियां, कारणों और प्रभावों में अन्तर्सम्बन्ध स्थापित कर आत्मनिर्वासन की भावना को अपने पूर्ण स्वरूप में स्पष्ट करते हुए कुछ प्रमुख सुझाव दिये गए हैं, जिससे इस जटिल समस्या का निदान किया जा सके।

अष्टम अध्याय – “उपसंहार” में सभी अध्यायों की संक्षिप्त जानकारी के साथ कुछ प्रमुख सुझाव दिये गये हैं, जिससे आत्मनिर्वासन जैसी जटिल अवधारणा को समझा जा सके तथा इसके निवारण हेतु उचित प्रयास किये जा सकें।

प्रस्तुत शोध के माध्यम से समकालीन उपन्यासों में वर्णित आत्म-निर्वासन की भावना को अभिव्यक्त कर व्यक्ति के जीवन में इसके जटिल प्रभावों को समाज के सम्मुख अभिव्यक्त करने का प्रयास किया गया है। साथ ही इसके कारण व्यक्ति के जीवन में आये परिवर्तनों को भी अभिव्यक्त किया गया है। जिन्हें हम अक्सर अनदेखा कर देते हैं। अतः एक नवीन मौलिक, रुचिपूर्ण व ज्ञानवर्धक शोध प्रस्तुत करने का प्रयास मेरे द्वारा किया गया है।

**वन्दना शर्मा**

## ***Candidate's Declaration***

I hereby, certify that the work, which is being presented in the thesis, entitled "समकालीन हिन्दी उपन्यास साहित्य और आत्म-निर्वासन" (SAMKALIN HINDI UPANYAS SAHITYA AUR AATM-NIRWASAN) in partial fulfillment of the requirement for the award of the Degree of Doctor of Philosophy, carried under the supervision of Dr. Himani Singh and submitted to the University of Kota, Kota represents my ideas in my own words and where others ideas or words have been included. I have adequately cited and referenced the original sources. The work presented in this thesis has not been submitted elsewhere for the award of any other degree or diploma from any Institutions. I also declare that I have adhered to all principles of academic honesty and integrity and have not misrepresented or fabricated or falsified any idea/data/fact/source in my submission. I understand that any violation of the above will cause for disciplinary action by the University and can also evoke penal action from the sources which have thus not been properly cited or from whom proper permission has not been taken when needed.

**Date:**

**Vandana Sharma**

This is to certify that the above statement made by **Vandana Sharma** Registration No. RS/1099/13 is correct to the best of my knowledge.

**Date:**

**Dr. Himani Singh**  
**Research Supervisor**

आमुख

## आमुख

आत्म-निर्वासन मानव अस्तित्व के साथ जुड़ी हुई समस्या है। इस संसार में कोई अकेला रहना पसन्द नहीं करता, पशु भी यूथ में पाये जाते हैं, वनस्पति पेड़ पौधे भी एक साथ जल्दी प्रस्फुटित होते हैं, फिर चिन्तनशील प्राणी होने के नाते मनुष्य कैसे अकेला रह सकता है! वह शारीरिक ही नहीं, मानसिक व्यापारों के कारण भी दूसरों का सम्पर्क चाहता है। आधुनिक व्यक्ति शारीरिक रूप से नहीं मानसिक रूप से अकेला है। अजनबीपन, अकेलेपन और आत्म-निर्वासन का बोध विश्व दर्शन के इतिहास में नया नहीं है। हिन्दू जीवन दर्शन में भी आत्मा के अकेलेपन की चर्चा है, लेकिन वहाँ वह निर्वासन के रूप में स्वीकृत न होकर आत्मा का स्वभाव है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् बदलती परिस्थितियों, घटते नैतिक मूल्यों, औद्योगीकरण तथा यांत्रिकता के विकास ने व्यक्ति के मानस पर गहरी छाप छोड़ी है। पूर्वी-पश्चिमी सभ्यताओं के संक्रमण, नवीन को अपनाने का उत्साह, प्राचीन को ना छोड़ पाने की विवशता ने उसे कुण्ठित कर दिया। नई चेतना के संस्पर्श और नये विचारों के जन्म से जब उसकी मान्यताएं आस्थाएं ढहने लगी तब उन सारी मान्यताओं, परम्पराओं पर प्रश्न चिन्ह लग गया। और अकेलेपन आत्म-निर्वासन की समस्याएं धीरे-धीरे मानस पर गहराने लगी।

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में ये वैचारिक सुगबुगाहट और बेचेनी हिन्दी साहित्य में स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है। उपन्यासकार अपनी सीमित शक्ति के साथ नई चेतना को आत्मसात करने का प्रयास करने लगे। लाला श्रीनिवास दास ने अपनी कृति और हिन्दी के प्रथम उपन्यास 'परीक्षा गुरु' में सड़ी-गली सामाजिक रूढ़ियों और मान्यताओं पर प्रश्नचिन्ह लगा दिया। इसके बाद तो एक लहर चल पड़ी। बीसवीं सदी के तीसरे दशक तक आते-आते कामायनी में मनु पूछते हैं, मैं कौन हूँ? उन्हें अपनी पहचान गुम होती नज़र आती है यहाँ अजनबीपन की भावना पूरे वेग से हिन्दी रचनाकार से टकराती है। कामायनी में आधुनिक अस्तित्ववाद के जीवन्त संकेत परिलक्षित होते हैं। कवि प्रसाद ने शायद अनजाने में ही आधुनिक मनुष्य के अकेलेपन, अजनबीपन और आत्म-परायेपन के बोध को मनु के रूपात्मक ऐतिहासिक उन्मेष में गूँथ दिया था।

सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक जीवन के हर क्षेत्र में विषम परिस्थितियों के कारण आधुनिक व्यक्ति को मोहभंग, विफलता-बोध, कुण्ठा, संत्रास, जैसी भावनाएँ पूर्णरूप से प्रभावित करती हैं। जिनके कारण सम्बन्धहीनता व्यर्थता-बोध, सवांदहीनता आत्म-निर्वासन और विकराल रूप में प्रकट हो जाती है।



आज का मानव बाहर से सजा-संवरा सभ्य है किन्तु भीतर से उतना ही उखड़ा और खण्डित है, या कहें अपने अकेलेपन की पीड़ा का भार ढोने के लिये विवश है। समकालीन हिन्दी उपन्यासों में अब खुलकर इन भावनाओं को अभिव्यक्त किया गया है। अज्ञेय, मोहन राकेश, निर्मल वर्मा, ऊषा प्रियम्बदा आदि कई उपन्यासकार हैं, जो इस अनकही व्यथा को शब्दों में अभिव्यक्त करने का प्रयास कर रहे हैं, ताकि आधुनिक मानव जितनी प्रगति भौतिकी और बाहरी रूप में कर रहा है उतनी ही आन्तरिक स्तर पर भी कर सके। शोधार्थी ने इन्हीं समकालीन उपन्यासों में वर्णित आत्म-निर्वासन की भावना पर गहन शोध किया है। इनके परिवेशजन्य कारण का विस्तृत विवेचन किया है।

पथ-प्रदर्शक तथा गुरु के योगदान से कठिन से कठिन कार्य भी सफल हो जाता है। साथ ही विद्वानों के अनुभव व विचारों से भी मार्ग-प्रशस्त होता है। अतः किसी कार्य के सफल समापन पर इनके प्रति हृदय की गहराइयों में आभार प्रदर्शन करना नैतिक कर्तव्य है। ज्ञान की प्राप्ति गुरु से ही संभव है। सतगुरु मिलना भी शिष्य का परम सौभाग्य होता है। पी.एच.डी. की उपाधि हेतु मेरे द्वारा प्रस्तुत शोध कार्य में आदरणीया डॉ. हिमानी सिंह जी, सह आचार्य, राजकीय कला कन्या महाविद्यालय, कोटा (राजस्थान) जो प्रस्तुत शोध की पर्यवेक्षक भी हैं, का अमूल्य योगदान एवं सतत मार्गदर्शन मेरे सौभाग्य को दर्शाता है। इनके विद्वतापूर्ण व सकारात्मक पथ-प्रदर्शन के आलोक में ही मैं अपना शोध प्रबन्ध प्रस्तुत करने में सफल हो सकी हूँ। डॉ. हिमानी सिंह जी ने जहाँ एक ओर अपने सार्थक सुझावों से इस शोध कार्य को सार्थक बनाया है। वही "गुरु कुम्हार शिष कुंभ है, गढ़ि गढ़ि काढ़ै खोट" की उक्ति को चरितार्थ करते हुए मुझे इस योग्य बनाया कि स्वयं के और समाज के विकास में सफल योगदान दे सकूँ। इनका मार्गदर्शन सदैव मेरे जीवन को आलोकित करता रहेगा। मैं असीम श्रद्धा से उनके प्रति कृतज्ञतापूर्ण करते हुए आशीर्वचनों की अभिलाषी हूँ। परिवार व्यक्ति के जीवन की नींव होता है। मेरे सम्पूर्ण परिवार ने आरम्भ से ही मेरा उत्साहवर्धन व सहयोग किया है। परम आदरणीय पिता श्री भवानी शंकर जी शर्मा एवं स्नेहमयी माँ श्रीमती उर्मिला शर्मा जिनकी प्रेरणा सहयोग व आशीर्वाद से मैं मेरे शोध कार्य को अंतिम रूप दे सकीं। माता-पिता के स्नेह और सहयोग को न तो शब्दों में बांधा जा सकता है और न ही उनका ऋण चुकाया जा सकता है। श्रीमती अनिता शर्मा व श्री विमल त्रिपाठी (दीदी-जीजाजी) की भी तहेदिल दिल से आभारी हूँ जिन्होंने हर मुश्किल परिस्थिति में मेरी सहायता करके मेरे कार्य को आसान बनाया। मैं मेरे अनुज श्री देवेन्द्र शर्मा के प्रति विशेष कृतज्ञ हूँ जिन्होंने निस्वार्थ भाव से समय समय पर मेरी सहायता की। मैं मेरे भ्रातातुल्य डॉ. अविनाश व्यास जी का भी आभार व्यक्त करती हूँ जिनके अनुभवों ने सदैव मेरी जिज्ञासाओं को शांत किया तथा मेरा मार्गदर्शन किया। मैं गुरुदेव श्री विवेक शंकर जी (सह-आचार्य, हिन्दी विभाग, राजकीय महाविद्यालय कोटा, राजस्थान) श्री रामनारायण मीणा

जी (वरिष्ठ उद्घोषक, ऑल इण्डिया रेडियों आकाशवाणी, कोटा) की हृदय से आभारी हूँ जिनके ज्ञान तथा सहयोग से अपने शोध कार्य को परिष्कृत रूप दे सकी।

मेरे मित्र व सहपाठी श्री सत्यनारायण जी का आभार व धन्यवाद ज्ञापित करना चाहूँगी जिन्होंने शोध कार्य व उससे इतर मेरी हर प्रकार की सहायता की, जो मेरे लिये अविस्मरणीय है। इनके साथ ही मैं श्रीमती रेणु श्रीवास्तव, श्री योगेश मेहरा का भी हृदय की गहराइयों से धन्यवाद ज्ञापित करना चाहती हूँ। जिन्होंने इस कार्य को परिपूर्णता तक पहुँचाने में मेरी सहायता की। मैं श्री मुकेश जी सेन, श्री राजकुमार जी सेन, श्री गौरव जी मीणा, श्रीमती निशा सेन को धन्यवाद देना चाहूँगी जिन्होंने विपरीत परिस्थितियों में भी टाईपिंग का कार्य पूर्ण कर इस शोध कार्य को ग्रन्थ का आकार देने में सहायता की।

मैं इन सभी पुस्तकों के लेखकों, पत्र-पत्रिकाओं के लेखको व सम्पादको का भी आभार प्रकट करती हूँ जिनके कारण मुझे शोध सामग्री उपलब्ध हो पाई। मैं उन सभी पुस्तकालयों के कर्मचारियों को भी धन्यवाद करती हूँ जिन्होंने शोध से सम्बन्धित सामग्री उपलब्ध करवायी। इन पुस्तकालयों में वर्धमान महावीर खुला विश्वाविद्यालय के केन्द्रीय पुस्तकालय, राजकीय कला कन्या महाविद्यालय का पुस्तकालय आदि सम्मिलित है, मैं उन सभी लोगो की आभारी हूँ जिनका नाम यहाँ नहीं लिख पायी हूँ परन्तु प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में उनका सहयोग मुझे मिला।

**वन्दना शर्मा**

**शोधार्थी**

**कोटा विश्वविद्यालय, कोटा**

## अनुक्रमणिका

अध्याय	विवरण	पृष्ठ संख्या
प्रथम अध्याय :	समकालीन हिन्दी उपन्यास साहित्य : एक अनुशीलन	1-16
द्वितीय अध्याय :	आत्म-निर्वासन का अर्थ एवं स्वरूप	17-54
	(क) आत्म-निर्वासन का पाश्चात्य स्वरूप	27
	(ख) आत्म-निर्वासन का भारतीय स्वरूप	38
तृतीय अध्याय :	आत्म-निर्वासन की भावना को उत्पन्न करने वाली परिस्थितियां	55-88
	1. पारिवारिक परिवेश	56
	2. सांस्कृतिक परिवेश	63
	3. महानगरीय परिवेश	69
	4. युद्धोत्तर परिवेश	76
	5. आर्थिक परिवेश	81
चतुर्थ अध्याय :	हिन्दी उपन्यासों में वर्णित आत्म-निर्वासन के कारण	89-116
	1. जीवन के टूटते मूल्यों का सच	90
	2. मध्यम वर्ग के आन्तरिक अन्तर्विरोध	93
	3. मानवीय सम्बन्धों का बदलता स्वरूप	99
	4. स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की जटिलताएं	102
	5. मनोविज्ञान का सामाजिक प्रभाव	107
	6. व्यक्ति चेतना का प्रखर स्वर	107
	7. चेतन तत्व से विमुखता	110
	8. व्यर्थता-बोध का अकेलापन	113
पंचम अध्याय :	समकालीन उपन्यासों का अभिव्यंजना शिल्प	117-160
	1. कथावस्तु	117
	2. चरित्र-चित्रण	123

	3. वातावरण	135
	4. भाषा-सौष्ठव	138
	5. प्रतीक-विधान	149
	6. नवीन शिल्प प्रयोग	152
	7. वैज्ञानिक चेतना और संकेत बोध	156
षष्ठ अध्याय :	अनुभूति एवं कथ्य सौन्दर्य	161-177
	1. कथ्य की नवीनता	161
	2. रूढ़ि विद्रोह	165
	3. मार्क्सवादी चेतना	171
	4. अस्तित्ववादी चेतना	174
सप्तम अध्याय :	समकालीन हिन्दी उपन्यासों में आत्म-निर्वासन की प्रवृत्ति : एक मूल्यांकन	178-185
अष्टम अध्याय :	उपसंहार	186-191
परिशिष्ट :	सारांश	192-202
	संदर्भ ग्रन्थ सूची	203-213
	प्रकाशित शोध-पत्र	

प्रथम  
अध्याय

## प्रथम अध्याय

### समकालीन हिन्दी उपन्यास साहित्य : एक अनुशीलन

---

साहित्यकार मानवीय जीवन के बिखरे हुए सभी पहलुओं को विशिष्ट प्रकार से संजोकर साहित्य के रूप में सृजित करता है। एक प्रकार से साहित्य मानव चेतना की अभिव्यक्ति ही माना जा सकता है। सामाजिक बोध को कृति रूप में सृजित कर देना ही साहित्य है। इसका विस्तार असीमित है जिसे सुविधाजनक बनाने के लिए इसका वर्गीकरण किया गया है। इन्हीं में से एक विधा है उपन्यास। गद्य साहित्य की विधाओं में जितनी उन्नति उपन्यास की हुई है उतनी किसी अन्य विधा की नहीं हुई। इसके मूल में कारण यह रहा कि उपन्यास में स्वतंत्रता है जिसमें लेखक स्वतंत्र रूप से अपने विचारों को अभिव्यक्त कर सकता है। उपन्यास का क्षेत्र इतना अधिक विस्तृत है कि जीवन के सभी पहलुओं को यह छूता है। उपन्यास जीवन के यथार्थ को प्रस्तुत करता है। जीवन के सभी पहलुओं को गहनता से छूने की जो स्वच्छन्दता और रुचि उपन्यास में है वह किसी अन्य विधा में नहीं है। इसी कारण उपन्यास विधा इतनी प्रचलित हुई। उपन्यास साहित्य का अवलोकन करने पर यह तथ्य उभरकर सामने आता है कि इसमें सम्पूर्ण जीवन की झांकी की जो झलक मिलती है वही उसकी लोकप्रियता का मूलबिन्दु है।

“वर्तमान जगत में उपन्यासों में बड़ी शक्ति है। समाज जो रूप पकड़ रहा है। उसके भिन्न-भिन्न वर्गों में जो परिस्थितियां उत्पन्न हो रही हैं उपन्यास उनका विस्तृत प्रत्यक्षीकरण ही नहीं करते, आवश्यकतानुसार उनके ठीक विन्यास, सुधार अथवा निराकरण की प्रवृत्ति भी उत्पन्न कर सकते हैं। लोक या किसी जनसमाज के बीच काल की गति के अनुसार जो गूढ़ और चिन्त्य परिस्थितियां खड़ी होती रहती हैं उनको गोचर रूप में सामने लाना और कभी-कभी विस्तार का मार्ग भी प्रत्यक्ष करना उपन्यास का काम है।”<sup>1</sup> साथ ही इसमें जीवन को बहुमुखी छवि के साथ व्यक्त करने की शक्ति होती है। उपन्यास का जन्म आधुनिक काल के यथार्थवादी परिवेश में हुआ। यह आधुनिक सभ्यता की देन है। आधुनिक साहित्य एक अथाह महानद है तो उसकी सर्वशक्तिमान तीव्र प्रवाहमान धारा उपन्यास है। “उपन्यास का प्रकृति क्षेत्र मनुष्य की जिन्दगी है और वह अतीत के प्रति उतना प्रतिबद्ध नहीं है जितना वर्तमान और निकट अतीत के प्रति।”<sup>2</sup>

उपन्यास समाज की आलोचना एवं विवेचना की प्रस्तुति करता है। समाज की यथार्थ स्थिति से अवगत कराना ही उपन्यास का मूल उद्देश्य होता है। उपन्यास का परिवेश इतना विस्तृत होता है कि अधिकांश परिभाषाओं में इसका आंशिक स्वरूप ही समावेशित हो पाता है। “युग की गतिशील पृष्ठभूमि पर सहज शैली में स्वाभाविक जीवन की एक पूर्ण व्यापक झांकी प्रस्तुत करने वाला गद्य काव्य उपन्यास कहलाता है।”<sup>3</sup> उपन्यास साधारण जीवन के समानान्तर

चलने तथा उसे गतिशील करने का प्रयत्न करता रहता है। यहां वर्णन चित्रण की निश्चित परिपाटी नहीं होती और पात्रों की संख्या तथा आकारों पर कोई बंधिमें नहीं होती हैं। यह जीवन की समस्याओं के अनुसार आकार एवं तत्वों का विकास होता है। “उपन्यास आधुनिक युग की देन है। नए गद्य के प्रचार के साथ-साथ उपन्यास का प्रचार हुआ है। यह आधुनिक वैयक्तिक दृष्टिकोण का परिणाम है। इसमें लेखक अपना एक निश्चित मत प्रकट करता है और कथानक को इस प्रकार सजाता है कि पाठक अनायास ही उसके उद्देश्य को ग्रहण कर सके, और उससे प्रभावित हो सके। लेखकों का इस प्रकार का वैयक्तिक दृष्टिकोण ही नए उपन्यास की आत्मा है। प्रत्येक उपन्यासकार ने अपनी दृष्टि, अपनी रूचि एवं अपने आग्रह के अनुरूप अपनी-अपनी रचना को रूप दिया।”<sup>4</sup>

उपन्यास में लेखक यथार्थवादी दृष्टि अपनाता है और अपने चारों ओर बिखरे जीवन में से ही अपने लिए कथासूत्र चुनता है किन्तु उपन्यास में अंकित किया गया जीवन हमारे यथार्थ जीवन का आभास तो देता है लेकिन मूलरूप में उस जीवन से भिन्न होता है। इसीलिए जार्ज मूर ने कहा है “उपन्यास समकालीन इतिहास के सिवाय और कुछ नहीं है। वह जिस युग में हम जी रहे हैं उसके सामाजिक परिवेश का बिल्कुल पूर्ण और सही-सही पुनर्निर्माण है।”<sup>5</sup> “उपन्यास वैयक्तिक दृष्टि से वास्तवाभासा कल्पित कथा पात्रों को लेकर जीवन के एकांगी या बहुरंगी गतिशील यथार्थ को अंकित करने में नित्य नवल रूप धारण करने में समर्थ, अपेक्षतया बड़े आकार या रोचक वर्णनात्मक गद्य का रूप है।”<sup>6</sup> प्रेमचंद के अनुसार “मैं उपन्यास को मानव चरित्र का चित्र मात्र समझता हूँ, मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व है।”<sup>7</sup> वास्तव में उपन्यास में पात्र के आन्तरिक आत्मस्वरूप का ज्ञान कथा में वर्णित क्रियाकलापों द्वारा प्राप्त होता है और क्रिया कलापों का उद्भव पात्र की आन्तरिक मनोभूमि पर होता है। “उपन्यास का मूल आधार उसमें निहित यथार्थत्मकता का तत्व है। उपन्यास में मानव जीवन के सत्य का वास्तविक चित्रण प्रस्तुत किया जाता है।”<sup>8</sup>

इन परिभाषाओं से स्पष्ट है कि इन विद्वानों ने यथार्थ अभिव्यक्ति को ही उपन्यास का सर्वाधिक महत्वपूर्ण गुण माना है। प्रायः सभी उपन्यासकारों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से उपन्यास के विभिन्न तत्वों पर प्रकाश डाला है जिससे सर्वमान्य रूप से उपन्यास की कई विशेषताएं उभरकर आती हैं जो उसे अन्य विधाओं से पृथक करती हैं जैसे- उपन्यास का माध्यम गद्य है, तुलनात्मक दृष्टि से वह अन्य विधाओं की अपेक्षा बड़े आकार का होता है, चरित्रांकन करने वाली अन्य विधाओं से इसमें विस्तृत एवं गहन चरित्रांकन की सर्वाधिक गुंजाइश होती है तथा इसका दृष्टिकोण यथार्थोन्मुखी होता है। उपन्यास में शिल्प लचीला होता है वह अभिव्यक्ति के लिए अन्य विधाओं के गुणों को अपना लेता है। इसमें नाटक, इतिहास, जीवन और निबन्ध आदि की मूल विशेषताएं भी समाहित होती हैं। इसी कारण उपन्यास इतना शक्तिशाली होता है। उपन्यास में नाटक के जैसी संवाद योजना होती है। चरित्रों का विश्लेषण

भी संवादों के माध्यम से ही किया जाता है। नाटक की भांति ही इसमें रंगमंच का विधान होता है। उपन्यासकार अपनी कल्पनाशीलता के माध्यम से व्यापक जीवन और गहरे अनुभवों का ताना-बाना बुनता है। कल्पना द्वारा यथार्थ जीवन की अपूर्णता को पूर्णता प्रदान कर अपनी कथा में बिखरे हुए जीवन को सुनियोजित सुनिर्दिष्ट रूप प्रदान करता है। उपन्यास में कथा के साथ साथ काव्य के समान भावुकता और संवेदनाएं भी होती हैं जिसके कारण पाठक तल्लीन हो जाता है इसीलिए आलोचकों ने उपन्यास को जेबी थियेटर भी कहा है। वास्तविकता यह है कि उपन्यास का कैनवास रचनाकार को जीवन का बहुरंगी और बहुआयामी चित्रण रचने का अवसर देता है। यह वैयक्तिक, सामाजिक, राजनीतिक, ऐतिहासिक एवं आचलिक जीवन के बाह्य एवं आंतरिक जीवन के विविध द्वन्दों एवं संघर्षों को यथार्थ रूप में चित्रित करके, उनसे मुक्ति दिलाने का प्रयास भी करता है। एकाकी, तनावग्रस्त व्यक्ति की पीड़ा की तलाश ही आधुनिक उपन्यास का प्राणतत्व है।

स्वतंत्रता निःसंदेह किसी भी राष्ट्र के इतिहास की गौरवमय घटना है किन्तु भारतीय संदर्भ में यह उतनी महत्वपूर्ण नहीं बन पाई जितनी होनी चाहिए थी, क्योंकि स्वाधीनोत्तर भारत का यथार्थ मानस की अभिलाषाओं के ठीक विपरीत था। देश का यथार्थ एक नए रूप में सामने आया। स्वाधीन भारत की समस्याओं, जटिलताओं एवं यथार्थ की भयावहता को नई पीढ़ी के साहित्यकारों ने खुद भोगा, समझा और उन्हें अपने साहित्य में अभिव्यक्ति दी। स्वाधीनोत्तर परिस्थिति में व्यक्ति व्यापक स्तर पर विभिन्न विघटनों से गुज़र रहा है। उसकी सही पहचान ही समकालीनता का अवबोध है। समकालीन लेखक आज की तात्कालिकता से परिचालित होता है। “समसामयिक यथार्थ एक जटिल और संश्लिष्टप्रक्रिया है जिसका कोई एक या अंतिम रूप नहीं है। यह यथार्थ न यथार्थवादी प्रकृति का है और न मनोवैज्ञानिक ढंग का वह अपने मूल अर्थ में अंतिम संकट से जूझने वाला यथार्थ है।<sup>9</sup> समकालीन साहित्य में जो भयावह यथार्थ है वह अधिकतम अस्तित्व संकट की पहचान कराने वाला और उसकी छानबीन करने वाला है। जटिल प्रकृति वाले इस यथार्थ से सीधे टकराए बिना आज का साहित्य सही ढंग से रूपायित नहीं होता। आज समस्त भारतीय साहित्य में खासकर हिन्दी साहित्य में अकेलापन, संत्रास, मृत्युबोध, निराशा, सामाजिक संबंधों का विघटन जैसी प्रवृत्तियां दिखाई देती हैं। ये सब अपने ही परिवेश के तनाव और दबाव से उद्भूत हैं। यह वर्तमान परिवेश की नियति है। इस नियति को आज का साहित्यकार विभिन्न विधाओं में अभिव्यक्त करने का प्रयास कर रहा है। सन् 1950 से आज तक का युग समकालीन युग के नाम से पुकारा जाता है।<sup>10</sup>

**हिन्दी उपन्यास विकासात्मक परिप्रेक्ष्य** —यूरोप में पुनर्जागरण के बाद उपन्यास साहित्य का आरम्भ हो चुका था। इस साहित्य के विकास में औद्योगिक क्रान्ति ने अनुकूल वातावरण प्रदान किया। भारतीय संदर्भ में उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक गद्य साहित्य का



सूत्रपात हो चुका था। इस कथा साहित्य की झलक इंशाअल्ला खां के 'रानी केतकी की कहानी' में प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त गद्य साहित्य में अन्य रचनाकार जैसे— लल्लू लाल, सदल मिश्र और मुंशी सदासुख लाल आदि भी मिलते हैं। गद्य उपन्यास का प्रादुर्भाव भारतेन्दु युग से माना जाता है। लाला श्रीनिवास दास के 'परीक्षा गुरु' से हिन्दी उपन्यास साहित्य का शुभारम्भ हुआ। यह काल अर्थात् 1882 से 1916 का काल हिन्दी उपन्यास में प्रयोगात्मक परिस्थिति का काल माना जाता है। इस काल में हिन्दी उपन्यास साहित्य विभिन्न प्रयोगों के माध्यम से पहचाना जाने लगा। यह युग औपन्यासिक मनोरंजकता से भरपूर युग रहा। इसके बाद आरम्भ हुआ प्रेमचंद युग का। सन् 1916 से 1936 का युग प्रेमचंद युग के नाम प्रसिद्ध हुआ। प्रेमचंद ने उपन्यास साहित्य को और अधिक गहरा, व्यापक और सार्थक बनाने में महत्वपूर्ण योग दिया। प्रेमचंद के उपन्यासों की विलक्षणता थी उनकी साहित्यिक, सांस्कृतिक, सामाजिक और आर्थिक प्रवृत्तियां। इनकी रचनाओं में समकालीन यथार्थ को बहुत ही कलात्मकता के साथ कथा साहित्य में संजोया गया। प्रेमचंद ही वह पहले उपन्यासकार थे जिन्होंने समसामयिक यथार्थ को नज़रअंदाज नहीं करते हुए उसे प्रमाणिकता और विश्वसनीयता के साथ कथा सूत्र में पिरोया।

सन् 1936 से 1950 का काल प्रेमचंदोत्तर युग के नाम से जाना जाता है। यह काल मनोविश्लेषण और यथार्थवाद की प्रवृत्तियों से भरपूर था। इस युग में मनोवैज्ञानिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, वैयक्तिक एवं सामाजिक समस्याओं की प्रधानता रही। इस काल के उपन्यासों में पात्रों की टूटन, यौनकुण्ठा, चेतना प्रवाह, प्रतीकात्मकता का प्रभावपूर्ण चित्रण हुआ है। इस युग के लेखकों ने पारम्परिक विषयों और शैली को पूर्णतया बदल दिया और सृजन हुआ समाजवादी यथार्थवादी उपन्यासों का। इस युग के प्रमुख उपन्यासकार रहे— भगवती चरण वर्मा, यशपाल, जैनेन्द्र कुमार, अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी, उपेन्द्रनाथ अशक, नागार्जुन, अमृतलाल नागर, रांगेय राघव, फणीश्वरनाथ रेणु, अमृत राय, विष्णु प्रभाकर, धर्मवीर भारती आदि। 1950 के बाद वैज्ञानिक चिंतन का विकास हुआ और उसी के साथ व्यक्तिवाद भी फलने-फूलने लगा। इस युग को समकालीन युग के नाम से जाना जाने लगा। इस युग में व्यक्ति को लक्ष्य कर समाज के निमित्त विचारधारा को अपनाया जाने लगा। स्वतंत्रता की भावना के कारण स्त्री-पुरुष में परस्पर स्पर्द्धा का आरम्भ हुआ। हिन्दी उपन्यासों के उद्भव और विकास के सम्बन्ध में सम्यक धारणा बनाने के लिए प्रारम्भ से आज तक के विकास को निम्न कालखण्डों में विभाजित करके देखना उचित होगा—

1. प्रेमचंदपूर्व हिन्दी उपन्यास
2. प्रेमचंदयुगीन हिन्दी उपन्यास
3. प्रेमचंदोत्तर हिन्दी उपन्यास

प्रवृत्तियों के लिहाज से देखें तो प्रेमचंद पूर्व युग में तीन मुख्य प्रवृत्तियों से सम्पन्न उपन्यास सामने आते हैं—

### 1.1 प्रेमचंद पूर्व हिन्दी उपन्यास—

प्रेमचंद पूर्व युग में हिन्दी उपन्यास साहित्य की मर्यादा सन् 1877 से 1818 ई. तक मान्य हो सकती है। हिन्दी साहित्य में इस उपन्यास विधा का विकास आधुनिक काल में हुआ। हिन्दी का प्रथम उपन्यास परीक्षा गुरु भारतेन्दु के जीवनकाल के दौरान ही प्रकाशित हुआ। इसके रचनाकार थे लाला श्रीनिवासदास। भारतेन्दु काल में अनुदित उपन्यासों की प्रधानता थी। प्रेमचंद के पूर्व उपन्यासों की सबसे प्रमुख विशेषता है उनका घटनाप्रधान होना। यह उपन्यास मनोरंजन करना चाहते हैं या फिर कोई उपदेश देना चाहते हैं। यह तिलस्मी, ऐयारी, ऐतिहासिक, सामाजिक सभी तरह के हैं। इनमें घटनाएँ गहन जीवन संदर्भों और पात्रों की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रियाओं से प्रभावित नहीं होती तथा वे जीवन के विभिन्न प्रश्नों, समस्याओं और आकांक्षाओं की जटिलताओं से भी उलझी नहीं होती। प्रेमचंद के पूर्व के उपन्यासों की घटनाएँ इसी तरह देशकाल और पात्र के जटिल यथार्थ को समझे बिना उन्हें चित्रित किए बिना नियोजित होती जाती हैं। घटना प्रधानता प्राचीन कथाओं की एक खास विशेषता होती है— चाहे वे दादी-नानी के मुँह से सुनी गई कहानियाँ हो, या फिर सिंहासन बत्तीसी, इन कथाओं में देशकाल की यथार्थता की रक्षा नहीं होती। एक था राजा, कहानी में परियाँ भी आएंगी, देवता भी आएंगे, राक्षस भी आएंगे और पाठक इन पर अविश्वास किए बिना इन्हें पढ़ता जाएगा। इन घटना प्रधान कथाओं में पात्रों की कोई निजी विशेषता नहीं होती। इन पात्रों में मानव की गहरी संवेदना, जटिल भावबोध और चिंतन शक्ति को प्रभावित करने की क्षमता नहीं होती। प्रेमचंद के पूर्व के हिन्दी उपन्यासों पर भारतीय कथा साहित्य के उपर्युक्त रूपों का बड़ा प्रभाव लक्षित होता है। पश्चिमी उपन्यासों का प्रभाव उन पर नहीं है। उपन्यासकारों ने बंगला के उपन्यासों के माध्यम से प्रेरणा ग्रहण की और मौलिक उपन्यास लिखे। भारतेन्दु युग के लेखक देश और काल की चेतना से स्पन्दित थे। उनकी कृतियों में स्वदेशी जागरण का स्वर मुखरित था। प्रेमचंद के पूर्व युग में मुख्य तीन प्रवृत्तियों से सम्पन्न उपन्यास दिखाई देते हैं—

**रोमांच बहुल उपन्यास—** रोमांच की प्रवृत्ति को विशेषतः उभारने वाले तिलस्मी और जासूसी उपन्यास इस कालावधि में खूब लिखे गए। देवकीनंदन खत्री ने चन्द्रकांता और चन्द्रकांता संतति और भूतनाथ लिखकर पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त की। चन्द्रकांता हिन्दी का शायद सबसे अधिक पढ़ा गया उपन्यास है। चन्द्रकांता के अनुकरण पर स्वर्णकांता (नंदलाल शर्मा), सूर्यकांता (बालमुकुन्द) जैसी कृतियों का प्रकाशन भी हुआ। देवकीनंदन खत्री के अतिरिक्त दुर्गाप्रसाद खत्री, हरिकृष्ण जौहर, निहालचंद वर्मा, लक्ष्मीनारायण गुप्त आदि ने भी ऐयारी, तिलस्मी उपन्यास रचे हैं। इस कोटि के उपन्यासों में विचित्र शक्तियों से युक्त ऐयारों के माध्यम से कौतूहल जगाने और पाठकों को रोमांचित करने का सफल प्रयास हुआ है। वैसे ये कृतियाँ

परोक्ष तौर पर सामन्तवादी विकृतियों का विरोध करती हैं और असत्य पर सत्य की विजय की घोषणा भी इनमें है। देवकीनंदन खत्री ने प्रयास किया था कि विचित्र क्रिया व्यापारों को वैज्ञानिक आधार दिया जाए। एक स्थल पर लोग दीवार के दूसरी ओर झांकते ही हंसने लगते हैं और हंसते-हंसते कुएं में कूद जाते हैं। खत्री जी ने इसके लिए लाफिंग गैस को जिम्मेदार ठहराया है। गोपालराम गहमरी के जासूसी उपन्यासों में रोमांच चरम सीमा पर पहुंच कर आश्चर्य में बदल गया है। अपने रहस्य विप्लव, चक्करदार चोरी, गाड़ी में लाश आदि अनेक उपन्यासों में उन्होंने ऐयारों की अपेक्षा अधिक विश्वसनीय व्यक्तित्व जासूस को प्रस्तुत किया। वास्तव में अपने हल्के फुल्के एवं अर्द्धगंभीर रूप के बावजूद ये जासूसी उपन्यास अपने युग के सुधारवादी आग्रहों से मुक्त नहीं थे।

**रोमांस बहुल उपन्यास**— रोमांस तिलस्मी उपन्यासों में है लेकिन उसका प्रसार उन कृतियों में विशेष रूप से हुआ है जो प्रेमचंद पूर्व युग में ऐतिहासिक रोमांस के रूप में रची गई हैं ऐसी कृतियों के प्रणयन में किशोरी लाल गोस्वामी का नाम सबसे उल्लेखनीय है। उनकी कृतियों में इतिहास की स्वच्छंद प्रेम कथाएं विशेष रूप से चित्रित हैं। गोस्वामी जी के उपन्यासों में त्रिवेणी व सौभाग्य श्रेणी, हृदयहारिणी वा आदर्श रमणी, कनक कुसुम वा मस्तानी, स्वर्गीय कुसुम, कुसुम कुमारी, माधवी माधव वा मदन मोहिनी आदि उल्लेखनीय हैं। इन उपन्यासों में रीतिकालीन मानसिकता का गहरा प्रभाव है इसलिए नायक नायिका के मिलन –विरह के मध्यकालीन साहित्य जैसे प्रसंगों से ये उपन्यास भरे पड़े हैं। इनमें कल्पना का रंग अधिक चटख है। इतिहास रस के बजाय कल्पना का वैभव अधिक मिलता है। अपने परिवेश की समस्याओं को लेकर गोस्वामी जी का दृष्टिकोण परम्परावादी है हालांकि देवदासी प्रथा, बेमेल विवाह की क्रमशः स्वर्गीय कुसुम वा कुसुम कुमारी और तरुण तपस्विनी में भर्त्सना हुई है फिर भी इन उपन्यासों पर आधुनिकता का दबाव और प्रभाव बहुत कम देखने को मिलता है। पूर्व प्रेमचंद युग में ऐतिहासिकता थी लेकिन कुछ अन्य उपन्यास लेखकों ने इतिहास के साथ बेहतर बर्ताव किया है। ब्रजनंदन सहाय कृत लालचीन और लज्जाराम मेहता कृत जुंझार तेजा आदि उपन्यासों में उन विशेषताओं को इंगित किया जा सकता है जो आगे चलकर वृंदावन लाल वर्मा आदि के लिए प्रेरक बनीं।

**उपदेश प्रधान उपन्यास**— अपने समय और समाज के सवालों पर आधारित इस युग के उपन्यासों में उपदेश का स्वर बहुत तीक्ष्ण है। प्रारम्भ में रचित अधिकतर सामाजिक उपन्यास उपदेशात्मक हैं। परीक्षागुरु में कुसंगति से मुक्ति का उपदेश है और देवरानी –जिठानी की कहानी में स्त्रियों के शिक्षित होने पर जोर दिया गया है। बालकृष्ण भट्ट कृत नूतन ब्रह्मचारी में उपदेशों की भरमार है विशेषतः पर्दाप्रथा की भर्त्सना की गई है। नवजागरण की चेतना का इन उपन्यासों पर थोड़ा बहुत प्रभाव पड़ने लगा था। आर्य समाज का सुधारवादी आग्रह कुछ उपन्यासकारों को प्रभावित कर चुका था। लज्जाराम मेहता इस युग में प्रमुख उपन्यासकार हैं उन्होंने उपदेशात्मकता को वरेण्य माना। सामाजिक विषयों पर आधारित इस युग के उपन्यासों

में अधखिला फूल, वारंगना रहस्य, सौ अजान एक सुजान आदि उल्लेखनीय है। प्रेमचंद के आगामी उपन्यासों के लिए भूमि तैयार करने में इनकी भूमिका कम नहीं है। प्रेमचंद ने जिस आदर्शोन्मुख यथार्थवाद को गौरान्वित किया था वह इन कृतियों में अपने प्रारम्भिक वस्तुतः हिन्दी में भारतेन्दु से पूर्व रूप में उपलब्ध है।

## 1.2 प्रेमचंदयुगीन हिन्दी उपन्यास—

प्रेमचंद एक नाम नहीं युग थे। गांधीवादी आदर्श जीवन प्रणाली तथा सत्य अहिंसा के प्रबल समर्थक थे। वस्तुतः प्रेमचंद युग की गतिशील जीवन दृष्टि के निर्माण में आर्यसमाज तिलक और गांधी की विचारधाराओं का ही योग था। प्रेमचंद मानवतावादी रचनाकार थे उन्होंने जीवन में साहित्य का स्थान विषय पर विचार करते हुए लिखा है—आदिकाल से मनुष्य के लिए सबसे समीप मनुष्य ही है। हम जिसके सुख—दुख, हंसने—रोने का मर्म समझ सकते हैं उसी से हमारी आत्मा का अधिक मेल होता है।<sup>11</sup> प्रेमचंद प्रारम्भ में उर्दू के लेखक थे और कहानियां लिखते थे। उर्दू में उनके कुछ उपन्यास भी प्रकाशित हुए थे। बाद में उन्होंने हिन्दी में लिखना प्रारम्भ किया। उनके महत्वपूर्ण उपन्यास हैं सेवासदन, प्रेमाश्रम, रंगभूमि, कायाकल्प, निर्मला, गबन, कर्मभूमि, गोदान और मंगलसूत्र (अपूर्ण)। प्रेमचंद उपन्यास को मनोरंजन की वस्तु नहीं मानते थे। वे अपने उपन्यासों द्वारा भारतीय जनता में जागरण, सुधार तथा निर्माण की भावना का प्रसार करना चाहते थे। प्रेमचंद मानवतावादी सहृदय व्यक्ति थे। वे गरीबी में पले थे, गरीबों के दुःख—दर्द को समझते थे। समाज के निम्न वर्ग से उन्हें सहानुभूति थी। जीवन के अन्तिम समय में, जैसा कि उनके अन्तिम उपन्यासों ('गोदान' और 'मंगलसूत्र') से प्रकट है, उनका झुकाव साम्यवाद की ओर हो गया था और वे सच्चे अर्थ में यथार्थवादी और प्रगतिशील हो गये थे। अपनी पुस्तकों में प्रेमचन्द ने किसानों की आर्थिक दशा, जमींदारों और पुलिस के अत्याचारों, ग्रामीण जीवन की कमजोरियों, समाज की कुरीतियों, शहरी समाज की कमियों, विधवाओं और वेश्याओं की समस्याओं, नारी की आभूषणप्रियता, मध्यवर्ग की झूठी शान और दिखावे की प्रवृत्ति, सम्मिलित हिन्दू—परिवार में नारी की दयनीय स्थिति आदि प्रश्नों और पक्षों पर प्रकाश डाला। उन्होंने अपने कई उपन्यासों में गांव और शहर की कहानी, ग्रामीण और नागरिक जीवन की झांकी साथ—साथ प्रस्तुत की है। उनके उपन्यासों में कथानक सुगठित है चरित्र—चित्रण प्रायः मनोविज्ञान के अनुकूल सजीव और स्वाभाविक है। संवाद पात्रों और परिस्थितियों के अनुसार हैं और भाषा सरल एवं व्यावहारिक है।

व्यापक सहानुभूति चित्रण विशेषकर शोषित किसान, मजदूर और नारी का सहानुभूतिपूर्ण चित्रण, यथार्थवाद अर्थात् उपन्यास में जीवन का यथार्थ चित्रण, मानव—जीवन और मानव—स्वभाव की अच्छी जानकारी होने से सजीव पात्रों और सजीव वातावरण का निर्माण चरित्र—चित्रण में नाटकीय कथोपकथनात्मक तथा घटनापरक पद्धतियों का उपयोग,

समाज के विभिन्न वर्गों के प्रतिनिधि पात्रों की सृष्टि, अपने व्यक्तित्व को पात्रों से पृथक रखकर उन्हें प्रायः अपनी सहज-स्वच्छन्द गति से चलने देना, अनेकानेक सामाजिक तथा राजनीतिक समस्याओं का चित्रण, समाज के साथ पारिवारिक जीवन की सुन्दर अभिव्यक्ति, मानव-कल्याण की ओर संकेत करने वाले नैतिक आदर्शों की प्रतिष्ठा और सरल व्यावहारिक भाषा का संग्रह आदि प्रेमचंद के उपन्यासों की मुख्य विशेषताएँ हैं। प्रेमचंद युग के अन्य उल्लेखनीय उपन्यासकार हैं, विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक, प्रसाद, निराला, सुदर्शन, चतुरसेन शास्त्री, वृन्दावन लाल वर्मा, प्रतापनारायण श्रीवास्तव, सियारामशरण गुप्त, पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र', भगवती प्रसाद वाजपेयी, गोविन्दवल्लभ पंत, राहुल सांकृत्यायन और जैनेन्द्र। कौशिक जी के उपन्यास 'मां' और भिखारिणी नारी-हृदय का मनोवैज्ञानिक चित्र प्रस्तुत हुआ है। आचार्य चतुरसेन ने नारी की समस्या पर 'हृदय की परख', 'हृदय की प्यास', 'अमर अभिलाषा' आदि उपन्यास प्रारम्भ में लिखे थे। बाद में उनके बहुत से सामाजिक ऐतिहासिक और वैज्ञानिक उपन्यास प्रकाशित हुए। उनके कुछ उल्लेखनीय उपन्यास हैं 'गोली', 'वैशाली की नगर वधू', 'वयं रक्षामः' 'सोमनाथ' 'महालय', 'सोना और खून' तथा 'खग्रास'। वृन्दावनलाल वर्मा ने इतिहास के तथ्यों की पूर्णतः रक्षा करते हुए कई महत्वपूर्ण ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना की है। उन्होंने 'विराटा की पद्मिनी', 'झाँसी की रानी', 'कचनार', 'मृगनयनी', 'माधवजी सिंधिया' आदि उच्चकोटि के ऐतिहासिक उपन्यास लिखे। हिन्दी के कुछ अन्य उल्लेखनीय ऐतिहासिक उपन्यास हैं। जयशंकर प्रसाद का 'इरावती' (अधूरा), हजारी प्रसाद द्विवेदी के 'बाणभट्ट की आत्मकथा' और 'चारु चन्द्रलेख', चतुरसेन का 'वैशाली की नगरवधू', 'राजसिंह', 'सोमनाथ', 'सह्याद्रि की चट्टानें', सेठ गोविन्ददास का 'इन्दुमती', राहुल सांकृत्यायन के 'सिंह सेनापति', 'जय यौधेय', सत्यकेतु विद्यालंकार का 'आचार्य चाणक्य', रांगेय राघव का 'अंधा रास्ता', उमाशंकर का 'नाना फड़नवीस' तथा 'पेशवा की कंचना'।

प्रसाद जी ने 'इरावती' के पहले 'कंकाल' और 'तितली' नामक दो उपन्यास और लिखे थे, 'कंकाल' में हिन्दू नारी की असहाय स्थिति और धार्मिक पाखंड पर प्रकाश डाला गया है। 'तितली' में नारी-हृदय की महत्ता के उद्घाटन के साथ-साथ ग्राम-सुधार और यथास्थिति के विरुद्ध आन्दोलन की भावना है। प्रसाद जी मूलतः कवि हैं। उनके उपन्यासों में भी प्रायः जीवन की काव्यात्मक और भावपूर्ण व्याख्या मिलती है। निराला जी ने भी 'अप्सरा' 'अल्का', 'निरूपमा' आदि उपन्यास लिखे। इनके उपन्यासों में भी प्रसाद जी की भांति रोमांटिक वातावरण है। नारी को निराला जी ने महत्वपूर्ण स्थान दिया है। श्री प्रतापनारायण श्रीवास्तव के प्रारम्भिक उपन्यासों में 'विदा', 'विसर्जन' और 'विजय' उल्लेखनीय हैं। सियारामशरण गुप्तके 'गोद', 'अन्तिम आकांक्षा' और 'नारी' उपन्यासों में नारी-जीवन और उसकी सामाजिक स्थिति का मार्मिक अंकन हुआ है। साधारण मनुष्य में भी उच्च गुण दिखाने में गुप्त जी निपुण है।

पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' के प्रारम्भिक उपन्यासों में पत्रात्मक शैली में लिखे 'चन्द हसीनों के खतूत' का विशिष्ट स्थान है। इसमें हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रश्न उपस्थित करते हुए प्रेम का महत्व दिखाया गया है। उनके 'दिल्ली का दलाल', 'बुधुआ की बेटा', 'जीजाजी' आदि उपन्यासों में दुष्टों द्वारा भोली युवतियों को फंसाए जाने की कथाएं हैं। सम्य समाज की भीतरी दुर्बलताओं और दुष्प्रवृत्तियों का उन्होंने अच्छा उद्घाटन किया है। भगवती प्रसाद वाजपेयीके 'प्रेममयी', 'अनाथ स्त्री', 'त्यागमयी', 'पतिता की साधना' आदि शुरु के उपन्यासों में स्त्री-पुरुष के रूपाकर्षण और प्रेम के चित्र हैं। उनके 'गुप्त धन', 'चलते-चलते', 'पतवार', 'उनसे न कहना', 'रात और प्रभाव', 'टूटते बन्धन' आदि कई उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं। गोविन्दवल्लभ पंतके 'सूर्यास्त', 'प्रतिमा', आदि उपन्यास काफी पहले प्रकाशित हुए थे। बाद में भी उनके 'जल समाधि', 'नारी के सपने', 'मैत्रेय' आदि उपन्यास निकले हैं।

जैनेन्द्र के परख (सन् 1929 ई.) से हिन्दी उपन्यास के क्षेत्र में एक नई प्रवृत्ति का आरम्भ होता है। वस्तुतः यह उपन्यास एक लम्बी कहानी है जिसमें कटो नाम की देहातिन बालविधवा के भावुकतापूर्ण आत्मसमर्पण का चित्रण किया गया है। जैनेन्द्र ने आगे चलकर कई महत्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक उपन्यास 'सुनीता', 'सुखदा', 'त्यागपत्र', विवर्त आदि लिखे, जिनमें प्रायः स्त्री का पर-पुरुष की ओर झुकाव दिखाकर आधुनिक नारी के कुण्ठाग्रस्त मन पर प्रकाश डाला है। मनोविश्लेषण की इस प्रवृत्ति का विकास किया इलाचन्द्र जोशी और अज्ञेय ने। प्रेमचंद काल के उत्तरार्द्धमें इस क्षेत्र में आने वाले अन्य प्रतिभाशाली उपन्यासकार हैं, ऋषभचरण जैन (कैदी गदर, भाई, भाग्य, रहस्यमयी, तपोभूमि, बादशाह की बेटा, सत्याग्रह, दिल्ली का व्यभिचार आदि), भगवतीचरण वर्मा (पतन, तीन वर्ष, चित्रलेखा, टेढ़े-मेढ़े रास्ते, सबहिं नचावत राम गुसाई) राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह (राम-रहीम, पुरुष और नारी, टूटा तारा, सूरदास, संस्कार आदि)

जीवन के अंतिम दिनों में प्रेमचंद की आदर्शवादी आस्था हिल उठी थी। सेवासदन (1918 ई) से लेकर गोदान (1936 ई.) तक आते-आते भीतर ही भीतर उनके विचारों में क्रांतिकारी परिवर्तन हो चुके थे। गोदान उनकी परिपक्व जीवन दृष्टि का परिणाम है। यहां तक आते-आते प्रेमचंद का आदर्शोन्मुख यथार्थवाद, यथार्थोन्मुख आदर्शवाद बन गया है। प्रेमचंद का गोदान एक ऐसी मनोभूमि पर प्रतिष्ठित है जहां जैनेन्द्र की आत्मकेन्द्रित अन्तर्मुखी पीड़ा, इलाचन्द्र जोशी की कामकुण्ठाजनित जटिल व्यक्तित्व चेतना, यशपाल का समाजवादी यथार्थवाद, भगवतीचरण वर्मा और उपेन्द्रनाथ अशक का रूमानी समाजोन्मुख व्यक्तिवाद तथा अमृतलाल नागर का सर्वमांगलिक मानववाद सभी के प्रेरणा सूत्र लक्षित किए जा सकते हैं। प्रेमचंद युग के अंतिम चरण में उपर्युक्त सभी प्रवृत्तियों का उन्मेष हो चुका था। प्रेमचंद ने साहित्य को जीवन की व्यापक अनुभूति के साथ सम्बद्ध करके देखा था। उन्होंने उपन्यास को सुरुचि जागृत करने वाला, आध्यात्मिक और मानसिक तृप्ति देने वाला, सौन्दर्यबोध का उन्मेष करने वाला तथा शक्ति और गति उत्पन्न करने वाला माना था इसलिए उनके उपन्यासों में

व्यक्ति चेतना, समाज मंगल, यथार्थ की अनुभूति, आदर्श की कल्पना, बाह्य घटनावैविध्य, आंतरिक मनोमंथन एवं भावद्वन्द्व सभी कुछ मिल जाता है।

### 1.3 प्रेमचंदोत्तर हिन्दी उपन्यास—

“प्रेमचंद जी ने भावी उपन्यासों के सम्बन्ध में भविष्यवाणी करते हुए कहा था कि भावी उपन्यास जीवन चरित होगा, चाहे किसी बड़े आदमी का या छोटे आदमी का। उसकी छुटाई बड़ाई का फैसला उन कठिनाई से किया जाएगा, जिन पर उसने विजय पायी है। हां वह चरित्र इस ढंग से लिखा जाएगा कि उपन्यास मालूम हो अभी हमेझूठ को सच बनाकर दिखलाना होगा। किसी देशभक्त का या किसी बड़े आदमी का, पर उसका आधार यथार्थ पर होगा। तब ये काम उससे कठिन होगा जितना अब है क्योंकि ऐसे बहुत कम लोग हैं जिनमें बहुत से मनुष्यों को भीतर से जानने का गौरव प्राप्त हो”<sup>12</sup>प्रेमचंद के बाद हिन्दी उपन्यास कई मोड़ों से गुजरता हुआ दिखाई पड़ता है। सन् 40 से 50 तक की कालावधि के उपन्यास मुख्यतः फ्रायड और मार्क्स की विचारधारा से, सन् 50 से 60 तक के उपन्यास प्रयोगात्मक विशेषताओं से और सन् 60 से अब तक के उपन्यास आधुनिकतावादी विचारधारा से प्रभावित हैं। प्रेमचंद समाज की स्वीकृत मान्यताओं के भीतर संघर्ष करते रहे। किन्तु प्रथम महायुद्ध के बाद पश्चिम के पुराने मूल्यों का तेजी के साथ विघटन हुआ। फ्रायड ने काम-सम्बन्धी मान्यताओं को नैतिकता-अनैतिकता से परे बताकर सामाजिक नैतिकता के आगे प्रश्नचिन्ह लगा दिया। पूंजीवादी समाज में व्यक्ति-चेतना उभर कर सामने आई। मार्क्स ने समष्टि चेतना पर विशेष बल दिया। हिन्दी उपन्यास इन विचारधाराओं से प्रभावित हुए बिना न रहा। फलस्वरूप सन् 50 के बाद उपन्यासकारों का ध्यान व्यक्ति और समाज की मुक्ति की ओर गया। किन्तु स्वतंत्रता के बीस वर्षों बाद भी मानव जीवन में एक विशेष प्रकार की कुण्डा, निराशा, त्रास, अर्थहीनता आदि की अनुभूति होने के कारण सन् 60 के बाद के उपन्यासों में इन्हीं मनोदशाओं का चित्रण किया गया। ऐतिहासिक दृष्टि से इस पूरे काल विस्तार में लिखे गए उपन्यास साहित्य को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है— स्वतंत्रताप्राप्ति के पूर्व का उपन्यास साहित्य और स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से आज तक का उपन्यास साहित्य। स्वतंत्रता प्राप्ति के पहले पूरे हिन्दी प्रदेश को एकता के सूत्र में बांधने और उत्साह को एक निश्चित दिशा में प्रवाहित करने वाली मूल प्रेरणा थी जो ब्रिटिश साम्राज्यवाद से सतत संघर्ष की प्रवृत्ति के रूप में परिवर्तित हुई। इसके साथ ही शोषण का विरोध, निम्न वर्ग के प्रति सहानुभूति, सामाजिक एकता नारी जागरण और अछूतोद्धार, हिन्दी मुस्लिम एकता आदि अन्य प्रेरणाएं थीं जो साहित्यकारों की सृजनेच्छा को प्रभावित कर रही थी। रचनाकारों के सामने लक्ष्यहीनता का प्रश्न नहीं था। उनके मन में आदर्शवादी प्रवृत्तियां प्रधान रूप से कार्य कर रही थी। वे यथार्थ की ओर बढ़ रहे थे किन्तु

आदर्श को जीवन का स्पन्दन देने के उद्देश्य से परम्परा के प्रति उनका विद्रोह विध्वंसात्मक नहीं हो पाया था। प्रेमचंदोत्तर उपन्यासों को सुविधा की दृष्टि से निम्न श्रेणियों में वर्गीकृत किया है—

**व्यक्तिवादी उपन्यास—** इस प्रकार के उपन्यासों में व्यक्ति के अहं, दर्प एवं उसकी वासनाओं, कुंठाओं, आकांक्षाओं आदि का चित्रण परिवार, समाज एवं संस्कृति के परम्परागत आयामों की उपेक्षा करते हुए किया गया है। इनमें वैयक्तिक स्वतंत्रता एवं समस्याओं का और व्यक्तिवादी दृष्टि से सामाजिक परिस्थितियों का अंकन मिलता है। भगवतीचरण वर्मा के 'आखिरी दांव', 'अपने खिलौने', उदयशंकर भट्ट के 'नए मोड़', 'एक नीड़ दो पंछी', आदि उपन्यास इसी परम्परा में हैं। इनके अलावा निर्मल वर्मा के 'वेदिन', 'लाल टीन की छत', 'एक चिथड़ा सुख', महेन्द्र भल्ला का 'एक पति के नोट्स', श्रीकांत वर्मा का 'दूसरी बार', कृष्णा सोबती का 'सूरजमुखी अंधेरे के', उषा प्रियंवदा का 'रूकोगी नहीं राधिका' और 'पचपन खम्भे लाल दीवारें' आदि प्रमुख हैं।

**मनोविश्लेषणवादी उपन्यास —** हिन्दी के अनेक उपन्यासकारों ने अपनी कृतियों में आधुनिक मनोविज्ञान एवं मनोविश्लेषण के सिद्धान्तों के आधार पर अपने पात्रों की मानसिक प्रवृत्तियों विशेषतः यौनवृत्तियों, दमित वासनाओं, ग्रन्थियों आदि का विश्लेषण प्रस्तुत किया जिन्हें इस परम्परा में स्थान दिया जा सकता है। इन उपन्यासों में नारी-पुरुष सम्बन्ध एवं मानसिक अन्तर्द्वन्द का विश्लेषण भी प्रचुर मात्रा में मिलता है। इस परम्परा में जैनेन्द्र कुमार के 'सुखदा', 'विवर्त', इलाचन्द्र जोशी के 'मुक्तिपथ', 'सुबह के भूले', 'जहाज का पंछी', अज्ञेय के 'नदी के द्वीप', 'अपने-अपने अजनबी', डॉ धर्मवीर भारती के 'गुनाहों का देवता', 'सूरज का सातवां घोड़ा', नरेश मेहता के 'डूबते मस्तूल' आदि प्रमुख हैं।

**प्रगतिवादी उपन्यास—**मार्क्सवादी दृष्टिकोण से वर्तमान पूंजीवादी सभ्यता के दोषों, शोषक वर्ग के अत्याचारों, आर्थिक विषमता के दुष्परिणामों, शोषित वर्ग की दयनीय स्थितियों तथा समाज की यथार्थ परिस्थितियों का अंकन करने के उद्देश्य से इन उपन्यासों की रचना की गई है। किसानों एवं मजदूरों के जीवन का चित्रण करते हुए शोषित वर्ग की अनुभूतियों एवं भावनाओं को अभिव्यक्ति दी गई है। इस वर्ग में राहुल सांकृत्यायन के 'सोने के ढाल', नागार्जुन के 'रतिनाथ की चाची', 'बलचनमा', रांघेय राघव के 'विषाद मठ', 'सीधा सादा रास्ता', 'अमृतराय के बीज', 'नागफनी के देश' आदि इसी प्रकार के उपन्यास हैं।

**आचलिक उपन्यास—** इस परम्परा का प्रवर्तन एवं विकास हिन्दी में लगभग 1950 के बाद हुआ है। इस प्रकार के उपन्यासों में ग्रामीण जीवन, ग्रामीण संस्कृति, ग्रामीण गीतों एवं ग्रामीण भाषा का संलिष्ट प्रयोग हुआ है साथ ही इनमें विभिन्न प्रदेशों के प्राकृतिक वातावरण एवं सांस्कृतिक जीवन का चित्रण भी मिलता है। इस वर्ग में नागार्जुन के 'बलचनमा', 'नई पौध',



फणीश्वरनाथ रेणु का 'मैला आंचल', देवेन्द्र अवस्थी का 'रथ के पहिए', वीरेन्द्र नारायण का 'अमराई की छांह', राजेन्द्र अवस्थी का 'जंगल का फूल' आदि उपन्यास प्रमुख हैं।

**प्रयोगवादी उपन्यास—** आंचलिक उपन्यास के उदय के साथ-साथ कुछ लेखकों ने औपन्यासिक शिल्प एवं शैली की दृष्टि से नूतन प्रयोग भी किए हैं। अलग-अलग व्यक्तियों की कहानियों को एक सूत्र में पिरोकर प्रस्तुत करना भी इनमें एक है। इस प्रकार के उपन्यासों में विषय की दृष्टि से भी नवीनता दृष्टिगोचर होती है। इस वर्ग में धर्मवीर भारती का 'सूरज का सातवां घोड़ा', सर्वेश्वरदयाल सक्सेना का 'खोया हुआ जल', नरेश मेहता के 'डूबते मस्तूल' आदि प्रमुख हैं। इसी प्रकार 'ग्यारह सपनों का देश' एक ऐसा प्रयोगात्मक उपन्यास है जिसे अनेक लेखकों ने मिलकर लिखा है।

**सांस्कृतिक उपन्यास—** इस वर्ग के उपन्यासों में भारतीय सभ्यता एवं सांस्कृतिक जीवन पद्धति की गरिमा, छठी-सातवीं शती के पतनोन्मुखी भारत की सभ्यता एवं संस्कृति का और भारत के विभिन्न प्रदेशों की संस्कृति का चित्रण मिलता है। इनमें पौराणिक कथा-पात्रों का आधुनिकीकरण करते हुए अपने युग को नया संदेश देने का प्रयास किया गया है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के उपन्यास 'बाणभट्ट की आत्मकथा', नरेन्द्र कोहली के 'दीक्षा', 'अवसर', वीरेन्द्र कुमार जैन के 'अनुत्तर योगी' इसी श्रेणी के उपन्यास हैं।

**राजनैतिक उपन्यास—** इस वर्ग के उपन्यासों में आधुनिक शासन तंत्र के अत्याचारों के चित्रण के साथ आधुनिक नेताओं के शोषण, मिथ्याचरण, पाखंड आदि का वर्णन किया गया है। आधुनिक प्रजातंत्र की विद्रूपताओं का उद्घाटन और अपने राजनीतिक जीवन के अनुभवों को अत्यन्त कलात्मक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। बदीउज्जमा के उपन्यास 'एक चूहे की मौत', 'छटातंत्र', शिवसागर के 'जनमेजय बचो' आदि प्रमुख हैं।

मानव चरित्र से व्यक्ति चरित्र और व्यक्ति चरित्र से व्यक्तित्व तथा व्यक्ति तक पहुंचने की एक लम्बी श्रेणी है और इसमें बहुतों का योगदान है। ये महत्वपूर्ण उपन्यास अन्य उपन्यासों के कारण ही संभव हुए हैं क्योंकि इन्हीं और इन जैसे अनेक अन्य भाषाओं के उपन्यासों ने रचनाकार के मानस में उपन्यास की रचना का रूपाकार तैयार किया है। इस तैयारी का परिणाम ही विशिष्ट रचना है। अनुभूति, संरचना, यथार्थ के प्रति दृष्टि और संयम इन सबका बदलाव और रूपान्तरण हिन्दी उपन्यास ने प्राप्त कर लिया था। यथार्थ के प्रति गहराई का दृष्टिकोण और समग्रता यानी मानवीय दृष्टि और भाषा के प्रति सजगता के साथ ही साथ इतिहास के प्रति आधुनिक दृष्टि और इतिहास के रचनात्मक उपयोग की संभावना भी 'बाणभट्ट की आत्मकथा' से प्रकाश में आ चुकी थी। विदेशी साहित्य और चिंतन दृष्टि का भी प्रभाव हिन्दी उपन्यास पर पड़ रहा था। प्रेमचंदोत्तर युग में उपन्यासकारों की दो समानान्तर पीढ़ियां कार्य कर रही हैं। पहली पीढ़ी उन उपन्यासकारों की है जिनका मानस संस्कार प्रेमचंद युग में

हुआ था किन्तु जिन्होंने शीघ्र ही युग प्रवाह के साथ अपनी मनोवृत्ति में परिवर्तन कर लिया और प्रेमचंद युग से आगे बढ़कर अपनी सीमा बना ली। दूसरी पीढ़ी स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद इस क्षेत्र में आयी और उपन्यास रचना की अनेक संभावनाओं की ओर संकेत कर रही है।

**समकालीन उपन्यास साहित्य**—साहित्य में प्राचीनता के साथ नवीनता का सामंजस्य ही समकालीनता है। समकालीनता में एक ओर जीवन के प्रति क्रियाशील होने का भाव है तो दूसरी ओर अतीत और भविष्य दोनों से अलग हटकर युगबोध की स्थिति विशेष अथवा क्षण विशेष के प्रति ममत्व का भाव है। वास्तव में किसी भी कृति के समकालीन होने का अर्थ है कि उसमें उस युग अथवा काल की धड़कन, कमोबेश अनिवार्य रूप से हो जिसमें उसकी रचना हुई है। साहित्य को यदि समाज का दर्पण या युग का प्रतिबिम्ब कहा गया है तो यह इसी दृष्टि से अनुस्यूत है। उपन्यास को आधुनिक जीवन का महाकाव्य उसकी समकालीनता के कारण ही कहा जाता है।

इन आधुनिक बोध के उपन्यासों में 'अंधेरे बंद कमरे', (मोहन राकेश)'शेखर एक जीवनी' (अज्ञेय), 'अपने-अपने अजनबी' (अज्ञेय), 'वे दिन' (निर्मल वर्मा), 'यह पथ बंधु था' (नरेश मेहता), 'ऋतुचक्र' (इलाचन्द्र जोशी), 'चलता हुआ लावा' (रमेश बक्षी) आदि उपन्यास आते हैं जिसमें मानव जीवन की अन्तर्मुखी वैयक्तिकता, आत्मनिर्वासन, अजनबीपन के अनुभवों को अभिव्यक्ति दी गई है। अन्तर्मुखी होकर व्यक्तिगत अनुभवों को उपन्यास का रूप देना जहां एक ओर लेखकीय ईमानदारी है वहीं दूसरी ओर जीवन की बड़ी और बुनियादी सच्चाईयों और आन्तरिक हलचलों की अभिव्यक्ति भी सराहनीय है अतः उपयोगिता, सामाजिक दायित्व, जनसंघर्ष आदि की दृष्टि से ये उपन्यास बहुत ही महत्वपूर्ण हैं।

मोहन राकेश कृत उपन्यास 'अंधेरे बन्द कमरे' आधुनिकता-बोध को उजागर करने वाली कृति है। इसमें कथा का विस्तार पत्रकार मधुसूदन के माध्यम से होता है, फिर भी मुख्य रूप से हरबंस और निलिमा के अनतर्द्वन्द की कहानी है। इस उपन्यास में मानवीय जीवन की विसंगतियों एवं विवशताओं का चित्रण आधुनिकता के धरातल पर प्रस्तुत किया गया है। उपन्यास का शीर्षक "अंधेरे बन्द कमरे" मधुवर्गीय पात्रों की नियति को रेखांकित करता है क्योंकि ये पात्र अपने ही अचेतन के अंधेरे बन्द कमरों में कैद है और उनसे निकलने का कोई उपाय नहीं सूझ रहा।<sup>13</sup>

"न आने वाला कल" मोहन राकेश कृत दुसरा उपन्यास है जिसमें एक संवेदनशील व्यक्ति मनोज सक्सेना के अकेलेपन का चित्रण है। उसका 'स्व' से सम्बन्ध विच्छेद हो चुका है वह अपनी वर्तमान स्थिति से स्वयं को पूर्णतः निर्वासित पाता है। स्कूल में जूनियर हिन्दी मास्टर के रूप में वह स्वयं को स्वीकार नहीं पाता, शोभा के पति के रूप में भी स्वयं को अजनबी पाता है। इस तरह उपन्यास का कथ्य वर्तमान मनुष्य की आन्तरिक स्थिति को स्पष्ट करता है।

निर्मल वर्मा कृत "वे दिन" कथ्य एवं शिल्प की दृष्टि से नवीन जीवन बोध को प्रमाणित करने वाली सशक्त औपन्यासिक कृति है। आज के युग की संवेदना, पीड़ा, अलगाव की अनुभूति, अतीत से कटकर जीने की समस्या, वर्तमान को सब-कुछ मानने की तीव्र लालसा, अजनबियों के बीच का जीवन आदि अनेक आधुनिक जीवन के आयामों का दर्शन इस उपन्यास में होता है। सभी पात्रों के माध्यम से इन परिस्थितियों से उपजे आत्म-निर्वासन को निर्मल वर्मा ने बखूबी अभिव्यक्त किया है।<sup>14</sup> निर्मल वर्मा कृत उपन्यास "लाल टीन की छत" में मानव जीवन में आ गए अकेलेपन, अलगाव, तनाव, शून्यता, आत्म-निर्वासन, ऊब, मृत्यु-संत्रास को बखूबी से स्पष्ट किया गया है। उपन्यास की नायिका काया से लेकर चाचा के बेटे बीरू तक के सभी पात्रों के अलगाव एवं एकाकीपन को नाना छवियों के साथ इस उपन्यास में स्पष्ट किया है।

अज्ञेय कृत "शेखर एक जीवनी" मनोविश्लेषणात्मक उपन्यास है। जिसमें बाल मन पर पड़ने वाले काम अहम् और भय के प्रभाव को स्पष्ट किया गया है। इस उपन्यास का नायक शेखर घोर व्यक्तिवादी एवं अहंवादी है। वह अनुभव करता है कि इस समाज में कहीं भी व्यक्ति को मुक्ति नहीं मिलती। यह व्यक्ति के अलगाव और अकेलेपन को उजागर करता है। आधुनिक मानव की समाज से विसंगति को इसमें दर्शाया गया है। अज्ञेय कृत "अपने-अपने अजनबी" नवीन कथ्य का उपन्यास है। इसमें अस्तित्ववादी जीवन दर्शन को व्याख्यायित किया गया है। हार, लाचारी, विवशता, अकेलापन, अनास्था आदि भावों को पात्रों के माध्यम से अभिव्यक्त करने में अज्ञेय जी सफल रहे हैं। उपन्यास में सेल्मा, योके द्वारा आधुनिक मानव के अकेलेपन, अलगाव और अजनबीपन को स्पष्ट किया गया है। उपन्यास में मृत्यु-संत्रास को सफल अभिव्यक्ति दी गई है, पूरे उपन्यास में मृत्यु की भीषण छाया है। अज्ञेय जी ने अपने उपन्यासों में व्यक्ति-सत्य को खोजा है तथा व्यक्ति की कुण्ठा, भय, संत्रास अलगाव का सूक्ष्म विश्लेषण किया है।

राजेन्द्र यादव कृत "उखड़े हुए लोग" उपन्यास में स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारतीय समाज की त्रासदी को उद्घाटित किया गया है। पूंजीवादी शोषण और मध्यमवर्गीय भटकाव को सशक्त अभिव्यक्ति दी गई है। स्वतन्त्रता के पश्चात् समकालीन व्यक्ति के जीवन में आए द्वन्द, कुण्ठा, बाहरी आकर्षण तथा खोखले आदर्शों का सूक्ष्म विश्लेषण इस उपन्यास में मिलता है। इसमें पुरानी रूढ़ियों की जकड़न से व्याकुल तथा नवीनता के प्रति मोह के कारण उत्पन्न अन्तर्द्वन्द को शब्द बद्ध किया गया है। जो आधुनिक व्यक्ति की अनकही व्यथा है।

नरेश मेहता कृत "यह पथ बन्धु था" उपन्यास में भारतीय स्वाधीनता संग्राम की असाधारण कहानी है। कथानायक श्रीधर बाबू एक व्यक्ति न रहकर प्रतीक है, उन सब अज्ञात छोटे-छोटे लोगों के, जो उस काल के राष्ट्रीय संघर्ष, परम्परागत निष्ठा तथा वैष्णव मूल्यों के

लिये चुपचाप होम हो गए। इसमें श्रीधर बाबू के माध्यम से आधुनिक मानव की कुण्ठा का चित्रण है, जो नैतिक एवं परम्परागत मूल्यों पर आधारित जीवन जीता है।

अतीत होते संस्कारों, नैतिक मूल्यों एवं बदलते सामाजिक प्रतिमानों के कारण श्रीधर स्वयं को अकेला अनुभव करते हैं। उनके अकेलेपन, संत्रास, दम-घोटू वातावरणजन्य वेदना को उपन्यास में अभिव्यक्त किया गया है। वास्तव में यह व्यथा अकेले श्रीधर की ही नहीं है। यह उस सारे व्यक्ति समुदाय की व्यथा है, जिसने स्वतन्त्रता से पूर्व स्वतन्त्र राम राज्य से युक्त भारत के स्वप्न देखे थे। इस प्रकार उपन्यास के विकास क्रम, स्वरूप एवं परिवर्तित होते कथ्य-शिल्प का अध्ययन करने पर हम यह समझ सकते हैं कि, उपन्यास का कलेवर एवं स्वरूप बहुत व्यापक है तथा समय की परिवर्तनशीलता के साथ-साथ उपन्यास में भी परिवर्तन हो रहा है। समकालीन उपन्यास केवल मनोरंजन का साधन नहीं है, बल्कि समकालीन समाज का प्रतिबिम्ब है, जो हमें जाने-अनजाने समाज तथा व्यक्ति के जीवन में घटित जटिल घटनाओं और समस्याओं से अवगत कराता है। साहित्य प्रारम्भ से ही व्यक्ति के मानसिक स्तर को पोषित करता आ रहा है। समकालीन उपन्यास का वर्तमान स्वरूप इस कार्य को पूरी ईमानदारी से निभा रहा है।

## संदर्भ ग्रन्थ

---

- 1 शुक्ल रामचन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास : पृ. 513
- 2 डॉ गोपाल : हिन्दी उपन्यास, समीक्षा 1977
- 3 प्रेमचन्द : साहित्य का उद्देश्य : पृ. 54
- 4 सिंघल भारत भूषण : हिन्दी उपन्यास पर पाश्चात्य प्रभाव : पृ. 32
- 5 एडवर्ड वेने बेबीट, केवल के ऑफ इंग्लिश नावेल, पृ. 20
- 6 प्रियदर्शिनी सुषमा – हिन्दी उपन्यास, पृ. 83
- 7 प्रेमचन्द : साहित्य का उद्देश्य : पृ. 54
- 8 इन्साइक्लोपीडिया ऑफ ब्रिटेनिका : भाग 7
- 9 मोहन डॉ. नरेन्द्र : आधुनिकता और समकालीन रचना संदर्भ पृ. 98
- 10 जौहरी कमल कुमार : हिन्दी के स्वच्छन्दतावादी उपन्यास पृ. 458
- 11 प्रेमचंद : कुछ विचार, पृ. 145
- 12 प्रेमचंद : कुछ विचार, पृ. 104
- 13 गुप्ता, चमन लाल : मोहन राकेश के कथा साहित्य में मानवीय सम्बन्ध, पृ. 82
- 14 डॉ. राजमल बोरा : हिन्दी उपन्यास ; प्रयोग के चरण, पृ. 207

# द्वितीय अध्याय

## द्वितीय अध्याय

### आत्म-निर्वासन का अर्थ एवं स्वरूप

आत्म-निर्वासन (Alienation) की भावना आधुनिक समाज की एक बहुचर्चित, जटिल एवं बहुमुखी अवधारणा है। इतिहास के आदि युग से लेकर प्रत्येक युग में मानव को किसी न किसी स्तर पर अलगाव-बोध से जूझना पड़ा है। इसलिए अलगाव के चिन्तन के बिना आधुनिक सामाजिक मनःस्थिति का विशिष्ट पक्ष पूर्णतः प्रकाश में नहीं आ पाता। समकालीन जीवन को विश्लेषित करने में ज्ञान के विभिन्न अनुशासनों में यह शब्द विभिन्न अर्थों में प्रस्तुत किया गया है। दर्शन शास्त्र, समाज शास्त्र, मनोविज्ञान, राजनीति, विधि तथा धर्म के क्षेत्रों में विविध संदर्भों में यह शब्द आजकल प्रयुक्त हो रहा है। स्पष्ट है कि "आत्म-निर्वासन" एक जटिल अवधारणा के रूप में आधुनिक युग की एक ऐसी समस्या बन गयी है, जिसको लेकर मार्क्सवादी और अस्तित्ववादी चिन्तन में काफी विरोध रहा है। अपने इसी विरोधी रूप में यह अवधारणा आज विश्वसाहित्य में एक बहुचर्चित विषय बन चुका है। "अलगाव" के विविध आयामों पर विचार करने के पहले इसके व्युत्पत्तिपरक अर्थ को समझ लेना उचित होगा।

#### "आत्म-निर्वासन" शब्द की व्युत्पत्ति

"आत्म-निर्वासन" शब्द अंग्रेजी भाषा में प्रयुक्त "एलियनेशन" (Alienation) का पर्याय शब्द है, जिसकी व्युत्पत्ति लैटिन भाषा के "एलियनेशियो" (Alienatio) शब्द से होती है। इस "एलियनेशियो" शब्द के वहाँ दो अर्थ थे – (1) कानूनी अर्थ और (2) चिकित्सागत अर्थ। लैटिन में "Alienatio" की धारणा द्वारा प्रस्तुत दोनों ही अर्थ हमें अंग्रेजी धारणा "एलियनेशन" में सुरक्षित मिलते हैं।<sup>1</sup> "एलियनेशियो" "एलियनेर" (Alienare) क्रिया से विकसित संज्ञा शब्द है। वस्तुतः एलियनेर (Alienare) के मूल "एलियनस" (Alienu) शब्द है, जिसका शाब्दिक अर्थ है – किसी एक की वस्तु का किसी दूसरे से सम्बद्ध होना। "एलियनस" शब्द की व्युत्पत्ति "एलियस" (Aliu) से है, जिसका अर्थ है "पराया" या "दूसरे का"<sup>2</sup> लेकिन धीरे-धीरे "एलियनेशन" शब्द के अर्थ में कई परिवर्तन होने लगे और दर्शन-शास्त्र, समाज-शास्त्र, मनोविज्ञान इत्यादि के क्षेत्र में इस शब्द को विभिन्न अर्थों में स्वीकारा गया। अतः आत्म-निर्वासन शब्द की व्याख्या करने के लिए हमें धर्म, दर्शन, समाज-शास्त्र, राजनीति, मनोविज्ञान आदि के क्षेत्रों में प्रचलित विभिन्न अर्थों पर भी विचार करना होगा।

"एलियनेशन" के लिए जर्मन भाषा में प्रयुक्त शब्द "एन्तफ्रमदंग" (Entfremdung) है। "एलियनेशन" और "एन्तफ्रमदंग" के प्रयोगों में हमारा मूलभूत तात्पर्य उस मानवीय स्थिति से है, जिसमें मनुष्य के किसी वस्तु या व्यक्ति से अलगाव या अजनबीपन का बोध निहित है।<sup>3</sup>

“एनोमी” (Anomie) और “एनोमिया” (Anomia) शब्द भी अलगाव के पर्यायवाची अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं। अंग्रेजी में अलगाव के लिए “एलियनेशन” के अलावा “एस्ट्रेन्जमेन्ट” (Estrangement) “सैपरेशन” (Seperation) ‘आईसलेशन’ (Isolation) जैसे शब्दों का प्रयोग भी प्रचलित है।

### आत्म निर्वासन : विभिन्न अर्थ एवं परिभाषाएँ –

“आत्म निर्वासन” एक जटिल अवधारणा है। इसलिए इसकी कोई सुनिश्चित एवं सर्वमान्य परिभाषा नहीं दी जा सकती। “आत्म निर्वासन” अन्य किसी भी दर्शन की भाँति एक सुनिश्चित दर्शन भी नहीं है। किन्तु यह सभी भौतिक एवं अभौतिक दर्शन की केन्द्रीय विचारधारा है। इसलिए डॉ. वैजनाथ सिंघल ने लिखा है “व्यक्ति के वैयक्तिक, सामाजिक और व्यवस्थागत जीवन के, रहन-सहन के, स्थितियों, परिस्थितियों एवं मनःस्थितियों के, चिन्तन-मनन के स्तरों पर जितनी भी तरह की क्रियाएं- प्रतिक्रियाएं, घात-प्रतिघात हो सकते हैं – उन सभी में आत्म निर्वासन-बोध किसी न किसी रूप अथवा स्तर पर विद्यमान रहता है।”<sup>4</sup> स्पष्ट है कि आत्म निर्वासन-बोध जीवन के किसी एक पहलू विशेष से सम्बद्ध भाव या विचार नहीं है बल्कि वह जीवन की समग्रता एवं संपूर्णता में निहित एवं परिचालित बोध है। आत्म निर्वासन की व्याख्या इसलिए ही अत्यन्त कठिन एवं विवादास्पद हो गयी है। इसके विभिन्न चरण एवं आयाम हैं, जो जीवन की ही भाँति जटिल एवं व्यापक हैं। आज के कतिपय दार्शनिकों, समाज-शास्त्रियों एवं मनोवैज्ञानिकों ने “आत्म-निर्वासन” का प्रयोग अकेलापन, अजनबीपन, एकाकीपन, सामाजिक सम्बन्धों में बिखराव, व्यक्ति में अलगाव, परायापन, कुण्ठा, निराशा एवं संत्रास आदि के विभिन्न संदर्भों में किया है। आत्म-निर्वासन के स्वरूप एवं विभिन्न दिशाओं से अवगत होने के लिए आत्म निर्वासन की परिभाषाओं को जान लेना उचित होगा। “आत्म-निर्वासन से मतलब भावना तथा स्नेह सम्बन्धों में उत्पन्न तनाव और “आत्म-निर्वासन से है।”<sup>5</sup> “द न्यू ऑक्सफोर्ड इल्लस्ट्रेटेड डिक्शनरी” में “अलगाव” शब्द का प्रयोग “निर्वासन”, “संपत्ति का हस्तान्तरण”, आदि के पर्यायवाची रूप में प्रयुक्त हुआ है।<sup>6</sup> “वेब्सटर सेवन्थ न्यू कोलीजियेट डिक्शनरी” में आत्म-निर्वासन का प्रयोग तीन अर्थों में हुआ है – (क) संपत्ति का किसी दूसरे को हस्तान्तरण (ख) व्यक्ति का अपने आपसे तथा अपने स्नेह-सम्बन्धों से निर्वासन (ग) मानसिक अस्त-व्यस्तता।<sup>7</sup> “द शोर्टर ऑक्सफोर्ड इंग्लिश डिक्शनरी” में “एलियनेशन” शब्द का प्रयोग चार संदर्भों में प्रयुक्त हुआ है – (1) निर्वासन की स्थिति (2) संपत्ति या वसीयत को किसी दूसरे को सौंप देना (3) अपने आपको अकेला अनुभव करने की स्थिति (4) मानसिक अस्त-व्यस्तता की स्थिति।<sup>8</sup> “कोन्टिनेन्टल इंग्लिश डिक्शनरी” में “एलियनेशन” से तात्पर्य है – हटाना, संपत्ति से अलग करना।<sup>9</sup> “वेब्सटर थर्ड न्यू इन्टरनेशनल डिक्शनरी” में “आत्म-निर्वासन” का प्रयोग दो अर्थों में हुआ है – (क) अलगाव के कार्य के रूप में सम्पत्ति या वसीयत को उचित दावेदार के



बदले अन्य को या फिर स्नेह भेद या स्नेह की समाप्ति के अर्थ में इसे ग्रहण किया गया था। (ख) दूसरे अर्थ में अलगाव से अभिप्राय अपने आपको अकेला अनुभव करने की स्थिति, सामान्य कार्य से हटाये जाने और मुख्यतः मानसिक अस्त-व्यस्तता से है।<sup>10</sup> “आत्म-निर्वासन एक ऐसा शब्द है, जिसका दर्शन, अध्यात्म-शास्त्र, मनोविज्ञान और समाज विज्ञानों में भिन्न अर्थों में प्रयोग हुआ है, जिनमें वैयक्तिक सामर्थ्यहीनता, अर्धशून्यता, सिद्धान्तहीनता, सांस्कृतिक अवसाद, सामाजिक कटाव और वैयक्तिक अवसाद पर बल दिया गया है।”<sup>11</sup> “द न्यू एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका” में आत्म-निर्वासन शब्द का प्रयोग “शक्तिहीनता या असामर्थ्य, निरर्थकता एवं अर्थहीनता, मूल्यहीनता की स्थिति, सांस्कृतिक विरक्तता, सामाजिक पृथक्करण, आत्म-निर्वासन आदि भावों के लिए प्रयुक्त किया गया है।”<sup>12</sup> “आधुनिक युग में आत्म-निर्वासन की धारणा बहुत देर तक मनुष्य या उसके आंतरिक स्वभाव या प्रकृति से जुड़ी नहीं रह पायी है, अपितु यह विशिष्ट ऐतिहासिक विश्व में अलगावयुक्त श्रम के रूप में उपस्थित हुई है।”<sup>13</sup> “अलगाव जिस भाव को अभिव्यक्ति देता है, उसे इस प्रकार व्याख्यायित किया जा सकता है, कि व्यक्ति अपने द्वारा उत्पादित बौद्धिक या कलात्मक पदार्थ के प्रति एक क्षणिक भावना को अनुभव करता है। वह पदार्थ से भावात्मक रूप से जुड़ा होता है। परन्तु जो भी पदार्थ वह उत्पादित करता है, बहुत शीघ्र ही उससे विलग दिखाई देता है और उसके सामने वह पदार्थ बड़े ही विलग एवं विरक्त माध्यम से उपस्थित होता है। इसमें सबसे अधिक भूमिका उस तथ्य की है, जिसके कारण व्यक्ति अपने आपको उस तथ्य से बहुत दूर अनुभव करने लगता है। इस तथ्य का अनुभव करना निश्चित रूप से आत्म-निर्वासन का अनुभव करना है।”<sup>14</sup> आज के कतिपय दार्शनिकों, समाज-शास्त्रियों एवं मनोवज्ञानिकों ने “अलगाव” शब्द का प्रयोग अकेलापन, अजनबीपन एवं सामाजिक संबंधों में बिखराव से जोड़कर अलगाव की परिभाषा दी है। ‘कोई व्यक्ति आत्म-निर्वासन से ग्रस्त है,— “इसका मतलब यह दावा करना है कि किसी अन्य वस्तु से उसके सम्बन्धों में कुछ ऐसे पहलू उभर आए हैं जिनकी परिणति अपरिहार्यतः अशान्ति और असन्तोष में होती है।”<sup>15</sup> “आत्म-निर्वासन से संकेत उस भावात्मक स्वर से है, जिसमें ऐसा व्यवहार समाहित रहता है कि व्यक्ति आत्म-घातक रूप में कार्य करने को प्रेरित हो जाता है।”<sup>16</sup> “आत्म-निर्वासन के अधिकांश प्रयोगों के मूल में यह धारणा निहित है कि किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध या सहभाव जो पहले कभी रहा है, जो सम्बन्ध प्राकृतिक, वांछित और सदाशयी सम्बन्धी था, वह अब समाप्त हो गया है।”<sup>17</sup> आधुनिक समाज में आत्म-निर्वासन के चिन्तन की प्रासंगिकता स्पष्ट करते हुए “द सेन सोसाइटी” में एरिक फ्रॉम ने लिखा है — “मैंने आत्म-निर्वासन की अवधारणा को इसलिए केन्द्रीय रूप से चुना है ताकि इसके आधार पर चलकर मैं समसामयिक सामाजिक स्वरूप का विश्लेषण कर सकूँ।”<sup>18</sup> “द सेन सोसाइटी” में ही उन्होंने अलगाव को इस रूप में स्पष्ट किया है कि “अलगाव से अभिप्राय अनुभूति की उस प्रक्रिया से है जिसमें व्यक्ति अपने आपको विरक्त अनुभव करता है। वह स्वयं को अपने “स्व”

का संचालक नहीं समझता और स्वयं को अपने कार्यों का करने वाला नहीं मानता.... वह अपने साथियों से और स्वयं से कटा हुआ, अजनबी बना हुआ रहने पर बाध्य है।<sup>19</sup> फ्रॉम के अनुसार ऐसी स्थिति में अलगाव—पूर्ण व्यक्ति आधार—रहित, मूल्य—रहित एवं व्यक्तित्वहीन है। वह न तो उत्पादनशील है और न ही दूसरों से सम्बन्धित।

इसी सन्दर्भ में रायमंड विलियम का कहना है कि “सबसे महत्वपूर्ण अर्थ में अलगाव एक ऐसी अवस्था है, जो कि एक तोड़ने वाली ऐतिहासिक विधि के माध्यम से पैदा हुई है।”<sup>20</sup> “अलगाव व्यापक संसार, दूसरों एवं स्वयं से विलग होने की वैयक्तिक स्थिति या भावना है।”<sup>21</sup> “अलगाव एक ऐसी आंतरिक धारणा के रूप में जानी जाती है, जिसमें व्यक्ति का अस्तित्व अपने ही स्वत्व से अलगाव—युक्त हो जाता है। व्यक्ति व्यक्ति नहीं रहा, वह भीड़ में अकेला है या फिर औद्योगिक व्यवस्था में एक मशीनी पुर्जा।”<sup>22</sup> “अलगाव एक मानसिक स्थिति है, जो वर्तमान सामाजिक व्यवस्था को दूरस्थ, अबोधगम्य एवं छलपूर्ण मानती है। वह वास्तविक इच्छा या आशा से विलग है। इसमें भावशून्यता, निरर्थकता एवं विरोधाभास के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।”<sup>23</sup> “अलगाव—ग्रस्त व्यक्ति वह है जो अपने समाज एवं समाज की सभ्यता के प्रति अजनबी या मित्र—भाव शून्य बना दिया जाता है।”<sup>24</sup> इस तरह पश्चिम के अनेकानेक विद्वानों ने अपने चिन्तन की केन्द्रीय समस्या के रूप में अलगाव को स्थान दिया है।

हिन्दी के अनेक विद्वानों ने आत्म—निर्वासन को अपने—अपने तरीके से परिभाषित किया है। “एलियनेशन” के पर्याय रूप में हिन्दी में कई शब्द प्रयुक्त हुए हैं, जैसे — परायापन, आत्म—निर्वासन, विलगाव, स्वत्व—अन्तरण, स्वत्व से विलयन, एकाकीपन, अकेलापन, बेगानापन, वीरानापन, उखड़ापन, विदेशीपन, अजनबीपन, कटाव, वियुक्ति, विरक्ति, विमुखता, उदासीनता, पार्थक्य इत्यादि, किन्तु ये सभी शब्द आत्म—निर्वासन प्रक्रिया के विविध चरणों के ही सूचक हैं हिन्दी के अनेक गणमान्य लेखकों एवं आलोचकों ने एलियनेशन के पर्याय शब्द के रूप में “आत्म—निर्वासन” शब्द को ही चुन लिया है। मानक हिन्दी कोश में “आत्म—निर्वासन” शब्द का अर्थ — “अलग होने की व्यवस्था, क्रिया या भाव”<sup>25</sup>— जैसे दिया गया है। हिन्दी शब्द सागर के अनुसार — अलगाव (अलग भाव) का अर्थ है पृथक्करण, अलग रहने का भाव, विलगाव।<sup>26</sup> नालन्दा विशाल शब्द सागर में “अलगाव” शब्द का अर्थ—पृथकता, जुदाई, भिन्नता जैसे दिया गया है।<sup>27</sup> ज्ञान शब्द कोश में “अलगाव” शब्द का अर्थ “अलग करने वाला, जो अलग करने के पक्ष में हो” जैसा दिया गया है।<sup>28</sup>

हिन्दी के प्रमुख आलोचक डॉ. रमेशकुन्तल मेघ ने “परायापन” को “एलियनेशन” के समानार्थी शब्द के रूप में स्वीकारते हुए लिखा है — “आजकल परायापन (एलियनेशन) हीगेलीय के बजाय मार्क्सिय तथा अस्तित्ववादी संदर्भों में ग्रहण किया जाता है। इसके दो तात्पर्य हैं (1) निर्वासन (एस्ट्रेंजमेंट) तथा (2) पदार्थीकरण (रिड्रिफिकेशन) पहली एक सामाजिक — मनोवैज्ञानिक स्थिति है, जिसमें व्यक्ति अपने समाज या समूह या संप्रदाय से दूरी, अलगाव या अपनेपन के

ह्रास का अनुभव करता है। दूसरी स्थिति दार्शनिक है, जिसमें व्यक्ति एक पदार्थ या वस्तु हो जाता है तथा अपनी निजता खो बैठता है। इसे निर्वैयक्तिकरण भी कह सकते हैं। अतः निर्वासन और निर्वैयक्तिकरण (या पदार्थीकरण) को हम परायेपन में अनुस्यूत कर रहे हैं।<sup>29</sup> डॉ. रमेशकुन्तल मेघ ने “परायेपन” को “आधुनिकता” से जोड़कर कहा है कि “आधुनिकीकरण के प्रभाव के फलस्वरूप मनुष्य में कुछ ऐसे परिवर्तन हुए जो “आत्मपरायेपन” (सेल्फ-एलियनेशन) के नाम में शापित हुए हैं।<sup>30</sup> इस आत्म परायेपन की दो कठोर शिलाएँ हैं – संवेदनशून्यता (एपैथी) तथा निस्संगता (इंडिफरेंस)<sup>31</sup>” आत्म-निर्वासन जीवन के भीतर और बाहर व्यक्ति के भौतिक और मानसिक जीवन की आक्रान्ता एक ऐसी स्थिति एवं विचार है जिससे सतत् टकराहट में ही व्यक्ति, जीवन को कभी ढोता प्रतीत होता है तो कभी जीवन जीता प्रतीत होता है।<sup>32</sup> “संत्रास एकान्त भय की स्थिति है, सुन्न हो जाने की स्थिति है, निपट अकेलापन की स्थिति है, अर्थात् ऐसा अकेलापन जहाँ आदमी भीड़ में होने पर भी अकेला है।<sup>33</sup> “समाज की उलझनों के बीच सबसे बड़ी दारुण स्थिति परस्पर सम्बन्धों में पड़ने वाली गाँठ हैं, एक अलगाव, एक अजनबीपन, एक ऐसी स्थिति जहाँ मनुष्य न सिर्फ समाज से काट दिया जाता है, बल्कि स्वयं से कटने के लिए भी विवश हो जाता है।<sup>34</sup> वास्तव में “जब मनुष्य अपनी व्यवस्था में पिसकर अपना निजत्व खो बैठे और सामाजिक संदर्भों से कटकर प्रयोजनहीनता एवं पदार्थीकरण का एहसास करने लगे तो परायेपन का बोध भी अवश्यंभावी हो उठता है।<sup>35</sup> प्रकाश दीक्षित ने अलगाव – बोध की स्थिति को आत्म-परायेपन की स्थिति मानते हुए लिखा है “विसंगतियों में घिरी हुई मनुष्य की स्वतन्त्रकामी चेतना वातावरण और परिवेश के प्रति अपने आपको अजनबी पाती है और निर्वासित अनुभव करती है। इस बोध को अस्तित्ववादियों ने आत्मपरायेपन का बोध कहा है।<sup>36</sup> “अलगाव का प्रश्न उस समय उपस्थित होता है जब व्यक्ति समाज में अपने को बेगाना और अजनबी अनुभव करने लगता है या यों कहिए कि विश्वास और आस्था के सारे संसार छूट जाते हैं ...।<sup>37</sup> “संक्षेप में “एलियनेशन” या आत्म-निर्वासन का अर्थ हुआ : अकेलापन। ऐसे व्यक्ति मानों एक अनजानी भीड़ में जीने को विवश है, जो इनसे बाहर-बाहर की वस्तु है।<sup>38</sup> “निजी रिश्तों और परिवार के विघटन ने हर आदमी को अपने भाग्य का निर्णय करने के लिए बेसहारा और तन्हा छोड़ दिया है.... वैयक्तिक रिश्तों और संयुक्त जीवन के विघटन के कारण मनुष्य एक ऐसी स्थिति से गुजर रहा है जिसे कई नाम दिए गए हैं – एकाकीपन, अजनबीपन, अवैयक्तिक अलगाव और “एलियनेशन”।<sup>39</sup> “अकेलापन, सामाजिक अलगाव और एकान्तवास पृथक-पृथक अर्थ ढोते शब्द हैं। सामाजिक अलगाव परिवार और समुदाय से कटाव है। यद्यपि अकेला व्यक्ति सामान्यतया सामाजिक अलगाव या परिवेश से कटने की शिकायत करता है, लेकिन समाज से कटा व्यक्ति सदैव अकेलेपन की शिकायत नहीं करता और कम से कम सामाजिक सम्पर्कों से सन्तुष्ट रहता है। आज के महानगरों में व्यक्ति निजी सीमाओं में बन्द अकेलेपन को भोगते हैं। नगर में इस अकेलेपन के

कारण मृत्युबोध उभरता है।<sup>40</sup> “सामाजिक तथा राजनीतिक परिवर्तनों के वात्याचक्र में जब व्यक्ति अपनी सुरक्षा खो देता है और स्वयं महसूस करता है कि अपनी जड़ें नष्ट होती जा रही हैं। तब वह बेहद त्रास, निराशा और अकेलेपन से आक्रान्त हो जाता है। उसके संपूर्ण व्यक्तित्व में एक नैतिक उदासी छा जाती है। इस विशेष भयावह मानसिक भाव को अलगाव-बोध (Alienation) कहा जाता है।<sup>41</sup> “प्रकृति और बाहरी दुनिया को एक अनोखी दृष्टि से मानव देखने लगता है। उनके प्रति सोचने तथा उन पर प्रभाव डालने के लिए वह एक नया रूख अपनाने लगता है – उनको अपरिचय की दृष्टि से निरीक्षण करता है। अलगाव-बोध का प्रथम स्वरूप यही अपरिचयपूर्ण निरीक्षण है।<sup>42</sup> “अलगाव वह मानसिक अवस्था है जबकि मानव अपनी “स्वाभाविक” और प्राकृत दशा खो देता है तथा अपने से जुड़े हुए सारे कार्यों से अपने को पराया, और निर्वासित महसूस करने लगता है।<sup>43</sup> “मानव प्रकृति या समाज का अंग अवश्य है, परन्तु हम प्रकृति या समाज से स्वयं को अलग करने की क्षमता अर्जित कर सकते हैं। यह पृथक्करण ही “अलगाव” (Alienation) कहा जा सकता है।<sup>44</sup> उनके अनुसार आधुनिक राजनैतिक जीवन के संदर्भ में अलगाव का एक विशेष आयाम अनुभूत हो सकता है। मानव के द्वारा निर्वाचित शासकों तथा नेताओं के द्वारा अथवा मानव द्वारा ही बनाये नियमों से जब मनुष्य दासता के गर्त में डाल दिया जाता है, तब वह हालत अलगाव के एक नये आयाम की ओर इंगित करता है।<sup>45</sup> “इतिहास के किसी भी अन्य युग की अपेक्षा आज का मानव अधिकाधिक आत्मनिर्वासित महसूस करने लगा है। आज के मानव की सबसे जीवन्त समस्या यही आत्मनिर्वासन है।<sup>46</sup> अलगाव-बोध के मूलभूत कारणों में मशीनीकरण, शहरीकरण औद्योगिकीकरण एवं शोषण आदि आते हैं। मशीनी सभ्यता से उभरी हुई अमानवीय भूमिका निश्चय ही अलगावबोध को गहराने वाला मुख्य तत्व है। उपर्युक्त प्रेरणाओं से आधुनिक साहित्य का संक्रमित होना नितान्त स्वाभाविक है।<sup>47</sup> डॉ. तरकन के मत में – “आधुनिक साहित्य चिन्तन में चर्चित आधुनिकताबोध की मूलभूमि के रूप में व्यक्ति मानव का अलगाव बोध तथा तजन्म संत्रास स्वीकारा गया है।<sup>48</sup>

निष्कर्ष: “आत्म-निर्वासन” को जिस रूप में परिभाषित किया है। उससे यह बात स्पष्ट है कि “आत्म-निर्वासन” अत्यधिक आधुनिक, जटिल एवं विवादास्पद विषय है। इसलिए इसकी परिभाषा देने में विद्वान लोग कभी एकमत नहीं होते हैं। मगर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि अलगाव की व्याख्या में मिलने वाली भिन्नता वास्तव में स्थितियों एवं संदर्भों की भिन्नता है। इससे यही प्रमाणित होता है कि “विविध स्तरीय अलगाव-विवेचना में लक्षित भिन्नता, वास्तव में स्थितियों और संदर्भों की भिन्नता है, जबकि सभी प्रकार की विवेचना में अलगाव मूर्त, अमूर्त स्तरों पर व्यक्ति के किसी न किसी रूप में कटाव, अथवा अलग होने या रहने की बाध्यता को ही दर्शाता है।<sup>49</sup> कुछ विद्वानों ने आत्म-निर्वासन की कोई निश्चित परिभाषा न देकर उसे अकेलापन, अजनबीपन, अलगाव, संत्रास, मृत्यु-बोध आदि स्थितियों से जोड़ा है। कुछ विद्वानों

ने इस शब्द का प्रयोग अत्यन्त व्यापक अर्थ में किया है। आत्म-निर्वासन की जो परिभाषाएँ ऊपर दी गई हैं, उन्हीं के आधार पर आत्म-निर्वासन के विविध आयामों को निम्न प्रकार से देखा जा सकता है –

1. आत्म-निर्वासन की परिणति मुख्य रूप से अशान्ति और असन्तोष में होती है।
2. आत्म-निर्वासन, सामाजिक पृथक्करण, अकेलापन, अजनबीपन, संत्रास, सांस्कृतिक विरक्तता, मूल्यहीनता की स्थिति, निरर्थकता एवं शक्तिहीनता का बोध विभिन्न स्थितियों में अभिव्यक्त होता है।
3. आत्म-निर्वासन के कारण तनाव, ऊब, उदासीनता, घुटन एवं टूटन का बोध होता है।
4. आत्म-निर्वासन की अनुभूमि के कारण व्यक्ति अपने आप को विरक्त या उदासीन अनुभव करता है।
5. आत्म-निर्वासन की स्थिति में व्यक्ति स्वयं अपने “स्व” का संचालक नहीं होता और उसे अपने कार्यों पर नियन्त्रण भी नहीं रहता।
6. आत्म-निर्वासन ग्रस्त व्यक्ति अपने आप तक सीमित एवं आत्म-केन्द्रित हो जाता है।
7. आत्म-निर्वासन बोध से पीड़ित व्यक्ति बहुत असुरक्षित, आंतकित एवं डरा हुआ दिखायी पड़ता है।
8. आत्म-निर्वासन बोध के कारण मृत्यु-बोध भी उभरता है।
9. आत्म-निर्वासन की स्थिति में व्यक्ति की अपनी अस्मिता (Identity) खो जाती है और वह मानसिक रूप से विक्षिप्त, खंडित, विघटित, बहुत थका-हारा एवं टूटा हुआ हो जाता है।
10. अपने चारों ओर के परिवेश से अजनबी होने के कारण अलगाव ग्रस्त व्यक्ति भीड़ में भी अकेलापन महसूस करता है। उसे जीवन निरर्थक-सा लगता है और ऐसी स्थिति में उसे मृत्यु-बोध का भी सामना करना पड़ता है।

### **आत्म-निर्वासन सम्बन्धी चिन्तन का विकास-क्रम**

इसमें संदेह नहीं कि ज्ञान-चिन्तन के सुदूर अतीत में ही “अलगाव” शब्द का प्रयोग होता आया है। अलगाव-चिन्तन के विकास के प्रारम्भिक चरण में इसका प्रयोग तीन अर्थों एवं संदर्भों में किया गया है –

- (क) विधि के क्षेत्र में – इस रूप में अलगाव सम्पत्ति अथवा किसी प्रकार के स्वामित्व के हस्तान्तरण या विक्रय के पर्यायवाची रूप में प्रयुक्त हुआ है।
- (ख) मनःचिकित्सा के क्षेत्र में – इस रूप में अलगाव का प्रयोग मानसिक विकृति (Dementi) अथवा मानसिक रूग्णता (Insania) के रूप में हुआ है।

(ग) सामाजिक क्षेत्र में – इस संदर्भ में अलगाव कटाव (Disjunction) या उदासीनता (Avertio) के पर्यायवाची रूपों में – व्यक्ति के अन्य व्यक्तियों, अपने देश या देवी-देवताओं से पृथकता या अजनबीपन के अर्थों में प्रयुक्त हुआ है।<sup>50</sup>

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि “आज दार्शनिकों, मनोवैज्ञानिकों और समाजशास्त्रियों द्वारा आत्म-निर्वासन शब्द का प्रयोग आत्मविश्वास खोने, सामाजिक संबंधों के बिखराव, एकाकीपन, अर्थशून्यता, चिन्तित अवस्था, परायापन, निराशा, अविश्वास आदि के संदर्भ में किया जाता है।”<sup>51</sup> यह शब्द ऐसा है जो कई अर्थों को ध्वनित करता है। सामान्य अर्थों में इसे अपने से या इस संसार से कट जाने के अर्थ में लिया जाता है, पर इसका विशिष्ट और सूक्ष्म अर्थ परम्परागत सांस्कृतिक ढाँचे में उत्पन्न गतिरोध से है। प्रौद्योगिक, धर्मनिरपेक्ष और वस्तुपरक समाज व्यक्ति के जीवन में खालीपन उभारता है। इसमें व्यक्ति की अस्मिता खो जाती है और व्यक्ति अपने को एक इकाई के रूप में नहीं अनुभव कर पाता तथा कई शक्तियाँ विपरीत दिशाओं में कार्य करने लगती हैं। जो कुछ घटित होता है उस पर चाहकर भी नियंत्रण नहीं हो पाता। अजनबीपन की स्थिति में व्यक्ति जितना दूसरे व्यक्तियों और वस्तुओं से दूर होता है उतना स्वयं अपने से भी दूर होता है। वस्तुतः अजनबीपन की भावना में दार्शनिक स्तर की पीड़ा है जिसमें व्यक्ति को चोट लगती है कि आखिर वह समाज से अलग क्यों है? इसके साथ विषाद और उदासी की भावना घुली-मिली रहती है। आधुनिक मनुष्य प्रकृति, ईश्वर और समाज से कट गया है। सम्भवतः यह संसार के इतिहास में पहली बार हुआ है जब मनुष्य स्वयं अपने लिये समस्या बन गया है। आज का मनुष्य एक तरफ दूसरे ग्रहों पर अपना निवास बनाना चाहता है और दूसरी तरफ उसका अपने संसार से संबंध टूट रहा है। मनुष्य दिन प्रतिदिन इस विश्व के रहस्यों को उद्घाटित करने में लीन है। नियमतः इस प्रक्रिया में उसे इस दुनिया से और जुड़ना चाहिये किन्तु इसके ठीक विपरीत घटित हो रहा है। सामान्य अर्थों में मनुष्य पूरे विश्व से परिचित है पर दूसरी तरफ वह अपने पड़ोसी से भी अपरिचित है।

वर्तमान काल में विज्ञान और प्रौद्योगिकी के द्रुत प्रसार से गाँव और शहर के पारम्परिक ढाँचे में जबर्दस्त बदलाव आया है। वैज्ञानिक सभ्यता के गहरे संघात के फलस्वरूप नये-नये सम्बन्ध विकसित हुए। इन नवविकसित सम्बन्धों से मनुष्य सही अर्थों में नहीं जुड़ पाया। पारम्परिक रिश्तों से जड़ उखड़ने से पुराने किस्म के सम्बन्ध अर्थहीन हो गये और मनुष्य निराधार हो गया। मशीनीकरण, वस्तुपरकता, आपसी प्रतिस्पर्द्धा और भीषण भाग दौड़ से यह संसार आकृतिविहीन हो गया है। इस निराकार संसार से मनुष्य किसी प्रकार का रागात्मक सम्बन्ध विकसित नहीं कर पाता। इस असमर्थता से अजनबीपन का बोध पनपता है। आत्म-निर्वासन मूलतः एक सामाजिक-मनोवैज्ञानिक अवस्था है जिसके अंतर्गत मनुष्य अनुभव करता है कि वह समाज से बहिष्कृत व उपेक्षित है तथा वह समाज, सामाजिक नियमों-उपनियमों व परम्पराओं को प्रभावित करने में नितान्त असमर्थ है। विद्वान सीमन ने

“आन द मीनिंग ऑव एलिएनेशन” नामक अपने एक लेख में लिखा है कि अजनबीपन के मूल में असमर्थता व विवशता की भावना है जिससे क्रमशः सामाजिक जीवन की अर्थहीनता व आदर्शहीनता उजागर होती है और मूल्यगत खोखलेपन का अनुभव होता है जो धीरे-धीरे सामाजिक जीवन को उदासीनता और अलगाव में बदलकर मनुष्य के जीवन को एकाकीपन और अजनबीपन की भावना से भर देता है। इस तरह सब मिलाकर जीवनगत असमर्थता, विवशता, अर्थहीनता, आदर्शहीनता, मूल्यगत खोखलापन, अलगाव, अकेलापन, परायापन और आत्मनिर्वासन की अनुभूति अजनबीपन की भावना के मूल प्रेरक तत्व हैं। “आजकल अजनबीपन शब्द अपने सामान्य ढीले-ढाले और अनिश्चित अर्थों में प्रयुक्त हो रहा है। विभिन्न संदर्भों में इसका भिन्न-भिन्न अर्थ किया जाता है। विद्वानों का मत है कि इसके बढ़े-चढ़े अर्थों के पीछे सामाजशास्त्रीय कारण है। इस समय अजनबीपन का तात्पर्य पूंजीवाद के मानव व्यक्तित्व पर पड़े जटिल प्रभावों के योग से उत्पन्न एक विशेष प्रकार के अनुभव की दशा से है जिसमें व्यक्ति अपने आपको इस दुनिया में और अपने जीवन में एक अजनबी अनुभव करता है।”<sup>52</sup>

ईसाइयों के अधिकांश धार्मिक साहित्य में अजनबीपन की भावना छिपी मिलती है। धर्म की सतत् धारणा के पीछे मानव में मानवता की अपूर्णता है। प्रायः यह तेजी से महसूस किया जाता है कि वर्तमान समाज में मानवीय आकांक्षा की अतृप्ति का तथ्य सही और वास्तविक है। धार्मिक विचार पूर्णतावादी होते हैं। उसका सामान्य मौलिक सिद्धान्त मनुष्य की आकांक्षाओं की तृप्ति से है जो सर्वशक्तिमान ईश्वर के अनुग्रह से सम्पन्न होता है। आकांक्षाओं की तृप्ति या मनुष्य की संपूर्णता – ये सामान्य धार्मिक सिद्धान्त हैं जबकि अतीत में या आज के समाज के नियम-कानून ऐसे हैं जो हमेशा व्यक्ति को इससे दूर रखते हैं या रखने की कोशिश करते हैं। “धर्म इस मूल कठिनाई को दूर करने के लिये स्वर्ग या परलोक की कल्पना विकसित करता है जहाँ इस दुनिया की सारी सुख-सुविधायें उपलब्ध हैं। मनुष्य वर्तमान जीवन की कमियों की पूर्ति स्वर्ग या परलोक की कल्पना में करता है। इसी कल्पना में अजनबीपन के बीज निहित हैं।”<sup>53</sup> धर्म ने मानवीय दशाओं के भीतर के असन्तोष को अजनबीपन की समस्या के रूप में रेखांकित करके महत्वपूर्ण कार्य किया यद्यपि इसका समुचित हल वह नहीं पेश कर सका और जो हल प्रस्तुत किया उसमें पलायन का स्वर प्रमुख है जिससे अजनबीपन का बोध और गहराता है। कोई व्यक्ति अजनबी इसलिये है क्योंकि वह सत्य के लिये आरूढ़ है, चीजों को गहराई से देखता है तथा चरम सत्य का साक्षात्कार करना चाहता है।<sup>54</sup>

अतिरिक्त संवेदनशील व्यक्ति के अन्दर अजनबीपन की भावना तेजी से पनपती है। दूसरे लोगों के उत्साह, प्रसन्नता और जोश से वह तादात्म्य स्थापित नहीं कर पाता। इस दुनिया के मूल्यों, आदर्शों तथा परम्पराओं से अपने को न जोड़ पाने से मनुष्य अपने को इस संसार में अजनबी पाता है और दूसरे संसार का रंगीन सपना देखता है। चूंकि वह स्वप्न दृष्ट होता है इसलिये जीवन में सक्रिय नहीं हो पाता। ऐसे अजनबी व्यक्ति को कॉलिन विल्सन ने

रोमांटिक आउटसाइडर कहा है। “दूसरों की हँसी, खिलखिलाहट अजनबी व्यक्ति के मन में यह भावना उत्पन्न करती है कि वह इनसे भिन्न है और इसी आंतरिक तनाव के चलते वह प्रतिदिन शाम को यहाँ से वहाँ मीलों का चक्कर काटता रह जाता है कि शायद कहीं उसे कोई सकून मिल जाये।”<sup>55</sup> इस प्रकार अजनबीव्यक्ति वह है जो अपने अस्तित्व से भी अपरिचित है। अतिशय बौद्धिकता के कारण वह दूसरे को अपने से अलग पाता है तथा पारम्परिक मूल्यों को विनष्ट कर डालता है क्योंकि इसमें उसका अपना विश्वास नहीं होता। पर इनके स्थानापन्न के रूप में नये मूल्यों को विकसित न कर सकने के कारण वह अपने को ठीक तरह से अभिव्यक्त नहीं कर पाता। कॉलिन विल्सन की मान्यता है कि अजनबी व्यक्ति ज्यादा तीव्र प्रतिभा की तुलना में अत्यन्त उच्चस्तर की भावप्रवण संवेदना रखता है। इसी से वे कहते हैं कि कोई व्यक्ति अजनबी व्यक्ति की समस्याओं को पूर्णतया हल नहीं कर सकता। अजनबी व्यक्ति निश्चित नहीं कर पाता कि वह कौन है? उसकी सबसे बड़ी समस्या उस रास्ते की खोज होती है जिसके द्वारा वह अपनी खोई हुई अस्मिता प्राप्त करेगा। इसी क्रम में कॉलिन विल्सन नीत्शे के “ज्वायफुल विजडम” का उद्धरण देते हैं जो अजनबी व्यक्ति की मानसिक बनावट पर पर्याप्त प्रकाश डालता है।

“यह जीवन किसलिये है? मरने के लिये? आत्महत्या करने के लिये? नहीं मैं डरता हूँ। तब क्या मुझे तब तक प्रतीक्षा करनी चाहिये जब तक मृत्यु स्वयं नहीं आ जाती? मैं इससे भी ज्यादा भयभीत हूँ। तब मुझे जरूर जीना चाहिये। लेकिन किसलिये? क्या मरने के क्रम में? और मुझे इस चक्र से छुटकारा नहीं मिल सकता है। मैं पुस्तक लेता हूँ पढ़ता हूँ और क्षण भर के लिये स्वयं को भूल जाता हूँ लेकिन फिर वही प्रश्न और वही आतंक सामने आ जाता है। मैं लेट जाता हूँ और आँखे बन्द कर लेता हूँ इसके बाद भी यह सबसे बुरी स्थिति है।”<sup>56</sup> अतः कह सकते हैं कि आत्म-निर्वासन की स्थिति में व्यक्ति आत्मविश्वास खो देता है। आत्म विश्वास खोने के कारण जीवन स्वयं में उसके लिये समस्या बन जाता है। उसके मानसिक तनाव और बेचैनी के पीछे ‘मानव जीवन की अनिश्चितता का वस्तुपरक कारण’ उसकी संवेदना में मौजूद है। उसकी रुचि ‘अत्यधिक बड़े दबावों’ और ‘तेज गति’ में होती है। वस्तुतः अजनबी व्यक्ति इस दुनिया में अजनबी होना नहीं चाहता, वह चाहता है कि वह एक स्वच्छ संतुलित विचारों वाला आदमी बने। वह ‘सांसारिक तुच्छता’ से हमेशा के लिये ऊपर उठकर जीने की दृढ़ इच्छा के अधीन रहना चाहता है। पर ऐसा वह कर नहीं पाता। वह वस्तुतः धर्म का निषेध नहीं करता, अपितु धर्म उसके आगे इतना दयनीय हो जाता है कि वह उसे स्वीकार नहीं कर पाता। अजनबी व्यक्ति होने का मतलब है कि वह उस योग्य हो सके कि इस दुनिया की सड़ाँध और विभ्रमों का अनुभव कर सके। आत्म-निर्वासन की समस्या इस संसार को देखने की एक दृष्टि देती है जिसे निराशावादी कहा जा सकता है। पर यह निराशावाद वैध और उचित नहीं है तथा इसी के चलते अजनबी व्यक्ति व्यावहारिकता या व्यावसायिकता जैसे गुणों को अपने में विकसित



करने से इन्कार कर देता है जो आज की हमारी जटिल सभ्यता में जीने के लिये जरूरी है। वर्तमान समाज में व्यक्ति के अजनबी होने का रास्ता यही है। उसका दुर्भाग्य इस बात में छिपा रहता है कि वह अपने लिये नया विश्वास और नई आस्था बटोरने में असमर्थ रहता है। वह इन्द्रिय ज्ञान को पूर्ण सजीवता में प्राप्त करना चाहता है। इन सब के ऊपर वह यह जानना पसन्द करता है कि कैसे वह स्वयं को अभिव्यक्त करे क्योंकि वे सब साधन हैं जिसके द्वारा वह स्वयं की जानकारी और अनजानी संभावनाओं का संकेत पाता है।

### (क) आत्म-निर्वासन का पाश्चात्य स्वरूप —

आत्म-निर्वासन के बारे में पाश्चात्य विद्वानों ने भी अपने विचार प्रस्तुत किये हैं, जिनमें रूसो, स्टेफोन, मोरास्की, हिगेल, मार्क्स आदि प्रमुख रूप से है। रूसो के भावनात्मक निराशावाद और प्रकृति की ओर लौट चलने की अपील में अजनबीपन की स्थिति को देखा जा सकता है। रूसो के लिये अजनबीपन मूल रूप में मनुष्य का प्रकृति से अलगाव है। एक ओर आदर्श के रूप में स्थित प्रकृति है और दूसरी ओर कृत्रिम वास्तविकता इन्हीं दो स्तरों के बीच उत्पन्न हुआ अवरोध अजनबीपन है। इस प्रकार रूसो के अनुसार सभ्यता अजनबीपन के मूल में है। 1750 ई. में प्रकाशित “विज्ञान एवं ललित कलाओं का नैतिक प्रभाव” शीर्षक के लम्बे निबन्ध में वह कहते हैं कि जिस प्रकार कला एवं विज्ञान ने उन्नति की है, हमारे मस्तिष्क भी उसी अनुपात में दूषित हो गये हैं। रूसो का विचार था कि सभ्यता का बढ़ता दबाव मनुष्य को अपने सहज नैसर्गिक स्वभाव से दूर हटाकर उसके सामाजिक सभ्य आचरण और प्राकृतिक स्वाभाविक व्यवहार में दरार उत्पन्न करता है। इस तरह सभ्य समाज का तंत्र मनुष्य की अस्मिता खंडित और विकृत कर मनुष्य को इस दुनिया में अजनबी बना देता है। इस विचारधारा का अगला चरण फ्रॉयड (1856-1937) की ‘सिविलाइजेशन एण्ड इट्स डिसकांटेन्ट्स’, ‘द प्यूचर ऑव एन इल्यूजन’ आदि रचनाओं में व्यक्त यौन केन्द्रित मनोवैज्ञानिक विचारों में दिखता है जिसके अनुसार सभ्यता, सामाजिक परम्पराओं और नैतिकता के प्रचलित प्रतिमानों के अंकुश और दबाव से तथा रति-भाव (लिबडो) के दमन के फलस्वरूप व्यक्ति अपने को सामाजिक आदर्शों व मूल्यों से कटा हुआ और अजनबी पाता है।

स्टेफोन मोरास्की ने एक जगह संकेत किया है कि हिगेल से भी पहले जर्मन दर्शन की पूरी परम्परा अलगाव की समस्या खड़ी करने की दिशा में ले जाती है। इस संदर्भ में उन्होंने विकेंलमान, कांट, शिलर, हाइनेराइख आदि के नाम गिनाये हैं जिन्होंने सम्पन्न और सुसंगत व्यक्तित्व को समसामयिक जीवन के विखण्डन के विरुद्ध प्रस्तुत किया। एक दूसरे विद्वान डॉ. पैट्रिक मास्टर्सन, डेकार्ट (1596-1650) के नये विचारों में अजनबीपन के स्रोत को देखते हैं जिसने व्यक्ति को व्यक्ति के रूप में समझा और उसकी विचारशीलता पर जोर दिया। पैट्रिक मास्टर्सन, डेकार्ट के महत्व को रेखांकित करते हुये कहते हैं, डेकार्ट के क्रांतिकारी विचारों ने

नवीन दृष्टिकोण के लिये एक रास्ता खोला, एक नये संसार का जन्म हुआ। समाज और इतिहास के अर्थ को समझने का नया तरीका निकाला। जिसके परिणामस्वरूप व्यक्ति अपनी स्वतंत्रता के प्रति अधिक सचेत हुआ। इससे अजनबीपन की समस्या ने ठोस और मूर्त रूप में जन्म लिया।

हीगेल ही ऐसे महान दार्शनिक हैं, जिन्होंने कार्ल मार्क्स के पहले आत्म-निर्वासन की अवधारणा पर विस्तार में विचार किया है। हीगेल ने अपनी प्रख्यात रचनाओं में – “द स्पिरिट ऑव क्रिश्चियेनिटी” (The spirit of Christianity) तथा “द फिनामनालॉजी ऑव स्पिरिट” (The phenomenology of spirit) आदि में – अध्यात्मवादी दृष्टिकोण के आधार पर अलगाव की व्याख्या प्रस्तुत की है। हीगेल के अलगाव-सम्बन्ध विवेचन पूर्ण रूप से आदर्शवादी है। धर्म और कला को अलगाव की स्थिति से मुक्ति पाने में असमर्थ मानकर वे दर्शन की ओर अग्रसर हुए थे। तत्कालीन व्यवस्था पर गहरा रोष प्रकट करते हुए हीगेल ने लिखा था – “जो जैसा दिखाई देता है। वास्तव में वह वैसा नहीं है – यही स्थिति हमारी पीड़ा का कारण है, क्योंकि यह जो भी है, वास्तव में वह नहीं है, जो इसे होना चाहिये।”<sup>57</sup> “हीगेल के लिए अलगाव एक दार्शनिक या स्व-विद्या से सम्बन्धित तथ्य है, जो कि संसार में व्यक्ति की अस्तित्व सम्बन्धी प्रकृति में पाया जाता है। वहाँ एक पृथक्करण होता है, क्योंकि स्वयं व्यक्ति के उत्पाद्य उसके सामने विलग वस्तुओं के रूप में खड़े होते हैं और प्रत्यक्ष रूप से मन, व्यक्ति एवं आत्मा भी उससे दूर खड़े हैं और इस स्थिति को ज्ञान द्वारा ही समाप्त किया जा सकता है।”<sup>58</sup>

हीगेल के आदर्शवादी विचार को फायरबाख ने आगे बढ़ाया। फायरबाख ने धर्म पर तीखा व्यंग्य करते हुए अलगाव का मूल कारण धर्म की संस्थाओं को ही माना है। उन्होंने धर्म-विज्ञान (Theology) के स्थान पर प्राणि-शास्त्र (Anthropology) को प्रतिष्ठित किया है। उनके मत में अलगाव का मूल धार्मिक अंधविश्वासों और प्रकृत्योपासना (Fetishism) में निहित है। उन्होंने लिखा है – “संक्षेप में मैं अपने सिद्धान्तों को इस प्रकार प्रस्तुत करता हूँ कि धर्म-विज्ञान, जो धर्म को वस्तु-रूप में प्रकट करता है, वह प्राणि-शास्त्र से ज्यादा भिन्न नहीं है। अर्थात् ईश्वर मानवीय सार-तत्व के दैवीकृत रूप से भिन्न कुछ नहीं है।”<sup>59</sup> “मनुष्य ने अपने मानवीय गुण की प्रतिष्ठा ईश्वर में की है और अपने को निस्सहाय एवं पापी समझ रखा है। इस प्रकार अपने ही गुणों को ईश्वर में प्रतिष्ठित करने की वजह से मनुष्य अपनी मूल प्रकृति को नकारता रहा है और स्वयं अपने दैवीकृत या गुण सम्पन्न रूप में अलगाव-ग्रस्त हो जाता है।”<sup>60</sup> फायरबाख के पश्चात् कार्ल मार्क्स ने “एलियनेशन” को आधुनिकता के संदर्भ में व्याख्यायित किया। उन्होंने अपनी विख्यात रचना “इकनॉमिक एण्ड फिलौसफिकल मैनुस्क्रिप्ट्स” (Economic and Philosophic Manuscripts of 1844) में अलगाव (Alienation) की विशद् व्याख्या प्रस्तुत की है। “मार्क्स यह स्वीकार करता था कि मानवीय अलगाव को वास्तविक रूप से न तो हीगेल की द्वैधावस्था से समझा जा सकता है और न ही

फायरबाख द्वारा प्रतिपादित धार्मिक प्रलम्बना के माध्यम से। मार्क्स ने अलगाव को मानवीय प्रकृति के अनुकूल मानकर इसे समाज से जोड़ा, जो कि मुख्यतया समाज में श्रमिक की पूँजीपति के शोषण से मुक्ति के प्रश्न से जुड़ा हुआ है।<sup>61</sup> इस प्रकार मार्क्स ने हीगेल और फायरबाख की मान्यताओं का खण्डन किया है। हीगेल ने अलगाव को चेतना में तथा फायरबाख ने धर्म में संस्थित किया। किन्तु कार्ल मार्क्स ने कार्य की प्रकृति में इसके विशिष्ट सामाजिक एवं ऐतिहासिक आयामों को व्याख्यायित किया। क्योंकि वे मानते थे कि मनुष्य-मनुष्य के बीच का अलगाव चेतनाओं में संघर्ष का परिणाम नहीं, बल्कि श्रम-विभाजन और व्यक्तिगत संपत्ति पर आधारित है। मार्क्स ने “आत्म-निर्वासन” सम्बन्धी अपना विचार “इकॉनॉमिक एण्ड फिलॉसफिक मैनुस्क्रिप्ट्स” में मुख्य रूप से “अजनबी श्रम” (Estranged Labour) शीर्षक पर प्रस्तुत किया है।<sup>62</sup> मार्क्स आत्म-निर्वासन की अभिव्यक्ति उत्पादन-क्रिया के भीतर ही देखते हैं। पूँजीवादी व्यवस्था में श्रमिक को वस्तुओं के स्तर पर उतार दिया जाता है और सारी वस्तुओं में वही सबसे अधिक अभागा होता है।<sup>63</sup> श्रमिक उत्पादन में जितना ही अधिक श्रम करता है उतना ही अधिक अलगाव-ग्रस्त हो जाता है। इस प्रकार उस उत्पादन से अलग होकर वह अपने श्रम को एक ऐसी वस्तु बना देता है जो उससे पूर्ण रूप से अलग एक ऐसी शक्ति का रूप धारण कर लेता है कि वह शक्ति हमेशा उसका विरोध और शोषण करती है, और वह शक्ति उसके लिए सदा अजनबी, विरोधी और उससे अलग ही रह जाती है।<sup>64</sup> इसलिए मार्क्स मानते थे कि “पूँजीवादी व्यवस्था में श्रमिक उतना गरीब होता जाता है जितना अधिक धन वह उत्पन्न करता है एक श्रमिक उतना ही सस्ता होता जाता है जितनी मात्रा में वह वस्तुएँ तैयार करता है।<sup>65</sup> जैसे-जैसे वस्तुओं के संसार में मूल्यगत वृद्धि होती है, मानवीय संसार का अवमूल्यन होता जाता है। मनुष्य के श्रम द्वारा उत्पादित वस्तु और उसका उत्पादन अजनबी करने वाली वस्तु के रूप में उसके सामने आने लगता है। इस प्रकार वस्तु की दूसरों के लिए बढ़ती उपयोगिता उसके लिये अजनबीपन के रूप में उभरती है। इस तरह एक श्रमिक अपने को अलगाव-ग्रस्त महसूस करता है। यह अजनबी श्रम मनुष्य को उसके शरीर से, प्रकृति से, उसके अपने आत्मिक तत्व मनुष्यत्व से अजनबी बना देता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पूँजीवादी व्यवस्था में शोषित व्यक्ति शोषक के लिए एक अमानवीय पदार्थ बन जाता है। अतः मार्क्स के लिए “अलगाव” से अभिप्राय श्रमिक का अपने ही द्वारा उत्पादित वस्तु से अलगाव-ग्रस्त हो जाना है। कार्ल मार्क्स की आत्म-निर्वासन सम्बन्धी अवधारणा को हारडर शिलर, एरिक फ्रॉम, हरबर्ट मारक्यूज इत्यादि ने आगे बढ़ाया। “अधिकतर अस्तित्ववादी चिन्तन की भाँति मार्क्स-दर्शन भी मानवीय-अलगाव, उसकी अस्मिता के खो जाने और उसके वस्तु रूप में परिवर्तन के विरुद्ध विद्रोह का दर्शन है। यह पश्चिमी औद्योगीकरण में निहित मानव के अमानवीकरण और यान्त्रिकीकरण के विरुद्ध आन्दोलन है।<sup>66</sup> एरिक फ्रॉम तथा मार्क्यूज ने फ्रायड अध्ययन में मार्क्स तथा हीगेल के विचारों को मिला दिया है। एरिक फ्रॉम ने अपनी

रचनाओं में, विशेषकर – “एस्केप फ्रॉम फ्रीडम” (Escape from Freedom), “द सेन सोसाइटी” (The Sane Society), “बियोण्ड द चेन्स ऑफ इल्यूजन” (Beyond the Chains of Illusion) तथा “द आर्ट ऑफ लविंग” (The Art of Living) में आत्म-निर्वासन का विशद विवेचन किया है। फ्रॉम के अनुसार “अलगाव” (Alienation) का पुराना अर्थ “विक्षिप्तता” था। फ्रान्सीसी में “एलीन” (Aliene) स्पेनीश में “एलोनाडो” (Alienado) का अर्थ मनोरोगी है, एक सर्वागतः और पूर्णतः अजनबी व्यक्ति।<sup>67</sup> उन्नीसवीं शताब्दी में हीगेल और मार्क्स ने इस शब्द का प्रयोग अपने-आप से कट जाने के अर्थ में प्रयुक्त किया। लेकिन एरिक फ्रॉम के अनुसार “अलगाव” का मतलब पूँजीवादी समाज में मनुष्य का अपनी सच्ची प्रकृति तथा तात्विक मानवता के पतन से है। इसलिए अलगाव का मुख्य कारण “पूँजीवाद के व्यक्तित्व पर पड़े प्रभाव है।”<sup>68</sup> उन्होंने “अलगाव के पर्यायवाची रूप में मूर्ति-पूजा, नौकरशाही, उपकरणिकरण, अतीन्द्रियता और यान्त्रिकीकरण जैसे शब्दों का प्रयोग किया है। इसके अनन्तर फ्रॉम अलगाव का प्रयोग “जो जैसा होना चाहिए, वह वैसा नहीं है” की व्याख्या में प्रेम, चिन्तन, आशा, श्रम, भाषा, संसार, संस्कृति और समाज जैसे सन्दर्भों के उकेरने में करते हैं।<sup>69</sup>

“अस्तित्ववाद में आत्म-निर्वासन को विशिष्ट आत्मानुभूमि के रूप में लिया है। वे मानते हैं कि उन्होंने अपने विशुद्ध विवेक से इस स्थिति का वरण किया है। वे इस स्थिति को आधुनिकता बोध से जोड़ते हैं। अस्तित्ववाद पर उस पुराने तर्कशास्त्र का प्रभाव है जो द्वन्दवाद का विरोधी है आत्मगत और वस्तुगत यथार्थ सम्बद्ध न होकर उसके लिये अलग है, भूत और चेतना, व्यक्ति और समाज इसी तरह विच्छिन्न ईकाइयाँ हैं। अस्तित्ववाद पर सामन्तकालीन धार्मिक अन्धविश्वासों का गहरा असर है। उसकी शुरुआत किकेगार्ड से हुई जो चर्च की आलोचना करते हुए भी ईसाइयत के मार्ग से ही मुक्ति का अन्वेषी था। जब तक खुदा था तब तक पाप पुण्य की भावना नहीं थी। नैतिक आचरण के मूल्य भी थे। किन्तु जब विज्ञान ने खुदा को नैतिकता के आसन से हटा दिया तब अस्तित्ववादी के लिये बड़ी समस्या उठ खड़ी हुई। समाज में मूल्य की कोई कसौटी न रह गयी। पाप पुण्य कुछ नहीं, मनुष्य को व्यक्तिगत रूप से निर्णय करना है, कि क्या मूल्यवान (पुण्य) है और क्या मूल्यहीन (पाप) है। अंधेरे में पिता का हाथ छूट जाने पर जैसे छोटा बच्चा चीख उठता है वही हालत खुदा को नकारने वाले अस्तित्ववादी की है। पुराने धार्मिक विश्वासों के अनुसार ईसामसीह ने आत्म बलिदान करके खुदा को मनाया और मनुष्य की मुक्ति का मार्ग खोला। जो अस्तित्ववादी खुदा को नहीं मानते वे खुदा के बेटे को भी नहीं मानते, इसलिये खुद ही खुदा के बेटे बन जाते हैं, खुद ही सलीब उठाने की दिमागी कसरत करते हैं और यह सोचकर आत्मविभोर हो उठते हैं कि वह ये कार्य मानवता के हित में कर रहे हैं। सलीब ढोने की क्रिया से उन्हें जो आध्यात्मिक आनन्द प्राप्त होता है उसमें आत्म-निर्वासन सम्बन्धी उनकी धारणा सहायक होती है। निर्वासन पहले समाज से, फिर खुद अपने से।”<sup>70</sup> कार्ल मार्क्स “एलियेशन” को उतने सरल रूप में ग्रहण नहीं करते,

जितने सरल रूप में अस्तित्ववादी विचारक इसे प्रस्तुत करते हैं। अस्तित्ववादी दार्शनिक एवं लेखकों ने अपनी विचारधारा में “अलगाव” को महत्वपूर्ण स्थान दिया है। हमें देखना है कि किस प्रकार अस्तित्ववादी विचारधारा ने अलगाव की संकल्पना को सुदृढ़ और व्यक्त दार्शनिक भूमि पर प्रतिष्ठित किया है। साहित्य में अलगाव-बोध की सही पहचान के लिए इसका अस्तित्ववादी पक्ष स्पष्टतः समझना अपेक्षित है।

इतिहास इस बात को स्पष्ट करता है कि आदिकाल से लेकर चिन्तनशील मनुष्य सृष्टि में अस्तित्व की समस्या का समाधान खोजने के प्रयास में निरत है। प्राचीन कालीन दर्शन में सुकरात, प्लेटो, अरस्तु आदि यूनानी दार्शनिकों ने समाज को व्यवस्थित तथा सन्तुलित रूप में समझने पर ही अधिक ध्यान दिया था। उनकी दृष्टि में समाज का हित सर्वोपरि था। मध्यकालीन दार्शनिकों में संत आगस्टाइन, संत थॉमस एक्वीनास, इत्यादि ने लोगों का ध्यान दर्शन से धर्म की ओर खींच लिया। इस समय के अधिकांश दार्शनिक ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने में मग्न रहे थे। किन्तु चौदहवीं सदी के बाद बेकन, होब्स, देकार्त, स्पिनोज़ा लॉक, हीगेल, शोपनहावर आदि मानव-जीवन की समस्याओं का हल ढूँढने के लिए दर्शन तथा विज्ञान की नई उपलब्धियों का सहारा लेने लगे। इस काल में बुद्धिवाद का बेहद विकास हुआ था। फलस्वरूप इन दार्शनिकों की दृष्टि “सत्य” की ओर उन्मुख हुई और इनका ध्यान व्यक्तिगत प्रयोग और अनुसन्धानों की ओर पड़ने लगा।

इसी समय व्यक्तिवादी जीवन दर्शन का विकास भी हुआ था और एक “व्यक्ति” के रूप में मनुष्य की महिमा भी प्रतिष्ठित हुई। प्राचीनकालीन तथा मध्यकालीन दर्शन में ईश्वर का स्थान सर्वोपरि था। लेकिन आधुनिक काल के दार्शनिक इस विचार के प्रति विद्रोह करके मानव और उसके अस्तित्व को स्थापित करने का श्रम करने लगे। पश्चिम के कई विद्वानों ने व्यक्ति के महत्व को ग्रहण किया और व्यक्ति के अहं को प्रधानता दी। इसका असर साहित्य पर भी पड़ने लगा। व्यक्तिवादी विचारधारा के प्रबल होने के कारण, समाज के प्रति आक्रोश व्यक्त करने वाले व्यक्ति मानव का चित्रण साहित्य में प्रस्तुत करने लगे। और कालान्तर में व्यक्ति की अर्थवत्ता की खोज करने का श्रम अस्तित्ववादी दर्शन के रूप में परिणत हुआ। अस्तित्ववादी विचारधारा का आरम्भ जर्मनी में हुआ था। प्रथम एवं द्वितीय विश्व महायुद्ध की विभीषिका, औद्योगिकीकरण एवं शहरीकरण के कारण मानवीय अस्तित्व के सम्मुख अनेक प्रश्न-चिह्न उभर आये। अस्तित्ववादी दर्शन के मूल में फ्रांसिसी राज्य क्रान्ति तथा उसके पूर्ववर्ती दर्शन का प्रभाव है, फिर भी इस दर्शन के प्रचार-प्रसार का पूर्ण उत्तरदायित्व प्रथम एवं द्वितीय विश्व महायुद्ध तथा विज्ञान के बढ़ते हुए प्रभाव से हुई यांत्रिक सभ्यता से उत्पन्न निराशा, वेदना, शोक, विद्रूपता और विभीषिका को ही है। “युद्ध, औद्योगिकीकरण, मशीनीकरण इत्यादि ने व्यक्ति के व्यक्तित्व को विघटित कर दिया और अस्तित्ववादियों ने व्यक्ति को अपने अस्तित्व के संदर्भ में सचेत किया। इस प्रकार अस्तित्ववाद के आने से सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन यह हुआ कि मनुष्य

ने अपनी समस्याओं का समाधान इसी प्रश्न से आरम्भ किया कि वह स्वयं क्या है' क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अपने अस्तित्व के लिए स्वयं उत्तरदायी है, जीवन में उसे स्वयं ही चुनाव करने होते हैं, संकटों का सामना करना होता है, इसलिए अस्तित्ववादी अलगाव को सीधे व्यक्ति से जोड़ते हैं, न कि समाज से।'<sup>71</sup>

अतः स्पष्ट है कि अस्तित्ववादी विचारकों के अनुसार अलगाव समाज को नहीं, व्यक्ति को ही भोगना पड़ता है। अस्तित्ववादी दर्शन का प्रारंभ कीर्कगार्द और नीत्शे के विचारों के साथ ही शुरू हुआ था। फ्रेडरिक नीत्शे को उन्नीसवीं शताब्दी का प्रमुख विचारक माना जाता है। "आधुनिक सभ्यता के व्यापक परिप्रेक्ष्य में मानवता की दुःखद एवं संकटापन्न परिस्थितियों का सजीव चित्रण एवं इसकी सूक्ष्म पकड़ उसकी निजी विशेषता है।"<sup>72</sup> नीत्शे ने ईसाई धर्म, उदारतावादी दृष्टिकोण, हीगेल की दार्शनिक मान्यताएँ और मार्क्स के साम्यवादी विचारों का तीव्र विरोध किया था। उन्होंने अपने चिन्तन में व्यक्ति को सर्वाधिक महत्व दिया और इसलिए उन्होंने "ईश्वर की मृत्यु की घोषणा की।"<sup>73</sup> उनके अनुसार "व्यक्ति इस संसार में अकेला है और पूर्ण स्वतन्त्र भी। वह अपने निर्माण के प्रति पूर्ण उत्तरदायी भी है।"<sup>74</sup> "ईश्वर की मृत्यु ने मनुष्य को शंका, संत्रास, एकाकीपन और निर्वासन की गहन अन्धकारमय गुफा में फेंक दिया—वह हताश, निस्सहाय बेसहारा और कातर वाणी में चिल्ला उठा — "मेरे लिए सबसे निकटतम सत्य यही है कि मैं एक ऐसी काल कोठरी की दीवारों से सिर टकराता हूँ जिसके न दरवाजे हैं और न खिड़कियाँ।" ईश्वर की मृत्यु ने एक ऐसा शून्य उत्पन्न कर दिया जिसमें जीवन—मूल्य सिसक—सिसक कर दम तोड़ने लगे।"<sup>75</sup> आधुनिक काल के विद्वानों ने ईश्वर—निषेध को कई दृष्टियों से महत्व दिया है। पैट्रिक मास्टर्सन, विलियम बैरेट, एरिक फ्रॉम आदि पश्चिमी विद्वानों ने इस पर विचार किया है। "आधुनिक इतिहास का सबसे बड़ा केन्द्रीय तथ्य धर्म का इन्कार है। धर्म खोने से मनुष्य इस संसारकी विवेकहीन वस्तुपरकता का सामना करने के लिए स्वतन्त्र छोड़ दिया गया। उसे अपने को ऐसे संसार में बेघर महसूस करने के लिए विवश होना पड़ा जिसमें उसकी आत्मिक पुकार का कोई उत्तर नहीं था।"<sup>76</sup> अस्तित्ववादी दार्शनिकों में आस्तिक और नास्तिक दो वर्ग मिलते हैं। सोरेन कीर्कगार्द (Soren Keirkegaard), कार्ल जैस्पर्स (Karl Jaspers), गैबरीयल मार्सेल (Gabriel Marcel), आदि आस्तिक अस्तित्ववादी हैं, जबकि फ्रेडरिक नीत्शे (Frederich Nietzsche), जॉ—पाल सार्त्र (Jean-Paul Sartre), आल्बेयर कामू (Albert Camus), फ्रन्ज़ काफका (Franz Kafka), मार्टिन हैडगर (Martin Heidegger) आदि नास्तिक अस्तित्ववादी हैं। दोनों गुट के अस्तित्ववादी दार्शनिक इस मत से सहमत हैं कि मनुष्य इस अन्धरे विश्व में अकेला फेंक दिया गया है। अलगाव की यन्त्रणाओं से बचने के लिए, आस्तिक अस्तित्ववादी ईश्वर का सहारा लेते हैं, बल्कि नास्तिक अस्तित्ववादी का मत इससे एकदम भिन्न है। उनके अनुसार ईश्वर—विहीन दुनिया में मानव अकेला है और उसे आत्म—निर्वासन स्वयं ही भोगना पड़ता है। प्रमुख अस्तित्ववादी दार्शनिकों में हीडगेर, पॉल

टिलिक, सार्त्र, जैस्पर्स, मार्सल, कामू, काफ़का आदि ने “अलगाव” पर विचार किया है। हीडगेर ने “आत्म-निर्वासन” शब्द का प्रयोग “जीवन-संदर्भ में पतन” (Falling) और “अप्रामाणिकता” (Insauthenticity) की अवधारणा में एक निश्चित दृष्टिकोण से किया है। “आत्म-निर्वासन की स्थिति वह है, जिसमें व्यक्ति अपने प्रामाणिक अस्तित्व अर्थात् अन्तः शक्ति से कट जाता है।”<sup>77</sup> इस प्रकार उनके मत में आत्म-निर्वासन का अर्थ अस्तित्व के प्रामाणिक यथार्थीकरण से वंचित होने की अवस्था का नाम है। वे मानते हैं कि मनुष्य इस संसार में अकेला और थका हुआ है। इस अकेले, थके हुए, निराश और भयभीत मनुष्य के सामने कोई रास्ता नहीं है, कोई मंजिल नहीं है। इसलिए मानव की जिन्दगी एक निरन्तर निरर्थक मेहनत के सिवा कुछ भी नहीं रह गई है। अस्तित्ववाद के दूसरे विचारक पॉल टिलिक ने अलगाव के लिए “एस्ट्रेन्जमैन्ट (Estrangement) शब्द का प्रयोग किया है। उन्होंने मनुष्य के अस्तित्व की यथार्थ स्थिति और उसकी मूल-प्रवृत्ति में दिखाई पड़ने वाली दूरी या भिन्नता को “अलगाव” कहा है। अस्तित्ववादी लेखकों में अलगाव-बोध के बारे में गम्भीर रूप से विचार करने वाला दार्शनिक सार्त्र है। अस्तित्ववाद एक दार्शनिक सिद्धान्त है। लेकिन सार्त्र ने इसे अपने साहित्य का मूल तत्व बनाकर प्रस्तुत किया है। वे गम्भीर दार्शनिक के साथ-साथ महान कलाकार भी हैं। सार्त्र ने अपने दर्शन में व्यक्ति-स्वतन्त्रता को सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान दिया है। उनके विचार में मनुष्य अपनी स्वतन्त्रता से आतंकित रहता है। मनुष्य अपने सिवा और किसी पर विश्वास नहीं कर सकता। वह अकेला है। वह अपनी असीम जिम्मेदारियों से घिरा हुआ इस संसार में अकेला छोड़ दिया गया है। “मानव केवल स्वतन्त्र ही नहीं, अपितु स्वतन्त्र होने के लिए अभिशप्त भी है। अभिशप्त इसलिए है कि उसने स्वयं को नहीं बनाया, फिर भी अन्य बातों में वह स्वतन्त्र है, क्योंकि दुनिया में फेंक दिए जाने के बाद वह अपने सारे कार्यों के लिए उत्तरदायी है।”<sup>78</sup> सार्त्र ने अपने दर्शन के मूल में मानव जीवन की कटुता, विद्रूपता, निराशा, एकाकीपन एवं निरर्थकता को स्वीकार किया है। उन्होंने ईश्वर की सत्ता का निषेध किया है और वे दोस्तोवस्की के इस मत से पूर्ण रूप से सहमत होते हैं कि “यदि ईश्वर विद्यमान नहीं है तो सब कुछ स्वीकृत होगा।”<sup>79</sup> सार्त्र ने इस सत्य पर बहुत बल दिया कि अपने चिन्तन और निर्णय के प्रति मानव पूर्ण रूप से स्वतन्त्र है। यह स्वतन्त्रता एक प्रकार की निस्सहायता को भी उत्पन्न करती है। इसलिए यह स्वतन्त्रता ही व्यक्ति की पीड़ा या व्यथा (Anguish) का मूल कारण है।

सार्त्र ने अलगाव की समस्या को मानवीय चेतना के धरातल पर ग्रहण किया है। उन्होंने अपनी रचना “बीइंग एण्ड नथिंगनेस” (Being and Nothingness) में अलगाव को व्यक्ति के स्वयं को किसी दूसरे व्यक्ति के हस्तक्षेप के कारण वस्तु-रूप में अनुभव के आधार पर व्याख्यायित किया है। सार्त्र के इसी चिन्तन का प्रभाव समूचे विश्व साहित्य पर भी पड़ा है। हिन्दी का कथा-साहित्य भी इस प्रभाव से अछूता नहीं रहा है। इसी प्रकार दुरखाइम ने अपना समाजशास्त्र उत्पादन और वितरण की पद्धति का विश्लेषण न करके आत्महत्या के प्राप्त

आँकड़ों के बल पर रचा था, यद्यपि उसमें अनेक खामियाँ थीं फिर भी उसने आत्म-निर्वासन की समस्या पर ध्यान केन्द्रित किया था और उसका सम्बन्ध मानव मूल्यों के असन्तुलन से जोड़ा था। वे कहते हैं कि मनुष्य को चिन्तन की सामग्री बाह्य जगत से मिलती है। यदि मनुष्य अपनी चेतना को बाह्य जगत की वस्तुओं और व्यक्तियों से आमूल विच्छिन्न कर ले, उचित सीमा लाँघकर उसे विशुद्ध आत्मगत बना ले तो वह उस स्रोत का ही नाश कर देता है जिससे चेतना पोषण सामग्री पाती है। अपने चारों ओर शून्य रचकर वह अपने भीतर भी शून्य की सृष्टि कर लेता है। चिन्तन के लिये अपने दर्द के अलावा उसके पास कुछ रह नहीं जाता। वह इस दर्द के प्रति ही समर्पित होता है और वह सबसे अकेला हो जाता है, वैयक्तिक भी, मानसिक भी। “सार्त्र” के उपन्यास ‘उबकाई’ अंग्रेजी नौशिआ, पेंग्विन बुक्स का नायक अन्थ्वान शैंकातैं सोचता है कि संसार में जो कुछ है, व्यर्थ है, फालतू है, वह स्वयं अनावश्यक है। वह खयाल दौड़ाने लगा कि आत्महत्या कर लूँ। ये जो तमाम व्यर्थ अस्तित्व है, उनमें कम से कम एक का नाश कर डालूँ।<sup>80</sup>

अस्तित्ववादी दार्शनिक कामू ने अपनी रचनाओं में विसंगतियों (Absurdities) के संसार में अभिशप्त अकेले और एकाकी मनुष्य की व्यथा को चित्रित किया है। उनके अनुसार विगत दो महायुद्धों ने मनुष्य की जिजिविषा को नष्ट कर दिया है। आज वह अकेला है और उसका जीवन निरर्थक हो गया है। इस निरर्थकता को भोगना मानव की नियति बन गयी है। कामू ने “द मिथ ऑफ सिसिफस” (The Myth of Sisyphus) में सिसिफस को इसी निरर्थकता को ढोता हुआ चित्रित किया है।<sup>81</sup> कामू के मत में प्रत्येक व्यक्ति को इस संसार में सिसिफस की तरह अपनी पीठ पर व्यर्थ बोझ को उठाए पहाड़ की चोटी पर चढ़ना और फिर पुनः खाई में लुढ़कना पड़ता है। अर्थात् “हर सचेत व्यक्ति के लिए जीवन एक अर्थहीन बोझ है जो उसे सिसिफस की तरह अपनी पीठ पर लादे-लादे पहाड़ के शिखर पर ले जाना पड़ता है और फिर नीचे गहरी अन्धेरी खाई में जा गिरता है। और यह बेकार और व्यर्थ श्रम निरन्तर जारी रहता है। मनुष्य तन्हा है – बोझ उठाए हुए। व्यर्थ जीवन व्यतीत करता हुआ। हर प्रबुद्ध व्यक्ति यह सोचता है और फिर भी लोग जीते रहते हैं। क्योंकि जीना एक आदत है।”<sup>82</sup> इसलिए कहा जा सकता है कि कामू ने अपनी इस रचना “द मिथ ऑफ सिसिफस” में आधुनिक मानव के आत्म-निर्वासन एवं अकेलापन को रूपायित किया है।

अस्तित्ववादी दार्शनिकों के अनुसार प्रत्येक मानव निर्वासित, बहिष्कृत और अजनबी होने की अनुभूति को झेलता है। अस्तित्ववाद के प्रमुख लेखक कापका की रचनाओं में मनुष्य की तन्हाई, पापानुभूति, परायेपन की भावना एवं मृत्यु संत्रास की स्थिति का चित्रण मिलता है। उनके सभी पात्र पूर्ण वियोजन का प्रतिनिधित्व करते हैं। कापका की जीवनी बताती है कि “कापका अपने आप में एक अधूरापन था जिसे उसने मनुष्य की तरह तो जीवन में भोगा और विचार की तरह लेखन में भी भोगा। कापका अपनी निराशा, अपनी उदासी, अपना आतंक और



अपना अकेलापन भोग भोगकर उसे लेखन की संवेदनशीलता में बदल रहा था।<sup>83</sup> काफ़का की रचनाओं में उसका घोर अकेलापन, नैराश्य, डर और अपने बार-बार निरस्त किए जाने की आशंकाएँ ही चित्रित हुई हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि अस्तित्ववाद में अलगाव की भावना एक प्रकार से हताशा, संत्रास, मृत्यु-बोध, एकाकीपन एवं निरर्थकता की स्थिति का अनुभव करना है। उनके अनुसार आज हम एक विकृत दुनिया में जीने के लिए मजबूर हैं, जिससे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं। सब अजनबी और पराये हैं। अजनबी और पराये लोगों की इस भीड़ में मनुष्य अकेला निराश्रय है। अस्तित्ववादी दर्शन में “शून्यता”, निराशा”, “व्यथा”, “विसंगति”, एकाकीपन एवं संत्रास को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। “अस्तित्ववादी दर्शन में शून्यता (Nothingness), निराशा, (Despair) व्यथा (Anguish), विसंगति (Absurdity), संत्रास (Dread), अपराधभावना (Guilt), एकाकीपन (Loneliness), आदि प्रत्येक मानवीय अस्तित्व के साथ अनिवार्य रूप से सम्बद्ध हैं।”<sup>84</sup> कीर्कगार्द के दर्शन में “निराशा” को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है। उनके मत में निराशा मुख्य रूप से मनुष्य के ईश्वर से आत्म-निर्वासन (Self-alienation) के कारण पैदा होती है। इस अर्थ में वह ऊब (Boredom) विषाद (Malancholy), आत्म-विस्मरण (Lostness) तथा एकाकीपन (Loneliness) का द्योतक होता है। ईश्वर से अपने सम्बन्ध को कटा हुआ देखकर मनुष्य स्वयं को एकाकी अनुभव करता है। हैडगर के दर्शन में शून्यता को अधिक महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। उनके अनुसार मनुष्य स्वयं को “ न जाने कहाँ से” इस दुनिया में फेंका हुआ मानता है। जहाँ से उसे फेंका गया है वह स्थान उसके लिए अज्ञात है, शून्य है। यह शून्यता मनुष्य के भूतकाल से सम्बन्धित है। दूसरी ओर उसका भविष्य भी शून्यता से सम्बन्धित है क्योंकि मृत्यु के बाद कहाँ जायेगा— इसका आभास भी उसे नहीं है। इस प्रकार मनुष्य के वर्तमान जीवन में भूत और भविष्य की शून्यता का भाव निहित है।

अस्तित्ववादी दार्शनिकों में गेबरीयेल मार्सल व्यथा, पीडा एवं वेदना को मानव जीवन का अभिशाप मानते हैं। उनके मत में मनुष्य कभी स्वयं को असहाय अनुभव करता है, तो कभी आत्मविश्वास खो बैठता है। उसे चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार दिखायी पड़ता है। अस्तित्ववादी दार्शनिकों के अनुसार संत्रास मनुष्य की आधारभूत अनुभूति है। मृत्यु का संत्रास मनुष्य को सचेत करता है और उसे अपने भविष्य के प्रति उत्तरदायी बना देता है। हैडगर के अनुसार मृत्यु का संत्रास मनुष्य में अपराध भाव उपजाता है। अस्तित्ववादी दार्शनिकों में रिल्के ने भी मृत्यु के दुख का अनुभव किया है। इनके अलावा कामू, हैडगर, नीत्सो, सार्त्र आदि ने भी जगह-जगह पर “मृत्यु” के बारे में विचार प्रस्तुत किया है। सार्त्र के अनुसार मृत्यु एक दुर्घटना है, इसलिए यह बिल्कुल बेमानी है। मृत्यु जीवन को किसी भी प्रकार की अर्थवत्ता प्रदान करने की अपेक्षा उसे और भी अधिक संशय और कौतूहल का विषय बना देती है। कामू के दर्शन में “विसंगति” का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने “विसंगति” के द्वारा निराशा, व्यथा, वेदना आदि की अनुभूतियों को व्यक्त किया है। सार्त्र के दर्शन में एकाकीपन, व्यथा, निराशा तथा

शून्यता आदि को अधिक स्थान दिया गया है। व्यथा की भावना को सार्त्र ने इस प्रकार स्पष्ट किया है— “वास्तव में, जहाँ तक मैं समझता हूँ, दूसरों के प्रति उत्तरदायित्व और औचित्य की पूर्ण अनुपस्थिति की पुनरावृत्ति ही व्यथा है।”<sup>85</sup> एकाकीपन के सम्बन्ध में सार्त्र की निश्चित धारणा है।

साहित्य में आत्म-निर्वासन जैसी अनुभूतियाँ कामू और काफ़का के अनुकरण पर आयी है। कामू कृत अजनबी और ‘पतन’ कृतियों में परिवेश के अलगाव का अनुभव करके व्यक्ति को केन्द्र में रखा गया। यह अलगाव बड़ा ही त्रासद और यातनापूर्ण है। काफ़का ने मनुष्य के आत्म-निर्वासन को व्यक्त करने के लिये एक रूपक-कथा प्रस्तुत की है। उनके अनुसार “यह एक ऐसा लम्बा मुकदमा है जिसके निर्णायक अज्ञात है, जिसकी दस्तावेजें गुप्त हैं जहाँ दण्डित किया जाना पूर्व निश्चित है और अभियुक्त पर आरोप लगाने वालों पर अपने आरोपों को प्रमाणित करने का दायित्व नहीं है।”<sup>86</sup> सार्त्र का कहना है कि अस्तित्ववाद इस तरह की बकवासों को महत्व न देकर स्पष्ट रूप से घोषणा करता है कि तुम अपने जीवन के अलावा और कुछ नहीं हो, मनुष्य कार्यों की एक परम्परा से अलग दूसरी चीज नहीं है यानी वह उन सम्बन्धों के योगफल का एकीकरण है जो इन कार्यों का निर्माण करता है। आगे अपने इसी व्याख्यान में वे कहते हैं, “यह कहना कि हम मूल्यों का आविष्कार करते हैं इसका इसके सिवाय कोई अर्थ नहीं है कि जीवन का कोई अर्थ नहीं है। यह तुम्हारे ऊपर है कि तुम इसको अर्थ दो। अर्थ जिसका तुम चुनाव करते हो उससे अलग मूल्य नाम की कोई दूसरी चीज नहीं है।”<sup>87</sup> अस्तित्ववाद मानव संसार की अपेक्षा दूसरे किसी संसार को नहीं मानता। व्यक्ति के अलावा नियमों को बनाने वाला दूसरा कोई नहीं है। अस्तित्ववाद घोषणा करता है कि यदि परमात्मा का जीवन हो भी तो वह कुछ परिवर्तन नहीं करेगा। इस तरह अस्तित्ववाद मनुष्य के इर्द-गिर्द फैले अंधविश्वासों और अज्ञान के झूठे जालों को काटकर व्यक्ति को नितान्त एकाकी कर देता है। इस एकाकीपन के बोध से अजनबीपन की कई स्थितियाँ जन्म लेती हैं।

आत्म-निर्वासन की भावना के पीछे प्रौद्योगिकी के द्रुत विकास की तरफ कई विद्वानों ने संकेत किया है। इनमें जार्ज सिमले, लूइस ममफोर्ड, पीटर लेस्लेट, थियोडोर रोजेक और क्रिस्टोफर राइट के नाम लिये जा सकते हैं। समाजशास्त्री जार्ज सिमेल का कहना है कि शहरी संस्कृति रुपये-पैसे की संस्कृति है जिसके कारण धन अपनी सारी रंगहीनता और निष्पक्षता के साथ सारे मूल्यों का निर्धारक हो जाता है। इसका सीधा परिणाम यह हुआ है कि व्यक्तित्वरहित चरित्र का निर्माण हुआ है और मनुष्य की स्थिति दैत्याकार मशीनों के बीच मात्र चक्के के दाँत की रह गई है। यहाँ जिन दशाओं में मनुष्य काम करता है और अवकाश प्राप्त करता है उन्हीं के कारण अजनबी बन जाता है। इस प्रकार के हिसाबी जगत में रहने के लिये हृदय पर बराबर बुद्धि को प्रमुखता देनी पड़ती है जिससे मनुष्य की संवेदनायें और उसकी भावनाएं बुरी तरह कुचल दी जाती है। सीमेन ने मार्क्स, दुर्खीम और दूसरों की अन्तर्दृष्टि का इस्तेमाल करते हुए

आत्म-निर्वासन की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख किया है। सीमेन द्वारा बतायी गयी आत्म-निर्वासन की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं -

- (1) शक्तिहीनता
- (2) अर्थहीनता
- (3) सम्बन्धहीनता।

“विसंगतियों में घिरी हुई मनुष्य की स्वतंत्रकामी चेतना वातावरण और परिवेश के प्रति अपने आप को अजनबी पाती है और निर्वासित अनुभव करती है। इस बोध को अस्तित्ववादियों ने आत्म-परायेपन का बोध कहा है।”<sup>88</sup> “अस्तित्ववाद व्यक्तिवादी जीवन-दृष्टि है। व्यक्ति को एक सीमा तक महत्व देना बुरी बात नहीं है लेकिन समाज के मुकाबले उसके महत्व की प्रतिष्ठा निश्चय ही चिन्त्य है। अस्तित्ववाद में व्यक्ति को बलपूर्वक सर्वाधिक गण्यतम और महत्वपूर्ण मानने का एक फल यह भी हुआ है कि अकेला व्यक्ति और भी अलग, अकेला और आत्मनिष्ठ बनता गया है।”<sup>89</sup> एकाकीपन से उनका यही मतलब होता है कि ईश्वर का अस्तित्व नहीं है और इसके सारे परिणामों का सामना स्वयं मनुष्य को ही करना है। ईश्वर के अभाव में मनुष्य एकाकी रह जाता है, क्योंकि उसे अपने भीतर या बाहर कोई भी ऐसी वस्तु नहीं मिलती जिसका वह आश्रय ग्रहण करे। इसलिए मनुष्य एकाकी है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि अस्तित्ववादी दार्शनिकों ने अपनी रचनाओं के द्वारा निराशा, विसंगति, शून्यता, व्यथा, संत्रास, मृत्यु-बोध तथा एकाकीपन को अभिव्यक्त किया है। उनके अनुसार दुःख और पीड़ा मानव के अस्तित्व की अनुभूति का अनिवार्य आधार है। अस्तित्ववादी दर्शन और साहित्य ने मनुष्य के यथार्थ रूप-चित्रण पर ही बल दिया है। द्वितीय महायुद्धोत्तर पाश्चात्य साहित्य में मानव जीवन की वैयक्तिक मनोवृत्ति का स्वर अधिक मुखरित हुआ है। इस युग के साहित्यकारों ने अस्तित्ववादी दर्शन से प्रभावित होकर व्यक्ति-जीवन की गतिविधियों एवं व्यक्ति के मानसिक द्वन्दों का चित्रण किया है। पाश्चात्य साहित्य जगत में सार्त्र, कामू, फ्रेंज काफ़का, जेम्स, ज्वाइस, दास्तोवस्की, टामस मॉन, हेनरी जेम्स, साइमन दे बाउआ आदि ने अपनी महत्वपूर्ण रचनाओं के द्वारा अस्तित्ववादी कला को अभिव्यक्ति दी है। स्वतन्त्रता परवर्ती हिन्दी उपन्यासकारों ने अस्तित्ववादी दर्शन से प्रभावित होकर एक नए जीवन-दर्शन को कलात्मक ढंग से अभिव्यक्त करने का प्रयास किया है। मानव जीवन की जिस निराशा, वेदना, पीड़ा, व्यथा, कुण्ठा, एकाकीपन और मृत्युबोध आदि अलगाव की विभिन्न स्थितियों का चित्रण पश्चिम के अस्तित्ववादी साहित्य में हुआ है, वैसा ही चित्रण स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी साहित्य में अत्यन्त सफलतापूर्वक हुआ है। निष्कर्ष, उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आत्म-निर्वासन के विविध आयाम और दिशाएँ होती हैं। किन्तु इस विवेचन से यह भी मालूम होता है कि अलगाव-चिन्तन के इतिहास-क्रम ने एक लम्बी यात्रा तय की है। सम्पत्ति, विधि, धर्म, राजनीति, चिकित्सा-शास्त्र

आदि कई क्षेत्रों से होते हुए आधुनिक युग में आत्म-निर्वासन की अनेक स्पष्ट दिशाएँ तथा व्याख्याएँ व्यक्ति एवं समाज के संदर्भ में प्रस्तुत की गई हैं।

### (ख) आत्म-निर्वासन का भारतीय स्वरूप

भारतीय भाषायी साहित्य में आधुनिकता के भावबोध के अन्तर्गत जो अलगाव, अकेलापन तथा अजनबीपन की समस्याओं का निरूपण हुआ है, वह एक सीमा तक पश्चिम के अस्तित्ववादी चिन्तन का प्रभाव है। 19वीं शताब्दी से ही यूरोप में कुछ ऐसे परिवर्तन हुए जिनके कारण यूरोपीय देश उद्योग-प्रधान देश हो गये। यूरोप में नए-नए उद्योगों का आविर्भाव हुआ और औद्योगिक शहरों की स्थापना भी हुई। उस समय, सबसे बड़ा परिवर्तन यही हुआ था कि विज्ञान एवं तकनीकी के विकास के कारण मानवीय शक्ति के स्थान पर बड़े-बड़े मशीनों का आविष्कार हुआ। परिणामतः बड़े-बड़े मिल और कारखाने बनाये जाने लगे जिनमें सैकड़ों लोग बिना एक-दूसरे को जाने तथा बिना अपने स्वामी से परिचित हुए काम करने लगे। इस औद्योगीकरण और विज्ञानवाद से यांत्रिक सभ्यता का प्रचार प्रबल हो गया। साधारण मनुष्य मशीन को चलाने और उसे नियन्त्रित करने के अतिरिक्त किसी और काम का नहीं रहा। यह एक युगान्तकारी परिवर्तन था। विज्ञान के विकास एवं भौतिक पदार्थों की बहुतायत ने व्यक्ति को पहले से अधिक भयभीत एवं अधीर बना दिया है। इसलिए उसके जीवन में असुरक्षा एवं अलगाव का भाव उदित होने लगा। वह अपने को खोया हुआ महसूस करने लगा। हिन्दु जीवन दर्शन में भी आत्मा के अकेलेपन की चर्चा है लेकिन वहाँ वह निर्वासन के रूप में स्वीकृत न होकर आत्मा का स्वभाव माना गया है।

वास्तव में वैज्ञानिक उन्नति और औद्योगीकीकरण के फलस्वरूप पुरानी मान्यताएँ अर्थहीन हो गयीं तथा पूरब-पश्चिम की सांस्कृतिक टकराहट में व्यक्ति ने अपने को मूल्यों के स्तर पर अकेला पाया। अभी भी जो परम्परागत जीवन जी रहे थे तथा जिनका विश्वास इसमें बना हुआ था उनके लिये मूल्यगत संकट की स्थिति नहीं थी, क्योंकि सारी विसंगति को भोगने के लिये वे मानसिक स्तर पर तैयार थे। कर्मवाद, भाग्यवाद और ईश्वर के प्रति जीवित आस्था के कारण ऐसे व्यक्ति मानसिक द्वंद और टूटन के शिकार नहीं हुए। “आधुनिक विज्ञान, औद्योगिक सभ्यता और तकनीकी विकास ने आज के आदमी को अकेला और अजनबी बनाया है। वह एक ओर परम्परा और अतीत से अलग हुआ है तथा दूसरी ओर भविष्य से। परम्परा और अतीत से विच्छिन्न होने के कारण उसमें परायापन विकसित हुआ है। आज के औद्योगिक युग में मनुष्य के श्रम और उत्पादन पर उसका नियंत्रण न रहा। .... वह एक पराई चीज होकर रह गई। मशीनी संस्कृति ने मनुष्य को यंत्र का पुर्जा बनाकर छोड़ दिया है।”<sup>90</sup> विज्ञान और मनोविज्ञान के बढ़ते हुए चरणों ने धर्म और नीति के परम्परागत विचारों को कमजोर बना दिया है। परिणामतः मनुष्य अपनी धार्मिक, नैतिक, आध्यात्मिक और अनुभवातीत जड़ों से कट गया है।

भौतिक तकनीकी विकास एवं यांत्रिक सभ्यता में व्यक्ति को एक जड़ वस्तु के रूप में देखा गया और वह भीमकाय मशीनों का एक साधारण पुर्जा का दर्जा मात्र समझा गया है। “उन्नीसवीं शताब्दी की समस्या यह थी कि ईश्वर मर चुका है, जबकि बीसवीं शताब्दी की समस्या है कि मनुष्य ही मर चुका है। उन्नीसवीं शताब्दी में अमानवीयता का अर्थ था क्रूरता, जबकि बीसवीं शताब्दी में इसका अर्थ है आत्म-निर्वासन। पहले युग का डर था कि मनुष्य गुलाम है, जबकि भविष्य का डर है वह यंत्र का पुर्जा बन जायेगा।<sup>91</sup> इस प्रकार स्पष्ट है कि यंत्रों ने मनुष्य के मनुष्यत्व को नष्ट कर दिया है। मशीनीकरण, यांत्रिक सभ्यता नगर जीवन तथा विश्वयुद्ध जैसे कारणों ने मनुष्य और उसके जगत के बीच गहरा अलगाव पैदा किया है। इस नए वातावरण ने साहित्य के विषय को भी बदल दिया और इसलिए साहित्य में अकेला, अजनबी और अलगावग्रस्त व्यक्ति का चित्रण प्रस्तुत किया गया है।

हम यह भी स्वीकार कर सकते हैं कि ये समस्याएं अधिकतर नगर जीवन से ही सम्बन्धित हैं। इसलिए ही आधुनिक साहित्य में नगर जीवन के चित्र अधिक मिलते हैं। विज्ञान एवं तकनीकी प्रगति के प्रभाव से शहरीकरण के विकास की प्रक्रिया शुरू हुई। महानगरों में जनसंख्या की भीड़ एकत्रित होती रही। महानगरों का जीवन अत्यधिक यांत्रिक होता है और व्यक्ति भीड़ में जीता हुआ भी अकेलापन महसूस करता है। ऐसी स्थिति में मानवीय सम्बन्धों का परस्पर सहारा भी टूटने लगा। नगरों में बसने वाले लोग पारस्परिक मानवीय सम्बन्धों पर नए सिरे से विचार करने लगे। जीवन के भार को अकेले ढोने की चिंता तथा अपनी ही स्वतंत्रता के नष्ट होने के एहसास ने मानव के भीतर गहन वेदना, संत्रास, आतंक एवं असुरक्षा को जन्म दिया है। ‘लोग सड़कों और मनोरंजन स्थलों में एक दूसरे के करीब हो रहे हैं, लेकिन मानसिक तौर पर उनका फासला बढ़ता जा रहा है। भीड़ में खोये हुए लोग जितना एक दूसरे के करीब हो रहे हैं उतना ही उनके निजी जीवन का संकट बढ़ रहा है। नगरों की सभ्यता में पले लोग एक दूसरे के बन्धुत्व का सहारा नहीं ले सकते – वे सब गुमनाम, बेनाम, बेचेहरा लोग हैं। उनका न कोई निजी अस्तित्व है न कोई हमदम न बन्धु और वे तन्हाई की अन्धी गलियों में सहमे हुए भटक रहे हैं.....’<sup>92</sup> इस प्रकार तकनीकी साधनों के बल पर भीड़ के लिए संगठित उत्पादन व्यवस्था आधुनिक मानव के अस्तित्व के लिए सबसे बड़ा खतरा सिद्ध होता है। आधुनिक पश्चिमी साहित्य में आधुनिक मानव के इसी खतरे का चित्रण बहुधा किया गया है। इन सब स्थितियों के अलावा प्रथम एवं द्वितीय विश्व महायुद्ध की विभीषिकाओं ने मनुष्य को अधिक असहाय एवं बेबस बना दिया है। युद्ध की विभीषिकाओं के कारण दुनिया भर में करुणा, भय, निराशा, मृत्यु-संत्रास एवं वेदना का वातावरण छा गया। युद्ध के विनाश से मानव-अस्तित्व की रक्षा ईश्वर द्वारा न होती देख, ईश्वरीय आस्था का लोप होना स्वाभाविक है और सभी नैतिक मूल्यों का पतन भी हुआ। इन स्थितियों के कारण समूचे यूरोपीय साहित्य में आस्था, निराशा, कुण्ठा, असंतोष, संत्रास, अजनबीपन, अकेलापन एवं अलगाव की भावना की अभिव्यक्ति

सहज रूप से प्रकट होने लगी। यूरोपीय साहित्य का प्रभाव समूचे विश्व साहित्य पर पड़ा और इसलिए भारतीय साहित्य भी इससे अछूता न रह सका। आगे भारतीय साहित्य में आत्म-निर्वासन की अभिव्यक्ति होने के कारणों पर विचार किया जायेगा।

हिन्दी के कुछ लेखक “अलगाव” को विदेशी परिवेश के प्रभाव से ओढ़ा हुआ तथ्य मानने के पक्ष में हैं। “अकेलापन जहाँ पोज़ के रूप में आया है या एक नयी रोमांटिक भंगिमा में, वह साहित्यिक कृतित्व का अंग नहीं है। वह नकली और झूठा है...।<sup>93</sup> उनके मत में – “अकेलापन, अजनबीपन और व्यर्थता-बोध पर आधारित उपन्यासों में जो जीवन चित्रित हुआ है वह आम आदमी का नहीं है। इन उपन्यासों का कथ्य विशिष्टजनों के विशिष्ट संदर्भों को खोलता है। इन उपन्यासों के मूल में विदेशी चिन्तन – विशेषतः अस्तित्ववाद विद्यमान है।<sup>94</sup> लेकिन यह कहना संगत नहीं है कि आत्म-निर्वासन की भावना विदेशी है और भारतीय परिवेश से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। हिन्दी के अनेक विद्वान भारतीय संदर्भ में ही आत्म-निर्वासन को खोजने के पक्ष में हैं। “यह नहीं कहा जा सकता कि आत्म-निर्वासन की धारणा विदेशी है और देश की मिट्टी एवं गंध से उसका कोई संबंध नहीं है। यह कहना भी कि भारतीय साहित्य में अलगाव को ढूँढना, पाश्चात्य दृष्टिकोण को भारतीय साहित्य पर थोपना है, तर्क संगत नहीं है। वस्तुतः कोई विशिष्ट धारणा किसी विशिष्ट साहित्य की बपौती नहीं होती तथा वे धारणायें अपनी परिस्थितियों के अनुरूप विशिष्टतायें रखती हैं। इसलिए यह तर्क देना कि भारतीय समाज में ऐसी जटिल परिस्थितियाँ ही नहीं हैं कि व्यक्ति को संत्रास, अलगाव या निरर्थकता से जूझना पड़े, यथार्थ से आँखें मूँद लेना है।<sup>95</sup>

यद्यपि भारत में यांत्रिकता, औद्योगिकीकरण और यांत्रिक सभ्यता का इतना प्रचार-प्रसार नहीं हुआ और अस्तित्व पर वह संकट दिखाई नहीं पड़ा जो यूरोपीय देश में हुआ। किन्तु एक विदेशी सत्ता द्वारा पराधीनता व शोषण के कारण भारतीय जन-जीवन में भी गहरी वेदना एवं निराशा छा गई थी। प्रथम एवं द्वितीय महायुद्ध भारत की भूमि पर नहीं हुआ, किन्तु उनका परिणाम समूचे संसार पर पड़ा और भारत भी इसका अपवाद न रहा। इसलिए यहाँ के जन-जीवन में भी सुरक्षा एवं शान्ति की वह भावना न रह गई जो इससे पूर्व पाई जाती थी। स्वतन्त्रता के पहले भारतीय साहित्य में संवेदना के स्तर पर अलगाव-बोध का चित्रण नहीं हो रहा था। मगर आधुनिक काल के आते ही अलगाव की अभिव्यक्ति संवेदना के स्तर पर होने लगी। स्वतंत्रता के पश्चात् तेजी से होने वाले आधुनिकीकरण एवं शहरीकरण एवं मशीनीकरण की प्रक्रिया से, राजनीति के क्षेत्र में पनपे भ्रष्टाचार से उत्पन्न मोह भंग से, परिवेश के दबाव के कारण पैदा हुई यांत्रिक स्थितियों आदि से भारतीय परिवेश में भी आत्म-निर्वासन का भाव उभरने लगा। भारतीय संदर्भ में आत्म-निर्वासन के विभिन्न कारणों के बारे में संक्षिप्त रूप से विचार किया जायेगा।

सन् 1947 के बाद भारत एक स्वतंत्र देश बना। 1947 के देश-विभाजन के समय जो मारकाट हुई और जिस प्रकार लोग विस्थापित हुए, उसके कई साल बीत जाने पर भी लोगों के मन से उस भीषण अनुभव की याद गई नहीं, बंगाल-का अकाल, द्वितीय विश्व महायुद्ध, सांप्रदायिकता, देश विभाजन से उत्पन्न भीषण रक्तपात, अंग्रेजी साम्राज्यवादी शासन का अन्त और कांग्रेस द्वारा सत्ता हस्तान्तरण आदि ऐसी घटनाएँ हैं जिन्होंने भारतीय जन-चेतना को झकझोर दिया है। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद भी देश के कई भागों में सांप्रदायिक विद्वेष और दंगों की लहरें उठती ही रहती हैं। हमारे राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक गठन की भिन्नता की वजह से एक ही देश में एकसाथ रहते हुए विभिन्न संप्रदायों के लोग संग-साथ को एक बेचैनी या विवशता के रूप में ही मान लेते हैं। "सह-अस्तित्व की बात भले ही निरन्तर दोहरायी जाती रहे, किन्तु उसे मानसिक स्वीकृति हम नहीं दे पाते हैं। फलतः बात-बात पर विद्वेष की भभक, आये दिन फूट पड़ती है और भीषण मारकाट का अनायास रूप धारण कर लेती है। अपने ही देश में रहते हुए, क्या बहुसंख्यक और क्या अल्पसंख्यक, सभी अजीब तनाव की स्थिति में जी रहे हैं। यह संत्रास की स्थिति नहीं है तो और क्या .... इनके कारण स्वतंत्र देश में स्वाभाविक आत्मबल नहीं जग सका है। उल्टे लोग अपने आप में सिमटकर अधिक आशंकित, स्वार्थी और बेईमान हो गए हैं। ऐसी अवस्था के बीच व्यक्ति का घबराकर असहाय और अकेला हो जाना अस्वाभाविक नहीं है।"<sup>96</sup> इसलिए आदमी के अकेले, निर्वासित एवं पराये होने का चित्रण आधुनिक काल के उपन्यासों में होना स्वाभाविक है।

वास्तव में भारतीय परिवेश में अलगाव का एक प्रमुख कारण चारों तरफ बढ़ने वाले औद्योगिकीकरण एवं मशीनीकरण की प्रक्रिया है। स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् भारत में औद्योगिकीकरण का काफी विकास हुआ। नए-नए वैज्ञानिक आविष्कारों ने मनुष्य को भी यन्त्र का पुर्जा बना दिया है। औद्योगिकीकरण के विकास से यही दशा आ गई है कि यन्त्र मनुष्य के लिए नहीं रह गया, बल्कि मनुष्य यन्त्र के लिए एक साधन रह गया है। मनुष्य अपने आपको अत्यन्त नग्न एवं क्षुद्र समझने लगा। 'औद्योगिक क्रान्ति की शुरुआत करने के लिए जिस संस्कृति का वरण हुआ, उसने हमारे उपभोग का आधुनिकीकरण तो अवश्य कर दिया, पर प्रकारांतर से बेरोजगारी, गरीबी, काहिलापन, ऊब और कामुकता का प्रसाद देकर हमारी आंतरिकता से हमें विस्थापित कर दिया, जिसे सदियों पुराने, जड़ समाज के अंधविश्वासों से ग्रस्त करोड़ों देशवासियों का हमारा देश बर्दाश्त न कर सका।"<sup>97</sup> यह स्थिति धीरे-धीरे मनुष्य की मनुष्यता को छीनती जा रही है तथा उसके भीतर के रागात्मक सम्बन्धों को विनष्ट करती जा रही है। ऐसी स्थिति में संवेदनशील साहित्यकार के मन में मनुष्य जाति के भविष्य के सम्बन्धमें गहरी शंका पैदा होना स्वाभाविक है। इस प्रकार वे अपनी रचनाओं में मनुष्य के अजनबी, निर्वासित एवं अकेले होने की अवस्था का चित्रण करने लगे।

भारतीय परिवेश में अलगाव-बोध का दूसरा महत्वपूर्ण कारण औद्योगीकरण के फलस्वरूप उभरा शहरीकरण एवं महानगरीकरण की प्रक्रिया का विकास है। हम देखते हैं कि हमारे गाँव कस्बों, कस्बे शहरों एवं शहर महानगरों में परिवर्तित हो रहे हैं। इस परिवर्तन का काफी प्रभाव मानव-जीवन पर पड़ा है। पश्चिमी सभ्यता में व्यक्ति एक स्वतन्त्र इकाई होकर निकला। जबकि हमारे यहाँ गाँव ही एक इकाई रहा था। इसलिए गाँव का व्यक्ति जब तक गाँव से जुड़ा हुआ है, तब तक अपनी पारम्परिक आस्थाओं से जुड़े रहता है। “मजदूरी के लिए शहर जाने पर वही व्यक्ति जब तक मानसिक स्तर पर गाँव से सम्बद्ध रहता है, ऊब और तनाव का शिकार नहीं होता। लेकिन नई चेतना के संस्पर्श और नए विचारों की सुगुबुगाहट से जब आस्थाएँ ढहने लगती हैं तब उन सारी मान्यताओं पर प्रश्नचिह्न लग जाता है और अजनबीपन की समस्या धीरे-धीरे उसके मानस में गहराने लगती है।”<sup>98</sup> लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि ग्रामीण परिवेश में अलगाव की अनुभूति नहीं है। आजादी के बाद जहाँ गाँव बदले हैं, वहाँ परिस्थितियाँ भी पहले की अपेक्षा काफी जटिलतर हो गई हैं। ग्रामीण-जीवन अब सरल और सामान्य न होकर विषम एवं पेचीदा बन गया है। पूँजीवादी व्यवस्था और सामन्ती व्यवस्था की कुरीतियों से गाँव के सामूहिक जीवन चकनाचूर होने लगा और फलस्वरूप व्यक्तिवाद को बढ़ावा मिला। इस प्रकार गाँव में भी व्यक्तिवाद और दोहरे जीवन की शुरुआत हुई, तथा ग्रामीण बुद्धिजीवी अपेक्षाकृत निर्वासित एवं पराया होने लगा। “ग्रामीण बुद्धिजीवी अपेक्षाकृत पराया नहीं है क्योंकि वह ग्राम-समुदायों में कई तरह की सम्मानपूर्वक भूमिकाएँ निभा रहा है, किन्तु वहाँ जाति, धर्म और गुट के कारण अकेलापन तथा अलगाव है। परायेपन की यह उपच्छाया आगे गहरा सकती है।”<sup>99</sup> इसके अलावा वोट की राजनीति ने भी हमारे ग्रामीण जन-समुदाय के हृदयों में आशंका, घृणा, विद्वेष एवं अविश्वास का बीजारोपण किया है।

हम देख सकते हैं कि महानगरों में रहने वाले लोगों को आत्म-निर्वासन से जूझना पड़ता है। शहरी जीवन जड़ एवं यांत्रिक है जहाँ चारों तरफ भीड़ एवं शोर है। यहाँ व्यक्ति भीड़ में जीता हुआ अकेलापन महसूस करता है। “नगरीय जीवन निश्चय ही बड़ा विडम्बनापूर्ण है। एक ओर व्यक्तिवादी चेतना को प्रश्रय देने वाले तथा मानवीय अधिकारों की घोषणा करने वाले महानगरों ने ही दूसरी ओर ऐसी स्थिति विकसित की है कि उसमें रहकर मनुष्य अपने को, अपने से तथा अपने बनाए गए सम्बन्धों से स्वयं को पृथक पाता है। उसका अपने ऊपर किसी प्रकार का नियन्त्रण नहीं हो रहा है। नगरों की भौतिक तकनीकी सभ्यता ने व्यक्ति को एक वस्तु के रूप में देखा है तथा उसे भीमकाय मशीनों का साधारण पुर्जा मात्र बना दिया है। व्यक्ति का ‘स्व’ से वियोजन उसे आदमी नहीं रहने देता, उसे मात्र काम करने की मशीन बना देता है।”<sup>100</sup> हिन्दी-साहित्याकाश में उभरने वाले लेखकों में ‘अज्ञेय’ का नाम सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। उनकी उस काल की सुप्रसिद्ध कृति ‘शेखर : एक जीवनी’ अपनी प्रखर बौद्धिकता के कारण विशेष रूप से उल्लेखनीय रही है। आधुनिकता की स्वीकृति इसके मूल में है। कॉलिन विल्सन



के 'रोमेंटिक आउटसाइडर' की स्थितियाँ उसमें प्रचुरता के साथ मिलती हैं। खासकर कल्पना और सुनहले सपनों की दुनिया, सत्य के लिये दृढ़ चाह, सौन्दर्य की खोज शेखर को इस दुनिया से विद्रोही बना देती है। वह ईश्वर के अस्तित्व और उसके प्रति आस्था पर बार-बार प्रश्न-चिन्ह लगाता है। परिवार, समाज या वर्तमान व्यवस्था के बने-बनाये ढाँचे से वह किसी प्रकार तादात्म्य नहीं स्थापित कर पाता। शेखर का यह विद्रोहीपन इसी 'आउटसाइडरनेस' का एक पहलू है जिसका जिज्ञा कौलिन विल्सन ने किया है। यह अतिशय बौद्धिकता का दबाव है जो एक तरफ तो पारम्परिक मूल्यों को विनष्ट करता है, उसके प्रति अविश्वासी बनाता है और दूसरी तरफ इनके स्थानापन्न के रूप में नये मूल्यों के विकसित न होने और अपने को ठीक तरह से अभिव्यक्त न कर पाने के कारण शेखर को रोमेंटिक आउटसाइडर बना डालता है।

हिन्दी के सुप्रतिष्ठित रचनाकार सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' अजनबीपन की समस्या को 'मूल्यगत द्वंद' और 'अस्मिता के संकट' के रूप में अनुभव करते हैं तथा स्वीकारते हैं कि "संकटग्रस्त अस्मिता का बोध सब आधुनिकों को है।"<sup>101</sup> वे आत्म-निर्वासन की उपस्थिति को भारतीय संदर्भ में मानते हैं तथा तकनीकी प्रगति को इसके मूल में देखते हैं। रचनाकार के रूप में 'अज्ञेय' ने आत्म-निर्वासन के विविध आयामों का सर्वाधिक साक्षात्कार सक्षम रूप से किया है। इसके सांस्कृतिक पहलू के प्रति भी वे सचेत हैं। विज्ञान की तेज प्रगति से बाह्य जगत का मानचित्र जिस गति से बदला है उसका परिणाम यह हुआ है कि जितने ही हमारे जानने के साधन बढ़ गये हैं, उतने ही हम अजनबी हो गये हैं; अपने निकटतम पड़ोसी को भी नहीं जानते - बल्कि अपने को ही दिन-ब-दिन कम पहचानते हैं, जल्दी ही बिल्कुल नहीं जानेंगे।' एक जगह कहते हैं : "ध्रुव निश्चयपूर्वक इतना ही जान पाया हूँ कि जो जीवन जी रहा हूँ, यह मेरा नहीं है। ऐसे नहीं जीना चाहता, ऐसे नहीं जी सकूँगा.....।"<sup>102</sup> इस पुस्तक में इस प्रकार के विशिष्ट क्षणों की सशक्त भाषिक अभिव्यक्ति मिलती है जिसमें से आत्म-निर्वासन का बोध कौंधता रहता है। ऐसा ही एक विशिष्ट क्षण जिसमें अकेलेपन की मुखर स्वीकृति है : 'अकेला तो मैं हूँ। ठीक है, अकेला हूँ। पर क्यों अकेला हूँ? क्या इसलिये कि राह से भटका हुआ हूँ? या समर्थ हूँ इसलिये अकेला हूँ? .....।'<sup>103</sup>

डॉ. रमेश कुन्तल मेघ ने आत्म-निर्वासन के विविध पहलुओं और आयामों को आधुनिकता के संदर्भ में विवेचित करने का गंभीर व सृजनात्मक प्रयास किया है। सबसे पहले इन्होंने आत्म-निर्वासन के पारिभाषिक और अवधारणात्मक स्वरूप को स्पष्ट किया है। इनकी मान्यता है कि परायेपन की मूल धुरी कार्य से पृथक हो जाने में है। अर्थात् आधुनिक युग में 'मनुष्य का अभिलषित मुक्त, सचेतन, सहज और रचनात्मक कार्य अजनबी हो गया है तथा वह अपनी निजता खो बैठा है। इस तरह अजनबी कार्यकृति तथा निर्व्यक्तिक मनुष्य क्रमशः अकेली भीड़ तथा अजनबी इंसान हेतु है। यही 'आत्मपरायेपन' की धारणा है।' अजनबीपन की अवधारणा पर प्रकाश डालने के बाद 'स्वसामयिक परिदृश्य में भारतीय बुद्धिजीवियों का

आत्मपरायापन 'शीर्षक अध्याय' में डॉ. रमेश कुन्तल मेघ ने अजनबीपन का विवेचन भारतीय संदर्भ में किया है और कहा है कि यह हमारी शताब्दी तथा रूपान्तरित होते हुये स्वदेश का सबसे तेजस्वी प्रश्न और समस्या है। आत्म-निर्वासन की समस्या पर गहराई से विचार करने के उपरान्त उन्होंने अपना मत प्रकट किया है कि मध्यकाल में कुटीर उद्योगों वाले कारीगरों तथा बेदखल किसानों के बीच आत्म-निर्वासन विद्यमान था किन्तु उन्हें इसका ज्ञान नहीं था। डॉ. मेघ के अनुसार भारतीय सामाजिक जीवन में व्याप्त आत्म-निर्वासन विवश और अपंग किन्तु ऊर्जस्वी मनुष्य का परायापन है जो कर्म का अवसर नहीं पा सका है। इसी से उनका विश्वास है कि भारत में समाजवादी समाज के निर्माण से आत्म-निर्वासन पर विजय प्राप्त की जा सकती है। अपनी दूसरी महत्वपूर्ण पुस्तक 'अथातो सौंदर्यजिज्ञासा' में उन्होंने सामंती संरचना वाले समाज में उभरने वाले अजनबीपन का संकेत किया है तथा दिखाया है कि कैसे मध्यकालीन सामंती व्यवस्था में सत्ताधारी वर्ग और मेहनतकश जनता के बीच दरार बढ़ती गई और ये धीरे-धीरे सांस्कृतिक प्रवहमान धारा से कटकर अजनबी बनते गये। इस अजनबीपन के कारण श्रमजीवी जनता मूढ़, ग्रामीण तथा हेय होती गयी। हिन्दी साहित्य क्षेत्र में अजनबीपन के संक्रमण की चर्चा वे प्रेमचन्द की बहुचर्चित कहानी 'कफन' (1936) से करते हैं, जिसमें वे कार्ल मार्क्स द्वारा 'अजनबी श्रम' शीर्षक लेख में प्रस्तुत 'श्रम के परायेपन' की अवधारणा की स्पष्ट अभिव्यक्ति देखते हैं। इसके अलावा इन्होंने अन्य महत्वपूर्ण रचनाकारों गजानन माधव मुक्तिबोध, निर्मल वर्मा, मन्नू भण्डारी, दूधनाथ सिंह आदि अनेक युवा लेखकों की रचनाओं में अभिव्यक्त अजनबीपन की धारणा का आलोचनात्मक विवेचन अपनी विभिन्न कृतियों में प्रस्तुत किया है।

भारतीय समाज में आत्म-निर्वासन की चर्चा भिन्न-भिन्न संदर्भों में हुई है। कई चिन्तकों ने इस समस्या पर अलग-अलग दृष्टिकोणों से विचार किया है। आज के भारतीय समाज और जनजीवन में उपस्थिति आत्म-निर्वासन की भावना को 'सांस्कृतिक अवरोध' और 'जातीय अस्मिता के संकट' के रूप में व्याख्यायित करके इस समस्या के स्वरूप को स्पष्ट करने वाले चिन्तकों में डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी और निर्मल वर्मा के नाम उल्लेखनीय हैं जिन्होंने इस समस्या से छुटकारा पाने के सम्बन्ध में भी गंभीर चिन्तन किया है। डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी इसे पूर्वी और पश्चिमी मूल्यों के द्वंद के रूप में देखते हैं। अपने एक लम्बे निबन्ध में इस मूल्यगत द्वंद के विभिन्न पहलुओं की चर्चा करते हुये वे इस समस्या का बड़ा सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं। पूर्व और पश्चिम के बीच आज बहुत बड़ा व्यवधान है जिसके फलस्वरूप विचित्र-सी रिक्तता की अनुभूति होती है। इससे मुक्त होने के लिये डॉ. चतुर्वेदी आधुनिक होने का सुझाव देते हैं। आधुनिक होने का अर्थ वे 'रचनात्मक प्रक्रिया के प्रति सजगता का भाव' और 'इतिहास की द्रुततर गति से परिचालना' से लेते हैं, जिसमें 'गति भले ही क्षिप्र से क्षिप्रतर हो पर इतिहास के सभी महत्वपूर्ण दौरों का जीवन्त स्पर्श मिल जाये। "जीवन की उत्तरोत्तर बढ़ती गतिशीलता और जटिलता को ठीक से पहचानने और तदनुकूल अपनी संचरण-पद्धति निर्धारित करने की बात

करते हैं क्योंकि आधुनिकता वह दृष्टि और जीवन-पद्धति है जो पूर्व और पश्चिम के बढ़ते हुये अंतराल को कम करे सामंजस्य के लिये आवश्यक भाव-भूमि प्रदान कर सकती है।<sup>104</sup>

दूसरे चिन्तक निर्मल वर्मा इन प्रश्नों को बड़े व्यापक संदर्भ में सांस्कृतिक स्तर पर उठाते हैं। वे भारतीय और योरोपीय संस्कृति के वैशिष्ट्य को उभार कर उन मूलभूत अंतरों को रेखांकित करते हैं जिनसे योरोपीय या भारतीय सांस्कृतिक चेतना का सृजन हुआ है। वे हमारा ध्यान भारत की तुलना में पिछले एक हजार वर्षों में यूरोपीय मानस में हुये उन बुनियादी परिवर्तनों की तरफ आकर्षित करते हैं जिसने यूरोपीय मनीषा के ताने-बाने को आद्योपान्त बदल दिया है। वे भारत में अंग्रेजी राज्य के विरुद्ध संघर्ष को महज राजनैतिक स्तर पर न मानकर उसमें छिपे महत्वपूर्ण सांस्कृतिक पहलू को देखते हैं जहाँ भारतीय मनीषा की टकराहट सीधे यूरोपीय मान्यताओं से होती थी। यूरोपीय चिन्तकों के भारतीय संस्कृति व परम्परा के सतही ज्ञान पर प्रहार करते हुये उन भारतीय बुद्धिजीवियों की भर्त्सना करते हैं जिन्होंने भारत की मुक्ति और विकास का एकमात्र रास्ता पश्चिम की राजनैतिक और सामाजिक संस्थाओं में देखा था उन बुद्धिजीवियों ने पश्चिम की तथाकथित चुनौती का सामना करने के बहाने अपने देश की समूची जीवनधारा को एक ऐसे भविष्य की ओर मोड़ दिया था जो सिर्फ आत्मछलना थी। पिछले सौ वर्षों की आत्मछलना संस्कृति हमारे वर्तमान संकट के बीच है। पश्चिमी तकनीकी सभ्यता को जबरदस्ती अपने ऊपर लागू करके उन अमानवीय अंतर्विरोधों का शिकार भारतीय समाज हो गया, जिनसे आज पश्चिमी जगत बुरी तरह ग्रस्त है, पर देश के कर्णधारों ने कभी भी इस औद्योगिक प्रगति को जातीय गति से जोड़कर नहीं देखा। भारतीय समाज-व्यवस्था पर एक किस्म का एकरूप ढांचा लादने का मतलब है उन बहुमुखी स्त्रोतों को नष्ट कर देना जिनसे वह जीवन्त प्रेरणा ग्रहण करती रही है। डेढ़ सौ साल पहले लिये गये निर्णयों के पुनर्मूल्यांकन की आवश्यकता का अनुभव निर्मल वर्मा इसी संदर्भ में करते हैं।

पुराने समाज से आज के समाज में आया यह बदलाव चाहे शिक्षा के द्रुत प्रसार से हुआ हो या औद्योगिकीकरण के बढ़ते कदमों से, इससे जीवन की जटिलतायें बढ़ती गईं और पुराने प्रतिमान अप्रासंगिक होकर चुक गये। पहले चीजें इतनी उलझी हुई नहीं थी। हर चीज का अपना एक निश्चित अर्थ होता था तथा सीमित वर्गीकरण से काम चल जाता था। पर अब सब कुछ बदल गया है। इस बदलते हुये परिवेश और इससे उत्पन्न मोह भंग की स्थितियों तथा जीवन में बढ़ती ऊब, तनाव या निराशा या विसंगति और अजनबीपन की स्थितियों को चित्रित करने की तरफ हिन्दी साहित्यकार झुका। इससे साहित्य में एक नया मोड़ आया। मोहन राकेश जैसे समर्थ रचनाकार की सारी रचनाओं की पृष्ठभूमि इसी महानगरीय जीवन की विसंगति और अजनबीपन के बोध पर आधारित है। मोहन राकेश अपने शिल्प विधान में प्रेमचन्द-स्कूल के हैं, इसी से पारम्परिक तथा सर्वस्वीकृत ढांचे के अंतर्गत वे अपनी बात कहते हैं तथा संतुष्ट हो जाते हैं। उल्लेखनीय बात यह है कि इसी काल में 'अभिव्यक्ति के संकट' की चर्चा जोर

पकड़ती है, जिसे निर्मल वर्मा पारम्परिक ढाँचे को तोड़कर नये शिल्प के द्वारा हल करने का प्रयास करते हैं और नरेश मेहता और मणि मधुकर जैसे लेखक भाषा को झटके पर झटका देकर चौंकाने वाले प्रयोगों से। आज हम जीवन की जिस गहनता को भोग रहे हैं, उसकी अभिव्यक्ति के लिये शब्द-शक्ति शायद पर्याप्त नहीं है क्योंकि जो भी शब्द है, वे कभी-कभी ऐसे लगते हैं जैसे इनमें से अधिकांश संदर्भहीन, अर्थहीन और संस्कारहीन हो गये हैं। हिन्दी भाषा को अपना सही रूप जगदम्बा प्रसाद दीक्षित में आकर मिलता है जहां उपन्यास की भाषा भी काव्यभाषा के स्तर पर प्रतिष्ठित हो जाती है। इस प्रकार हिन्दी का रचनाकार महानगरीय जीवन की विसंगति का मुँहामुँह साक्षात्कार करने में किसी से पीछे नहीं है।

नगरों की भौतिक तकनीकी सभ्यता ने व्यक्ति को एक वस्तु के रूप में देखा है। स्वत्व से विलयन की अतिवेदना की समस्या को हिन्दी के रचनाकारों ने अपनी रचनाओं में स्पष्ट किया है। इन उपन्यासों के नायक प्रायः शहरी व्यक्ति हैं और उपन्यासों का वातावरण दिल्ली, बंबई, मद्रासजैसे महानगर है। मोहन राकेश ने अपने उपन्यासों में, महानगरों में रहने वाले मध्यमवर्गीय लोगों के आत्म-निर्वासन को चित्रित किया है। निर्मल वर्मा और महेन्द्र भल्ला की रचनाओं में शहरी जीवन का चित्रण प्रस्तुत किया गया है। महानगरीय परिवेश का दबाव, बढ़ती हुई भीड़ का अकेलापन, सहयात्री होकर भी अपरिचित एवं अजनबी बने रहने की संस्कृति का विकास आधुनिक महानगरीय जीवन की भयावह त्रासदी है। यांत्रिकता के कारण आधुनिक मानव विवशता और असहायता का अनुभव करते हुए अन्ततः जड़ता और अमानवीयता की ओर अग्रसर हो जाता है। हिन्दी में “वे दिन”, “एक चिथडा सुख”, “एक पति के नोट्स”, “अन्धेरे बन्द कमरे”, “अन्तराल”, आदि उपन्यासों में भी नगर जीवन में व्याप्त, अकेलापन, अजनबीपन, संत्रास, निरर्थकता, आत्म-निर्वासन आदि स्थितियों की विस्तार से चर्चा हुई है। नगर-महानगर का बोध निश्चय ही अपरिचय, अजनबीपन, अकेलापन, अनात्मीयता आदि के रेशों से बुना जाता है। “निकट के सम्बन्धों में भी तनाव और टूटन की स्थितियाँ यहाँ के व्यस्त जीवन में प्रायः बनती है। भाग-दौड़, उखाड़-पछाड़ और लाग-डॉट में उलझा-झुँझलाया नागरिक अनेक मुखौटे पहनने के लिए विवश होता है। कृत्रिमता और यांत्रिकता नगर-महानगर के जीवन के बोध को कठोर और निर्मम बनाते हैं। ..... अलगाव की अनुभूति महानगरीय जीवन जीने वाले व्यक्ति की मानसिक रूप से बीमार बनाने के लिए पर्याप्त है।..... मानसिक अस्वस्थता के मूल में आर्थिक-सामाजिक विषमता के अतिरिक्त भीड़-भाड़ से उत्पन्न अव्यवस्था और अलगाव के संदर्भ विद्यमान है....।”<sup>105</sup> हिन्दी के रमेश बक्षी, जगदम्बा प्रसाद दीक्षित, कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव, उषा प्रियंवदा ने भी महानगर की भीड़-भरी जिन्दगी और भीड़ में अपने अस्तित्व को खोजने वाले अलगाव-ग्रस्त पात्रों का चयन किया है। इसलिए स्पष्ट है कि आधुनिक कथाकार महानगरों को आत्म-निर्वासन का सबसे प्रमुख कारण मानते हैं। “अलगाव का सबसे बड़ा कारण नगर है – महानगर। महानगरों में आकर आदमी कहीं भी अपनी जड़ें नहीं रोप पाता,

अजनबियों के सैलाब में बहता हुआ एक सीमा के बाद वह खुद अजनबी हो जाता है।<sup>106</sup> “नगर का मनुष्य मानों एक मशीन का पुर्जा है। वह अपनी निजता खो देता है; वह निर्वैयक्तिक है। नगरवासियों पर किसी नैतिक मर्यादाओं का नियन्त्रण नहीं। उसके लिए सबकुछ नया है। इस नएपन में ईश्वर, धर्म और परम्पराओं का कोई स्थान नहीं, गौत्र, परिवार आदि से जुड़े हुए नातों का भी स्थान नहीं। अधिकांश मध्यम वर्ग के लोगों का जीवन शहर में निर्वासित है। यहाँ का मनुष्य अपनी निजता और अस्मिता खो देता है। वह एक दूसरे से अलग, एक दूसरे से अपरिचित एवं अजनबी रह जाता है। यही “एलियनेशन” या अलगाव का भाव है।<sup>107</sup> भारतीय परिवेश में अलगाव का दूसरा कारण भीषण गरीबी एवं अभाव की स्थिति है। इस दृष्टि में भारतीय परिवेश का अलगाव—बोध यूरोपीय परिवेश से भिन्न है। यूरोप में अलगाव—बोध वस्तुओं एवं पदार्थों की बहुतायत से पैदा हुआ है, जबकि भारत जैसे गरीब देश में अलगाव की भावना वस्तुओं के अभाव की वजह से पैदा होती है। “हमारे देश में परायेपन की एक विलक्षणता और है। यह धारणा श्रम तथा उपज, अवकाश (लेजर) तथा कार्य (वर्क) से सम्बन्धित है। यूरोप में श्रम और अवकाश, उपज और कार्य की यथेष्टता विद्यमान है। लेकिन एशिया के देशों में श्रम की प्रतीक्षा करते हुए बेकार हाथ, बेरोजगारी में परेशान, अवकाश में घुटते हुए बुद्धिजीवी तथा उपज की कमी से अभाव, भ्रष्टाचार एवं चोरबाजारी में फंसे हुए बुद्धिकर्मी है। अतः हमारा परायापन दूसरे ढंग का है। यूरोप में इफरात (एफ्लुएंस) वाले अर्थ तंत्र, पूरे रोजगार, पूरी तुष्टि तथा अधिक अवकाश के बीच आत्मनिर्वासन विकसित होता है और हमारी परिस्थितियाँ ठीक विपरीत है। अतः हमारे यहाँ एक विवश और अपंग किन्तु ऊर्जस्वी मनुष्य का परायापन है, जो कर्म का अवसर नहीं पा सका है। अतः यहाँ आक्रोश और क्षोभ की प्रधानता है, न कि दर्शन की विरक्ति और मृत्यु की साधना।<sup>108</sup> इस प्रकार हमें यह कहना पड़ता है कि गरीबी, बेरोजगारी और चारों ओर फैली अभावपूर्ण स्थितियों ने भारतीय जीवन में अलगावबोध को जगाया है।

मूल्यक्षरण एवं सांस्कृतिक विरक्ति भी अलगाव का कारण हुआ है। हम देख सकते हैं कि भारत की स्वतन्त्रता के पश्चात् भारतीय जीवन के परम्परागत मूल्यों का क्षरण हो रहा है। नीत्शे ने ईश्वर मृत्यु की घोषणा कर दी है। हमने ईश्वर को खो दिया है या ईश्वर में अपनी आस्था को खो दिया है। मनुष्य द्वारा निर्मित संस्थाओं एवं मर्यादाओं पर भी हमारा विश्वास नहीं रहा। वर्तमान युग में हर चेहरे पर मुखौटा है। ऐसी अवस्था में मनुष्य की नियति है, शून्य में निरुद्देश्य भटकना। “जब विज्ञान, मनोविज्ञान और दर्शन द्वारा मनुष्य को पशु सिद्ध कर दिया गया है तो यह नारा लगाया गया कि यह युग मूल्यहीनता का युग है। आज हम एक ऐसी विकृत और विशाल दुनिया में सांस लेने पर मजबूर हैं जिससे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं। सब अजनबी और पराये हैं। अजनबी और पराये लोगों की इस भीड़ में मनुष्य अकेला और निराश्रय है। विनाश का खतरा हमारे सिरों पर मंडरा रहा है। इसलिए कहा जाता है कि आज का साहित्य संकट का साहित्य है जिसमें अराजकता, प्रोटेस्ट का हिस्टीरिया और चीख पुकार है।

केवल वही साहित्य सच्चा और प्रामाणिक है जो हमें इस एक्सर्ड और असहनीय परिस्थिति का बोध दे सकता है।<sup>109</sup> हिन्दी के रचनाकार भी इस संकट की स्थिति को उभारने में समर्थ हुए हैं। मूल्य क्षरण एवं सांस्कृतिक विरक्ति से उत्पन्न असन्तोष के कारण संवेदनशील साहित्यकार अपनी रचनाओं में मनुष्य जीवन का संत्रास, निरर्थकता, नैराश्य, अकेलापन एवं मृत्युबोध को प्रस्तुत करते हैं। “मूल्यों की विसंगति में जब व्यक्ति यह अनुभव करने लगता है कि उसके मूल्यों का (निजी मूल्यों का) समाज में कोई आदर नहीं होता, साथ ही जब वह यह अनुभव करता है कि सामाजिक और राजनीतिक जीवन में अराजकता व्याप्त है या जब व्यक्ति अपने अस्तित्व की रक्षा नहीं कर पाता और उसे जीवन निरर्थक लगने लगता है तो ऐसी स्थिति में अलगाव की समस्या से जूझता है।”<sup>110</sup>

सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक जीवन के क्षेत्र में उत्पन्न मोहभंग भी भारतीय परिवेश में अलगाव-बोध का कारण बना हुआ है। यह मोहभंग वैयक्तिक हो सकता है और सामाजिक भी। सदियों की पराधीनता के बाद किसी देश का स्वतंत्र होना अपने आप में एक बहुत बड़ी घटना होती है। हमारे यहाँ इस घटना के साथ देश का विभाजन भी हुआ। देश के विभाजन से उत्पन्न सांप्रदायिक दंगे, शरणार्थियों की समस्या आदि गंभीर चुनौतियों का सामना करना पड़ा। विभाजन से उत्पन्न कठिनाईयों ने इस देश में एक प्रकार की असुरक्षा की भावना पैदा की है। वास्तव में हमारे देशवासियों को स्वतन्त्रता के सुनहले प्रकाश के आगमन की प्रतीक्षा थी, किन्तु उन्हें घनघोर अन्धकार और बिखरे सपने ही हाथ लगे। इस प्रकार स्वतंत्र भारत की तस्वीर आम-आदमी की कल्पना की तस्वीर के विरुद्ध निकली। स्वतंत्रता केवल बड़े-बड़े पूंजीपतियों, बड़े-बड़े भू-स्वामियों, राजनीतिक दल के नेताओं, बड़े व्यापारियों एवं बड़े-बड़े अफसरों की बनकर रह गयी। मगर भारत की अधिकांश जनता आज भी खाली हाथ रह गयी। उसे आज भी रोटी और रोजी की तलाश में भटकना पड़ रहा है। परिणामस्वरूप भारतीय जनता भटककर बिखर जाने लगी। वर्तमान साहित्यकार भी उसी वर्ग में से उदित हुए हैं। इसलिए उन्होंने अपनी रचनाओं में उसी बिखराव और भटकाव को चित्रित किया है।

राजनीतिक नेताओं के भ्रष्टाचारों के फलस्वरूप नागरिक का अलगावग्रस्त होना वर्तमान युग की सबसे बड़ी विडम्बना है। भारतीय राजनीति एवं नेता वर्ग के चरित्र की विसंगतियाँ भी भारतीय परिवेश में अलगाव पैदा करने के लिए महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। यह सच है कि सत्ता का युग आते ही आदर्शों एवं मूल्यों की भव्यता निस्तेज पड़ने लगी। चारों ओर भयानक विघटन एवं गहन निराशा दिखाई पड़ने लगी। नेता लोग चुनाव लड़ते समय जन सेवा, समाज-सुधार एवं गरीबी दूर करने का वचन तो देते हैं, मगर चुने जाने के बाद वे अपनी ही कुर्सी को संभाल कर रखने में लग जाते हैं। वे सिर्फ अपने हित और अपने कैरियर बनाये रखने में लीन हैं। वे राजनीति को व्यवसाय मानकर चलते हैं। इसलिए वे जन-साधारण की ज्वलन्त समस्याओं से आँखें मूँदकर रहने लगते हैं। ऐसी स्थिति में दोनों के बीच एक अजनबीपन की

खाई अलंघ्य है। इससे स्पष्ट है कि हमारी वर्तमान सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक स्थितियाँ भयानक से ज्यादा भयानक हैं। व्यक्ति का जीवन तथा समाज का जीवन भी हर तरफ, हर स्तर पर बुरी तरह टूट-फूट रहा है और इस स्थिति से बचाने वाला भी कोई नहीं है। ऐसी स्थिति में आम व्यक्ति को लगा कि उसका सारा कर्म अपने ही चिन्तन और तर्क बुद्धि से उद्भूत होना चाहिये। इस प्रकार अपनी भलाई के बारे में सोचता-समझता साधारण भारतीय जन आत्म-केन्द्रित होने लगा। देश और देशवासियों के प्रति भी उसके मन में घृणा मिश्रित परायेपन की भावना उपजती है। परिणाम स्वरूप परिवार, समाज और राष्ट्र के ढाँचे भी टूटने लगे। मानवीय सम्बन्धों में भी दरारें और विसंगतियाँ पड़ने लगी, औसत हिन्दुस्तानी के मन में कुंठा, अनिश्चय, निराशा, अनास्था, भय, त्रास एवं द्वन्द की प्रवृत्तियाँ बढ़ने लगीं, जिनसे आत्म-निर्वासन की भावना तेजी से बढ़ती हैं।

निष्कर्षतः यह एक निर्विवाद सत्य है कि प्रत्येक युग का साहित्य अपनी विशेष परिस्थितियों का ही परिणाम होता है। स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी साहित्य भी इसका अपवाद नहीं है। साहित्यकारों ने समसामयिक भावबोध को ही अपने उपन्यासों का विषय बनाया है। वर्तमान साहित्य को समझने के लिए उसकी आधुनिकता को समझ लेना अनिवार्य है। वर्तमान हिन्दी उपन्यास साहित्य की आधुनिकता अस्तित्ववादी दर्शन के आसपास ही घूमती है, जिसमें घबराहट, ऊबाहट, निरर्थकता, निराशा, आशंका, त्रास, मृत्यु-बोध और असुरक्षा आदि के भाव हैं। इसलिए स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों के बारे में जब-जब चर्चा हुई, तब उसके साथ "आत्मनिर्वासन" जैसा शब्द अनायास ही नहीं जोड़ा गया है। उल्लेखनीय बात है कि हमारे कुछ लेखकों ने परिस्थितियों एवं परिवेश को भोगकर ही आत्म-निर्वासन की भावना को अभिव्यक्त किया है। हमारे अधिकांश लेखकों ने भारतीय परिवेश के अनुरूप ही आत्म-निर्वासन को चित्रित किया है। पहले हमने भारतीय-संदर्भ में आत्म-निर्वासन के संक्रमण के विभिन्न कारणों पर विचार किया है। आगे हिन्दी उपन्यासों में आत्म-निर्वासन के संक्रमण पर विचार किया जायेगा।

## सन्दर्भ ग्रन्थ

---

- 1 Kernig C.D., Marxism Communism and Western Society, Vol. I, P. 88, जैन डॉ. रघुनाथ कृत "अलगाव की दृष्टि से नवगीत का अध्ययन" से उद्धृत, पृ. 1
- 2 Ernst Klien, A comprehensive Etymological Dictionary of the English Language, London Elsevier, 1966
- 3 सिंघल डॉ. बैजनाथ – अलगाव : दर्शन और साहित्य, पृ. 19
- 4 सिंघल डॉ. बैजनाथ – अलगाव : दर्शन और साहित्य, पृ. 173
- 5 "Alienation : the action of Estranging or State of Estrangement in Feeling or Affection" – Oxford English Dictionary, P. 219
- 6 "Alienation : Estrangement ; transference of ownership, diversion to different purpose" – The new Oxford Illustrated Dictionary, Bay Books, Oxford University, Press, P. 38
- 7 "Alienation – (1) A Conveyance of property of another (2) the estrangement of a person or of his affections (3) mental derangement". – Webster's Seventh New Collegiate Dictionary, P. 22
- 8 "Alienation – (10 The action of estranging, or state of estrangement (2) The action of transferring ownership to another; diversion of anything to a different purpose. (3) The state of being alienated. (4) Loss or derangement of mental faculties, insanity" The shorter oxford English Dictionary. Third Edition, P. 43
- 9 Continental English, Hindi, Malayalam Dictionary, P. 54
- 10 Webster's Third New International Dictionary, Vol. I, P. 53
- 11 "A term used with various meanings in philosophy, theology, psychology and the social sciences, usually with emphasis on personal powerlessness, meaninglessness, norm less cultural estrangement, social isolation or self estrangement" – Encyclopaedia Britannica, P. 243
- 12 "The idea of alienation remains an ambiguous concept with elusive meanings, the following variants being most common : (1) Powerlessness, the feeling that one's destiny is not under one's own Central but is determined by external agents, fate, luck, or institutional arrangements; (2) Meaninglessness, referring either to the lack of comprehensibility or consistent meaning in any domain of action or to a generalized sense of purposelessness in life; (3) Normlessness, the lack of commitment to shared social prescriptions for Behaviour ; (4) Cultural Estrangement, the sense of removal from established values in society; (5) Social isolation the sense of loneliness or exclusion in social relations ; and (6) Self-estrangement, perhaps the most difficult to define and in a sense the master theme, the understanding that in one way or another the individual is out of touch with himself". – The New Encyclopaedia Britannica, Vol. I, 15th Edition, P. 574.
- 13 Sills David.L., International Encyclopaedia of the Social Sciences, Vol. I, P. 264.
- 14 Kernig C.D., Marxism Communism and Western Society, Vol. I, P. 90 जैन डॉ. रघुनाथ कृत "अलगाव की दृष्टि से नवगीत का अध्ययन" से उद्धृत पृ. 4-5
- 15 "To claim that a person is alienated is to claim that his relation to something else has certain features which result in avoidable discontent or loss of satisfaction" – Kaufmann Arnold. S. "On Alienation", Richard Schacht, See Introduction.
- 16 "..... the word alienation is used to convey the emotional tone which accompanies any behaviour in which the person is compelled to act self



- destructively". – Four, Lewes, "What is Alienation The Carrer of a Concept".  
Alienation, Schacht Richard, See Introduction.
- 17 "Most usages of 'Alienation' share the assumption that some relationship or  
connection that once existed that is 'natural desirable, or good, has been lost".  
– Keniston, Kenneth, The Uncommitted, 1965, P. 153-54.
- 18 "I have chosen the concept of alienation as the central point from which I am  
going to develop the analysis of the contemporary social character...." – Erich  
From, The Sane Society, P. 103.
- 19 By alienation is meant a mode of experience in which the person experiences  
himself as an alien. He has become, one might say estranged from himself. He  
does not experience himself as the centre of his world, as the creator of his  
own acts – but his acts and their consequences have become his masters,  
whom he .... or whom he may even worship. The alienated person is out of ....  
with himself as he is out of touch with any other person ..... 1 Ibid. P. 111.
- 20 William Raymond, Key Words, P.
- 31 जैन डॉ. रघुनाथ कृत "अलगाव की दृष्टि से नवगीत का अध्ययन" से उद्धृत, पृ. 5
- 21 Josephson Eric and Josephson Mary, Man Alone : Alienation in Modern  
Society, P. 13.
- जैन डॉ. रघुनाथ कृत "अलगाव की दृष्टि से नवगीत का अध्ययन" से उद्धृत, पृ. 5
- 22 Macquarrie John, Existentialism, P. 204.
- जैन डॉ. रघुनाथ कृत "अलगाव की दृष्टि से नवगीत का अध्ययन" से उद्धृत, पृ. 5
- 23 Nisbet, Community and Power, P. 8
- जैन डॉ. रघुनाथ कृत, "अलगाव की दृष्टि से नवगीत का अध्ययन" से उद्धृत, पृ. 5
- 24 "(Alienated Person is) One who has been etranged from, made unfriendly  
toward, his society and the culture it carries". – Nettler, Gwynn, 'A measure of  
Alienation'. American Sociologi Review, Vol. 22, No. 6 (December 1957). P.  
671-72.
- 25 वर्मा रामचन्द्र, मानक हिन्दी कोष, पृ. 164
- 26 दास श्यामसुन्दर (सं), हिन्दी शब्द सागर, पृ. 328
- 27 श्री नवलजी (सं) नालन्दा विशाल शब्द सागर, पृ. 92
- 28 श्रीवास्तव मुकुन्दीलाल (सं) ज्ञान शब्द कोश, पृ. 128
- 29 मेघ डॉ. रमेशकुन्तल – आधुनिकता और आधुनिकीकरण, पृ. 223
- 30 मेघ डॉ. रमेशकुन्तल – आधुनिकता और आधुनिकीकरण, पृ. 192
- 31 मेघ डॉ. रमेशकुन्तल – आधुनिकता और आधुनिकीकरण, पृ. 194
- 32 सिंहल डॉ. बैजनाथ, अलगाव दर्शन और साहित्य – पृ. 173
- 33 अमृतराय, आधुनिक भावबोध की संज्ञा – पृ. 129
- 34 सिंह डॉ. शिवप्रसाद, आधुनिक परिवेश और अस्तित्ववाद, पृ. 17
- 35 जगदीशनारायण, समकालीन कविता पर एक बहस, पृ. 77
- 36 दीक्षित प्रकाश, अस्तित्ववाद और नई कविता, पृ. 60
- 37 बोरा राजमल, हिन्दी उपन्यास : प्रयोग के चरण, पृ. 42
- 38 सिंहल डॉ. शशिभूषण, हिन्दी उपन्यास : यात्रा गाथा, पृ. 143
- 39 इस्सर देवेन्द्र, साहित्य और आधुनिक युग बोध, पृ. 3
- 40 रजनीश डॉ. गोविन्द, स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता, पृ. 265
- 41 प्रसाद नरेन्द्र : भावुकत्वम् मारुन्नु, पृ. 69
- 42 सच्चिदानन्दन : संस्कारतिन्टे राष्ट्रीयम्, पृ. 14
- 43 जॉर्ज एम.जे.: नागरिकतयुडे प्रतिसन्धि – आनन्दिन्टे नीवलुकल्लि, पृ. 44
- 44 आनन्द : प्रज्ञयुम् करुणयुम्, पृ. 16

- 45 आनन्द : प्रज्ञयुम् करुणयुम्, पृ. 51
- 46 तरकन् डॉ. के.एम. : आधुनिक साहित्य दर्शनडगल, पृ. 12
- 47 तरकन् डॉ. के.एम. : आधुनिक साहित्य दर्शनडगल, पृ. 3
- 48 तरकन् डॉ. के.एम. : आधुनिक साहित्य दर्शनडगल, पृ. 16
- 49 सिधल डॉ. बैजनाथ, अलगाव : दर्शन और साहित्य, पृ. 174
- 50 The Oxford English Dictionary, eds. J.A.H. Murry et. al, (Oxford : Clarendon, 1933), Vol. I, P. 203 सिधल डॉ. बैजनाथ कृत, अलगाव : दर्शन और साहित्य से उद्धृत, पृ. 29
- 51 मैन एलोन : एलियनेशन इन मार्लन सोसायटी (सम्पादक – इरिक और मेरी जोसेफ)
- 52 एलियनेशन एण्ड लिटरेचर – सुदीप्त कविराज, इलाहाबाद युनिवर्सिटी मेगजीन, दि. 13 मार्च-74, पृ. 63
- 53 कविराज सुदीप्त : एलियनेशन एण्ड लिटरेचर : पृ. 47
- 54 विल्सन कॉलिन : द आउटसाइडर : पृ. 13
- 55 विल्सन कॉलिन : द आउटसाइडर : पृ. 49 पर ज्वायस जेम्स का उद्धरण
- 56 विल्सन कॉलिन : द आउटसाइडर : पृ. 151 पर नीत्शे का उद्धरण
- 57 Schacht Richard, Alienation, P. 26 MkW. सिधल बैजनाथ कृत, अलगाव : दर्शन और साहित्य से उद्धृत, पृ. 49
- 58 "For Hegel, alienation was an ontological fact, rooted in the nature of man's existence in the world. There was an inherent dissociation between man as subject and man as object (that is, between man as a creative subject seeking to be and to realize himself and man as an object influenced and manipulated by others), So that man's own creations (his art, language, science and so forth) stand outside him as alien objects – as objectifications of what is essential and prior, namely, mind and individual consciousness." See, The New Encyclopaedia of Britanica, Vol. 1, P. 574
- 59 "Mydoctrine in brief is as follows : Theology is anthropology, ie, which reveals itself in the object of religion .... is nothing other than the divinised essence of man." Horowitz, Irving L. "On Alienation and the social order". Philosophy and Phenomenological Research, Vol. XXVII, No. 2 (December, 1966), P. 21
- 60 "For Feuerback, the source of alienation lay in the institution of religion; the myths of divine power were merely ways in which man projected his own humanity outside himself, locating his own capacities and sensibilities elsewhere. Overcoming alienation required a humanisitic religion of man not of god". See, the New Encyclopaedia Britanica, Vol. I., P. 574.
- 61 जैन डॉ. रघुनाथ, अलगाव की दृष्टि से नवगीत का उद्ययन, पृ. 9
- 62 Economic and Philosophic Manuscripts of 1884. P. 66
- 63 "The Worker Sinks to the level of a Commodity and becomes indeed the most wretched of Commodities...." Ibid., P. 66
- 64 "Thus if the product of his labour, his labour objectified, is for him an alien, hostile, powerful object independant of him, then his position towards it is such that someone else is master of this object, some who is alien, hostile, powerfu, and independant of him....." Marx, Economic and Philosophic Manuscripts, 1884, P. 76
- 65 "The Worker becomes all the poorer the more weath the produces, the more his production increases in power and size. The worker becomes an ever cheaper commodity the more commodities he creates". Ibid., P. 67-68.

- 66 "Marx's philosophy, like much of existentialist thinking, represents protest against man's alienation, his loss of himself and his transfirmion into a thing : it is a movement against dehumanization and automatisaion of man inherent in the development of western industrialism". Richard Schacht. Alienation, Op. cit., P. XX. सिंहल डॉ. बैजनाथ कृत अलगाव दर्शन और साहित्य से उद्धृत, पृ. 18
- 67 "The Older meaning in which 'alienation' was used was to denote an insane person; aliene in French, alienado in spanish are older words for the psychotic, the thoroughly and absolutely alienated person". Erich From, The Sane Society. P. 111
- 68 "The phenomenon of Alienation is an effect of Capitalism on personality", Erich From, The Sane Society, P. 111
- 69 सिधल डॉ. बैजनाथ कृत अलगाव दर्शन और साहित्य से उद्धृत, पृ. 99
- 70 शर्मा रामविलास, नई कविता और अस्तित्ववाद, पृ. 109-110
- 71 जैन डॉ. रघुनाथ, अलगाव की दृष्टि से नवगीत का अध्ययन, पृ. 12.
- 72 सिंह डॉ. शिवकरण, आलोचना के बदलते मानदण्ड और हिन्दी साहित्य, पृ. 315.
- 73 "God is dead, We have killed God". – See, Paul Roubiczek, Existialism For and Against, p. 49.
- 74 "In a Godless world he has to choose his own set of values, and if any meaning is to be found in human life it can only be the meaning which man himself has given it". – Frederic Copleston, Contemporary Philosophy, p. 175.
- 75 इस्सर देवेन्द्र, साहित्य और आधुनिक युग बोध, पृ. 9.
- 76 राय डॉ. विद्याशंकर कृत आधुनिक हिन्दी उपन्यास और अजनबीपन से उद्धृत, पृ. 19.
- 77 सिंहल डॉ. बैजनाथ, अलगाव : दर्शन और साहित्य, पृ. 146-47.
- 78 "That is the idea I shall try to convey when I say that man is condemned to be free. Condemned because he did not create himself, yet, in other respects is free; because once thrown into this world, he is responsible for everything he does." – Sartre Jean Paul : The philosophy of Existentialism, p. 41.
- 79 "Dostoevsky Once wrote – If God did not exist, everything would be permitted" – Sartre Jean Paul, Existentialism and Humanism, p. 133.
- 80 नयी कविता और अस्तित्ववाद, पृ. 110
- 81 See, Camus Alber, The Myth of Sisiphus, p.111.
- 82 इस्सर देवेन्द्र, साहित्य और आधुनिक युग बोध, पृ: 56.
- 83 दवे रमेश, समकालीन रचना और विचार , पृ: 73.
- 84 गुप्त लालचन्द मंगल : अस्तित्ववाद और नयी कहानी, पृ: 85.
- 85 "In fact, anguish, as I see it, is the concurrence of the complete absence of justifiacation and responsibility toward others".- Sartre Jean paul; Existentialism, p.65-66.
- 86 दीक्षित प्रकाश : अस्तित्ववाद और नयी कविता पृ.61
- 87 'In fact, anguish, as I see it, is the concurrence of the complete absence of justifiacation and responsibility toward others'.-Jean paul Sartre; Existentialism, p.65-66.
- 88 दीक्षित प्रकाश : अस्तित्ववाद और नयी कविता, पृ. 60
- 89 दाधीचि महावीर : अस्तित्ववाद पृ. 136
- 90 तिवारी विश्वनाथ प्रसाद – नए साहित्य का तर्कशास्त्र, पृ. 116
- 91 "In the nineteenth century the problem was that God is dead; in the twentieth century the problem is that man is dead. In the nineteenth century inhumanity meant cruelty; in the twentieth century it means Schizoid self-alienation. The

- 
- danger of the past was that men became slaves. The danger of the future is that men may become robots..." p. 312, Fromm Erich, The Sane Society.
- 92 इस्सर देवेन्द्र, साहित्य और आधुनिक युगबोध, पृ. 2
- 93 कमलेश्वर : नई कहानी की भूमिका, पृ. 17
- 94 डॉ. प्रेमकुमार : समकालीन हिन्दी उपन्यास : कथ्य विश्लेषण, पृ. 70
- 95 जैन डॉ. रघुनाथ : अलगाव की दृष्टि से नवगीत का अध्ययन, पृ. 21
- 96 सिधल डॉ. शशिभूषण : हिन्दी उपन्यास : यात्रा गाथा, पृ. 146-47
- 97 श्रीवास्तव जगदीश नारायण : समकालीन कविता पर एक बहस, पृ. 76
- 98 राय डॉ. विद्याशंकर : आधुनिक हिन्दी उपन्यास और अजनबीपन, पृ. 24
- 99 मेघ डॉ. रमेश कुन्तल : आधुनिकता और आधुनिकीकरण, पृ. 240
- 100 गोस्वामी डॉ. क्षमा : नगरीकरण और हिन्दी उपन्यास, पृ. 176
- 101 आलवाल - पृ. 90
- 102 भवन्ती - पृ. 12
- 103 भवन्ती - पृ. 37-38
- 104 समकालीन भारतीय साहित्य में पूर्व और पश्चिम के मूल्यों के बीच अवरोध की स्थिति - क, ख, ग अंक - 1, 1963, पृ. 30
- 105 मिश्र डॉ. रामदरश (सं) - हिन्दी उपन्यास के सौ वर्ष, डॉ. प्रेमकुमार का लेख "समकालीन उपन्यास : नगरबोध का संदर्भ" से उद्धृत, पृ. 112-113
- 106 रोडरमल, डॉ. गार्डन चार्ल्स : हिन्दी कहानी : अलगाव का दर्शन, भूमिका से उद्धृत
- 107 तरकन डॉ. के.एम., भाषापोषिणी, जून-जुलै 1979, अंक. पृ. 24
- 108 मेघ डॉ. रमेश कुन्तल : आधुनिकता और आधुनिकीकरण, पृ. 238
- 109 इस्सर देवेन्द्र : साहित्य और आधुनिक युग बोध, पृ. 15
- 110 बोरा राजमल : हिन्दी उपन्यास : प्रयोग के चरण, पृ. 42

# तृतीय अध्याय

## तृतीय अध्याय

### आत्म-निर्वासन की भावना को उत्पन्न करने वाली परिस्थितियां

स्वतंत्रता प्राप्ति के समय जनता ने अपनी आंखों में राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक खुशहाली के कई स्वप्न पाले थे लेकिन स्वतंत्रता के चार-पांच वर्षों बाद आम आदमी के ये स्वप्न टूटकर बिखरने लगे। आर्थिक समस्याओं और सामाजिक रूढ़ियों के चलते राजनीतिक स्वतंत्रता बेमानी से लगने लगी। परिवर्तित होती परिस्थितियों में राजनीतिक स्वतंत्रता का अर्थ काफी सीमित होकर रह गया। बदलते समय और परिस्थितियों के दबाव से समाज बिखरने लगा। रूढ़ियों ने ऐसी जंजीरों का रूप ले लिया था जिसमें व्यक्ति का जीवन घुटन बनने लगा था। सामाजिक मान्यताएं टूटने लगी थी इसके परिणामस्वरूप पारिवारिक और वैयक्तिक सम्बन्धों में बदलाव आने लगा। संयुक्त परिवार टूटने लगे। उनकी जगह एकात्मक परिवारों ने ले ली। इन परिवारों में मानव सम्बन्धों की आत्मीयता भी सूखने लगी। आम आदमी के सामने आर्थिक समस्याएं इतनी खड़ी थी कि उन सबके सामने जीवन काफी लघु लगने लगा। आर्थिक तंगी ने सामान्य जन का जीना मुश्किल कर दिया। फिर समय के साथ कुछ परिस्थितियां परिवर्तित हुईं।

औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप विकसित महानगरीय संस्कृति ने व्यक्ति की अत्यधिक व्यस्तता के साथ ही एकरस जीवन और विषमताओं को भी जन्म दिया है। सुविधाओं से भरपूर महानगरों का जीवन ग्रामीण समाज से सर्वथा भिन्न होता है। पाश्चात्य प्रभाव के सम्पर्क में पनपती महानगरीय संस्कृति में यांत्रिक सुविधाओं के मध्य जीते व्यक्ति का मस्तिष्क और मन दोनों भी यांत्रिक हो जाते हैं। समकालीन उपन्यासों में नगर जीवन की इन्हीं जटिलताओं का समावेश किया गया है। इनके बीच अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़ते, असहाय और विवश मानवीय भावनाओं की अभिव्यक्ति और उनके एकाकीपन को उजागर करना ही उपन्यासकार का लक्ष्य रहा है। महानगरीय जीवन के अजनबीपन में पड़ोसी को पड़ोसी की सुध लेने तक का समय शेष नहीं रहा है। व्यस्त दैनिक दिनचर्या, विभिन्न रोजगारों के कारण मात्र औपचारिक वार्तालाप ही संभव हो पाता है। घनी आबादी के बावजूद एक-दूसरे से निकटता नहीं होने के कारण संकट की स्थिति में भी अपरिचित जैसा अहसास होने लगता है। इस संवादहीनता और अजनबीपन की स्थितियों ने मानव में एकाकीपन की अनुभूति को और भी गहरा कर दिया है। भीड़ में भी अकेलेपन की स्थिति ही आत्मनिर्वासन की परिस्थिति को जन्म देती है। कवि नीलाभ ने इस वास्तविकता का मर्म अत्यन्त सुंदर शब्दों में रचा है—

“ये चार दीवारें और एक छत किसी भी शहर की हो सकती हैं  
पर वह क्या है, जो किसी को एक शहर से संबंधित करता है

मुझे कुछ मालूम नहीं, मेरे सम्बन्ध खो गए हैं।<sup>1</sup>

एकाकीपन से ग्रस्त व्यक्ति अपने आप में घुटता सा महसूस करने लगता है। समकालीन हिन्दी उपन्यासों ने इसी एकाकीपन को आधार पर बनाकर पात्रों के माध्यम से तत्कालीन जीवन की घुटन, कुण्ठा को वाणी प्रदान की है। एकाकीपन की इस भावना का मात्र व्यक्ति पर ही असर दिखलाई नहीं देता है वरन् सम्पूर्ण समाज और उसकी इकाई परिवार, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि सभी रूपों पर दिखलाई पड़ता है। इस एकाकीपन के लिए विभिन्न परिस्थितियां और कारण उत्तरदायी होते हैं जिनके स्वरूप भले ही भिन्न प्रतीत होते हैं किन्तु वह एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। इन्हीं परिस्थितियों और कारणों को निम्न रूपों में वर्गीकृत किया जा सकता है—

### 1. पारिवारिक परिवेश

समाज का बदलता हुआ रूप सबसे पहले परिवार रूपी दर्पण में ही दिखाई देता है। समाज की किसी भी परिस्थिति से परिवार प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। पारिवारिक ढांचे में बदलाव के कारण पिता-पुत्र, मां-पुत्र, भाई-बहिन के सम्बन्धों की आत्मीयता भी सूखती जा रही थी। व्यक्ति बिलकुल अकेला हो गया है। “अभावों से पीड़ित, निराशा से क्षुब्ध होकर वह अकेलेपन और अलगाव की जिन्दगी जीने को विवश हुआ।”<sup>2</sup> ‘परिवार’ एक शब्द या एक स्थान नहीं है, यह मानव जीवन का मेरुदण्ड है जिसके सहारे मनुष्य का पूरा जीवन टिका रहता है। वास्तव में चारदीवारों और एक छत से घर नहीं बनता। घर-परिवार बनता है पति-पत्नी के मधुर सम्बन्धों से बच्चों की उल्लासमय किलकारियों से, मां के दुलार भरे आश्वासन से पारिवारिक जीवन की यह मिठास ही मनुष्य को बड़ी से बड़ी समस्या से टकरा जाने की क्षमता और दृढ़ता प्रदान करती है। स्वस्थ पारिवारिक जीवन मनुष्य को भावात्मक सम्बल प्रदान करता है और उसे टूटने से बचाता है। परिवार को सुचारु रूप से चलाने के लिए उसके सदस्यों के बीच आपसी समन्वय, सामंजस्य और मधुर सम्बन्धों का होना अत्यन्त आवश्यक है। इसके अभाव में परिवार अपनी आदर्श स्थिति को छोड़कर विघटन की दिशा में बढ़ने लगता है। समकालीन पारिवारिक और सामाजिक जीवन में व्यक्ति की बाहरी शालीनता जितनी बढ़ी है भीतरी सहिष्णुता उतनी ही कम हुई है। इससे मानवीय सम्बन्धों में एक गहरा तनाव उत्पन्न हुआ है। स्वार्थपरता, आदर्शशून्यता और मर्यादाहीनता इस युग की पहचान गन गई है। यांत्रिक विकास और व्यावसायिकता के इस दौर में परिवार के सभी सदस्यों के बीच बेगानापन, परायणपन, औपचारिकता, स्वार्थपरता, तनाव और टूटन ही दृष्टिगत होती हैं। मलयज की ये पंक्तियां आज के मानव सम्बन्धों के यथार्थ को प्रस्तुत करती हैं — “सच्चाई/ एक गलत शब्द के नीचे ढकी हैं। मानव सम्बन्धों का अब अनुभूति की वास्तविकता नहीं करती निर्धारित/ भाषा की वास्तविकता करती है।”<sup>3</sup>

आज भौतिक दृष्टि से सम्पन्न ये लोग भावात्मक दृष्टि से बहुत दिवालिया है। आज का मनुष्य बाहर से जितना सजा-संवरा नज़र आता है। भीतर से उतना ही टूटा हुआ अकेला तनावग्रस्त है। ऐसा लगता है वह जीना नहीं चाहता, जिन्दगी जीने के लिए विवश है। मनुष्य को इस स्थिति में पहुंचाने के कई कारण हैं। जिनमें पारिवारिक परिस्थितियां सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही हैं। आधुनिकी की बयार में आज की युवा पीढ़ी अपने माता-पिता या बड़ों के प्रति भय-प्रतिबंध और पाबंदी का कम अनुभव करती है लेकिन फिर भी समकालीन परिवारों में माता-पिता और बच्चों के सम्बन्ध काफी तनावपूर्ण है। स्वच्छन्द-स्वेच्छाचारी वातावरण, भागदौड़ से भरी व्यस्त दिनचर्या, आर्थिक तनाव, व्यक्तिवादिता, मूल्यगत एवं वैचारिक परिवर्तन आदि कारण इस स्थिति के लिए उत्तरदायी प्रतीत होते हैं।

जहाँ एक ओर नगरीकरण ने लोगों को नगरों की ओर उन्मुख कर संयुक्त परिवार को विश्रुंखलित करने में भूमिका निभाई है वहीं दूसरी ओर नगरों में विकसित व्यक्तिवादी संकुचित दृष्टिकोण ने संयुक्त परिवार के प्रति रुचि और आकर्षण को भी कम किया है। नगरों में संयुक्त परिवार को वैयक्तिक विकास और स्वतन्त्रता में बाधक माना जाता है। वहाँ संयुक्त परिवारों के प्रति अनास्था है। व्यक्ति संयुक्त परिवार में घुटन का अनुभव करते हैं।

‘पाँच आँगनों वाला घर’ उपन्यास में राजन जब अपनी आधुनिक पत्नी रम्मो को अपने विशाल परिवार और उसके वैभव के बारे में बताता है तो रम्मो कहती है, “आजकल नहीं चलता यह सब ..... एक चूल्हा और साथ में रहना। क्या फायदा दबकर, घुट-घुटकर रहने में! क्यों न सब अलग, स्वतन्त्र रहे.... जो चाहे खाया-पिया, जो चाहे पहना- ओड़ा।”<sup>4</sup> अपने व्यक्तिवादी दृष्टिकोण के कारण आज नगरों में संयुक्त परिवार के महत्व को नकारा जा रहा है, वरना सच्चाई तो यह है कि, “सम्मिलित परिवार थे..... तो समाज में स्नेह भी ज्यादा था। जीवन के समकालीन हिन्दी उपन्यासों में महानगरीय परिवेश में व्यक्ति, परिवार ..... दुःखों को सही ढंग से लेने – इस तरह कि वे हमें तोड़ न जाए- ऐसा दर्शन भी हमें उस परिवार से मिल जाता था”<sup>5</sup>

समकालीन उपन्यासों ने संयुक्त परिवार के महत्व स्थापन के साथ-साथ उसके विघटित होने की वर्तमान प्रवृत्ति, उसके कारण, प्रभाव तथा उससे उत्पन्न वृद्ध पीढ़ी के दर्द को यथार्थ अभिव्यक्ति प्रदान कर अपने आधुनिक बोध का परिचय दिया है। गोविन्द मिश्र का ‘पाँच आँगनों वाला घर’ इन्हीं स्थितियों को आधार बनाकर लिखा गया है। इस उपन्यास में एक विशाल परिवार के उखड़ने, सिमटने और करीब-करीब पूर्णरूपेण विघटन की कथा को आधार बनाया है। लेखक ने लिखा है “औद्योगिकीकरण के कारण घरेलू उद्योग धन्धे खत्म होते जा रहे हैं। एक सम्मिलित परिवार एक जगह रहकर, घरेलू धंधे से खा-पी लेता था, उसका हर सदस्य अब नौकरी पर आश्रित होता जा रहा है। दूर-दूर बिखर जाएगा, अकेला हो जाएगा, अलगाव बढ़ेगा। कल चचेरे भाईयों में अलग होने की बात थी, आज सगे भाईयों में, कल कौन जाने



बाप-बेटे, मां-बेटे, पति-पत्नी में ही शुरू हो जाए।<sup>6</sup> इसी उपन्यास का एक पात्र सन्नी कहता है, सम्मिलित परिवार तो टूट ही रहे हैं, टूट गए कहिए! वे टूट गए, आर्थिक तनावों, आर्थिक जरूरतों के कारण।<sup>7</sup>

सन्नी का स्वयं का पांच आंगनों वाला विशाल परिवार धीरे-धीरे बिखर जाता है। पांच आंगनों और अनगिनत कमरों वाले उस घर में एक पूरा संसार रहता था। जोगेश्वरी उसके चार पुत्र उनके परिवार, उनके दो चचेरे भाई और उनके परिवार तथा जोगेश्वरी की सास, सब उसी घर में एक साथ रहते थे। प्रत्येक परिवार के लिए दो-तीन कमरे और एक बरामदा निश्चित था। कुछ कमरे थे जो सबके काम में आते थे जैसे रसोईघर, पूजाघर आदि। इस घर में लगभग सौ लोगों का भोजन एक ही जगह बनता था। दिनभर बच्चों की किलकारियां, शरारतें, खेलकूद। बच्चों को बड़े होने तक यह पता न चलता था कि उनके मां-बाप कौन हैं। रामनगर वाली का लड़का राजन की अम्मा का लाड़ला था और लड़की का लड़का छोटे राजन के पिता के मुंह लगा था। जोगेश्वरी की सास सब बच्चों की दादी-अम्मा थी। जोगेश्वरी स्वयं बड़ी अम्मा। राजन के बाबूजी राधेलाल सब बच्चों के बाबूजी और उसकी अम्मा सब बच्चों की अम्मा थी।<sup>8</sup> लेकिन मुंशीजी की मृत्यु के पश्चात् परिवार बखिए के धागे की भांति उधड़ने लगा। मुंशीजी का बड़ा बेटा मोहन प्रशासनिक सेवा में चयनित होकर शहर चला जाता है क्योंकि बनारस में अपना भविष्य उसे अंधकारमय नज़र आता है और इधर घर बंट जाता है।

संयुक्त परिवार में परिवार के सभी सदस्यों को बिना भेदभाव के समान सुविधाएँ प्राप्त होती थी। परिवार के सदस्यों में प्रेम, सेवा, सहयोग, सद्भाव अनुशासन आदि गुणों का विकास होता था। इस उपन्यास का सन्नी कहता है, "हमारे परिवार वे स्कूल हैं जहाँ हमें निःस्वार्थ होने, दूसरे के लिए कुछ करने की बुनियादी शिक्षा मिलती है।"<sup>9</sup> सम्मिलित परिवार विधवा, परित्यक्ता स्त्रियों, वृद्ध परिजनों और अपंग सदस्यों के पालन पोषण की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण रहे हैं।

'ये पांचों आंगन अपनी पुरानी जगह ही थे पर उनकी और कई कमरों की शकलें बदल गई थीं। जहां-तहां छोटी दीवारें उग आई थी। जहां पहले गणेश जी वाले आंगन से दूसरे कमरे में कदम रखते ही ऐसा लगता जैसे कि मोहल्ले की एक गली से दूसरी गली में निकल रहे हो।'<sup>10</sup> मोहन के नागपुर में नौकरी लग जाने के बाद राजन और श्याम भी अपना भविष्य संवारने के उद्देश्य से नागपुर चले जाते हैं। मोहन बताते हुए कहता है "वहां लड़के कम्पीटीशन के लिए तैयारियां करते हैं। बनारस में भंग छाने गंगा किनारे घूमते हैं। अभी से राजन और श्याम को सही वातावरण मिलना चाहिए।"<sup>11</sup> अतः फिर राजन नागपुर से बी.ए. करता है तथा इलाहाबाद से एम.ए. करने चला जाता है।

संयुक्त परिवार के विघटन से सेवा, सहयोग, निष्कर्ष बलिदान जैसे मूल्यों का जो हास हुआ है, उसके चलते राजन अपनी बीमार वृद्धा माँ की सेवा भी नहीं कर पाता। बीमार माँ को घर लाने के प्रश्न पर राजन की पत्नी रम्मो कहती है, "मेरा घर अस्पताल नहीं है, न यहाँ

आपके घर का मरीज आएगा, न मेरे घर का।.....मैं अपने घर में मनहूसियत नहीं चाहती... चार दिन जिन्दगी के हैं और उन्हें आहें—कराहें सुनने में काट दो, ऊँह।”<sup>12</sup> राजन के बनारस वाले घर ने उसकी पागल दादी माँ को भी बड़े आदर के साथ आश्रय दिया था और आज उसके घर में उसकी सगी माँ की बीमारी से मनहूसियत छा जाती है। यह नगरीकरण का ही दुष्प्रभाव है, जिसने मकानों की तरह हमारे मन—मस्तिष्क को भी संकुचित कर दिया है। राजन सोचता है, “इन छोटे घरों, फ्लैटों में आकर हम वाकई छोटे हो गए।”<sup>13</sup> धीरे—धीरे राजन के पास पाँच आँगनों वाले घर के पाँच आँगनों का अर्थ रम्मो, बन्दू, बिट्टो, छोटू और स्वयं वह खुद हो गया। बाकी सबसे उनका सम्पर्क कट सा गया। पर कुछ समय बाद ये पाँचों आँगन भी बिखरने लगते हैं। बड़ा लड़का बन्दू एलिस नामक विदेशी लड़की के साथ अमेरिका चला गया। छोटू उसकी मर्जी के विरुद्ध शादी किए जाने से रूष्ट होकर अपनी नव—विवाहित पत्नी और माँ—बाप को छोड़कर अकेला रहने लगा और बिट्टो की शादी हो गयी। अपने अन्तिम समय में राजन सोचता है, “तब पाँच आँगनों का घर था.... आज कितने आँगन और कितने घर हो गये,..... इत्तफाक से अभी भी घर पाँच होते हैं, पर आँगन कहाँ है, घर तो कहीं है ही नहीं। सब कुछ इतनी दूर तक बिखर गया है कि अब सिर्फ धब्बे दिखते हैं .....”<sup>14</sup>

पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव से भारतीय समाज में अत्यधिक परिवर्तन परिलक्षित होते हैं। नगरीय संस्कृति के विकास के कारण जीवन के मापदण्डों के अर्थ बदल गए हैं। घनिष्ठ व्यक्तिगत सम्बन्धोंका स्थान औपचारिकताओं ने ले लिया है। इस संस्कृति ने व्यक्ति की सोच को स्वार्थी और व्यक्तिवादी बना दिया है। उसने अपने चारों तरफ में और अपनी इच्छाओं के ऐसे अदृश्य घेरे का निर्माण कर लिया है जिसमें उसके परिवार के सदस्यों तक का दखल उसे बर्दाश्त नहीं होता है। अपनी महत्वाकांक्षाओं को पूरा करते—करते व्यक्ति अपने परिवार को पीछे छोड़ता जाता है। अपनी सुविधानुसार कार्य करते—करते उसे परिवारजनों की चिन्ता भी नहीं रहती। यही स्थिति पारिवारिक विघटन का आधार बनती है। चाहे पति—पत्नी हो या पिता—बेटा सभी के मध्य तनाव, कलह और अलगाव की स्थितियां उत्पन्न होने लगती हैं। महानगरीय संस्कृति में उत्तरदायित्वों से बचने के लिए ‘फ्री लिविंग’ की धारणा भी बलवती होती जा रही है।

‘चलता हुआ लावा’ का लेखक पात्र संयुक्त परिवार का सदस्य था। उस विशाल परिवार में लगभग सौ लोग एकसाथ मिलकर रहते थे। किन्तु इसी व्यक्तिवादिता के चलते घर के युवा सदस्यों को बड़ों का अनुशासन— नियन्त्रण असह्य होने लगता है और वह भरा—पूरा विशालकाय परिवार विश्रृंखलित हो जाता है। लेखक कहता है, “घर में कोई बीस बूढ़े लोग थे परिवार की हर बहू को किसी न किसी से शिकायत थी सहसा बरतन बजे और घर टूटा”।<sup>15</sup> इन बिखरकर अलग हुये लोगों में परस्पर स्नेह आत्मीयता की इतनी कमी है कि यदा—कदा मिलने पर भी एक—दूसरे को सहन करना उनके लिए सजा काटने जैसा हो जाता है। “केवल

दुर्गा अष्टमी पर नवरात्रि में सब लोग ऐसे सिर देकर बैठे रहते जैसे कोई मर गया हो।<sup>16</sup> अपने परिवार की इस दशा पर लेखक की पीड़ा यों मुखर हुई, “कुल सौ लोग पांच हिस्सों में अलग हुए थे, फिर, वे पाँच भी दो-दो, तीन-तीन हो गए।.... बँटते-बँटते हमारा परिवार क्या हो गया।”<sup>17</sup>

इस व्यवस्था का आधार यह मानसिकता है कि स्त्री और पुरुष दोनों की ही वैयक्तिक स्वतंत्रता है। हांलाकि यह संस्कृति अभी निश्चित वर्ग तक ही सीमित है परन्तु आधुनिकता की आड़ में इसने अपने पैर पसारने आरंभ कर दिए हैं। परिवार में तनाव ने व्यक्ति में आत्मनिर्वासन की स्थिति उत्पन्न कर दी है। उसका स्वयं मुक्ति के लिए छटपटाने लगा है। इसी छटपटाहट को समकालीन उपन्यासकारों ने अभिव्यक्ति प्रदान की है। सांस्कृतिक उन्नयन के लिए प्रेम, दया, सहानुभूति और सहयोग अपेक्षित होता है किन्तु आधुनिकता के प्रसार के कारण इकाई परिवारों का उदय हो रहा है जिससे वैमनस्य, द्वेष और आत्मनिर्वासन उत्पन्न हो रहा है। व्यक्ति के विकास के आयामों का निरन्तर विस्तार हो रहा है। उसके विकास में संयुक्त परिवार बाधा उत्पन्न करता है। ‘परिवार’ में हर नया परिवार पुराने परिवार के चरमराते बूढ़े ढांचे पर मुस्काकर कहता है “खत्म करो अपने दकियानूसी तौर-तरीकों को। हमें आगे बढ़ने दो और खामखां के लिए हमारी उन्नति के मार्ग में काहिलों की भीड़ जमा करने की कोशिश न करो। हमें नयी इमारत बनानी है। इस पुरानी बिना हवादार इमारत में अपने को बंद करके नहीं रख सकते।”<sup>18</sup> उपन्यास “यह पथ बन्धु था” में भी नई और पुरानी पीढ़ी के बीच विचारों के अंतर को दर्शाया गया है। पिता अपने कमाऊ पुत्रों से कहते हैं “अब दुनियाभर के यह छल प्रपंच मेरी तो समझ में नहीं आते। होगा, जिसे रहना हो रहे। नाक-भौं सिकोड़ कर किसी को रहने की ज़रूरत नहीं, जहां सींग समाए वहीं जाए।”<sup>19</sup> नई पीढ़ी में शिक्षा और वैज्ञानिक परिवेश के कारण पारिवारिक मूल्यों का ह्रास होता जा रहा है। माता-पिता और अपनी ही संतान के प्रति दायित्वहीनता की भावना बलवती होती जा रही है।

वैयक्तिक चेतना भी पारिवारिक सम्बन्धों के बिखराव के लिये उत्तरदायी रही। एक-दूसरे से आगे बढ़ने की होड़ ने दो व्यक्तियों के बीच दूरी बना दी। सम्बन्ध का स्वरूप चाहे अलग हो, बिखराव की प्रवृत्ति समान ही रही। पीढ़ियों के बीच का संघर्ष वर्तमान परिस्थितियों में ज्यादा सरगर्मी के साथ उभर कर आया। परिवार पति-पत्नी से बनता है। और पारिवारिक जीवन में सबमें अधिक दरारें उत्पन्न होती हैं पति और पत्नी के बीच। “दो विभिन्न सांस्कृतिक और पारिवारिक मान्यताओं को मानने वाले व्यक्तियों के बीच संघर्ष का उपस्थित होना स्वाभाविक है।”<sup>20</sup> किन्तु रागात्मिका ही दोनों के बीच एक मजबूत नींव प्रदान करती है, जो आज के भौतिकवादी माहौल में खोखली होती जा रही है ऐसी स्थिति में पति-पत्नी एक दूसरे से कट जाते हैं और पारिवारिक जीवन एक अभिशाप बन जाता है। मोहन राकेश के “अन्धेरे बन्द कमरे” में पति-पत्नी के रिश्तों के विघटन एवं मिलन की त्रासद स्थिति को उभारा है।

पारिवारिक जीवन हरबंस और नीलिया के लिये बोझबन गया है जबकि दोनों ने प्रेम विवाह किया था लेकिन बरसों एक साथ रहने पर भी उनमें वो पारस्परिक समझ विकसित न हो पाई जो जीवन भर दोनों को साथ बांधे रखती। समय के साथ दोनों के बीच की प्रेमधारा भी सूख गयी, अपने विवाहित जीवन से ऊबकर हरबंस विदेश जाने का फैसला कर लेता है। वह कहता है— “मुझे आज अच्छी तरह पता चल गया है कि जिस घर में मैं रहता हूँ और जिसे मैं अपनी पत्नी समझता हूँ वह मेरी पत्नी नहीं।”<sup>21</sup> यह सोच नीलिमा की भी है और वह भी हरबंस के साथ रहने में स्वयं को असमर्थ पाती है और उसे छोड़कर चली जाती है। भिन्न मानसिकता एवं व्यक्तित्व वाले पति-पत्नी के बीच के संघर्ष और विघटन का कथ्य “अन्धेरे बन्द कमरे” को समसामयिकता का संस्पर्श कराती है।

मानवीय सम्बन्ध अर्थहीन और अकेलेपन की अनुभूति को उपन्यासकारों द्वारा अपना विषय बनाया है। सभी अपने को तथा दूसरों को अंधेरे में अकेले भटकता हुआ पाते हैं। इसी उपन्यास में मधुसूदन कहता है “मैं नौ साल के बाद दिल्ली आया तो मुझे महसूस हुआ जैसे मेरे लिए यह एक बिल्कुल नया और अपरिचित शहर हो।”<sup>22</sup> हरबंस भी अपने मित्रों के साथ रहकर भी खालीपन से पीड़ित है। वह कहता है “एक अजीब बेबसी-सी महसूस होती है। मेरा मन जैसे शिकंजे में फँसा हुआ है, जो मेरी कोशिश से टूट नहीं पाता।”<sup>23</sup> पारिवारिक रिश्ते जड़ से उखड़ने से सम्बन्धअर्थहीन होते जा रहे हैं। मनुष्य मशीनीकरण, वस्तुपरकता, आपसी प्रतिस्पर्धा और भागदौड़ में अजनबीपन झेल रहा है। नई चेतना ने और नए विचारों की सुगबुगाहट ने आस्थाओं और मान्यताओं पर प्रश्नचिन्ह लगा दिया है। अजनबीपन की समस्या धीरे-धीरे जनमानस में गहराने लगी है। परिवार से मोहभंग हो जाने से यह अजनबीपन और बढ़ने लगा है। नगरीय सभ्यता में पारिवारिक जीवन में अजनबीपन और एकाकीपन की बढ़ती व्यापकता को चित्रित करने के उद्देश्य से उपन्यास रचना की गई है।

“चलता हुआ लावा” में पिता-पुत्र (लेखक-पुत्र) के सम्बन्ध इतने तनावपूर्ण हो जाते हैं कि पुत्र कहता है कि “मेरे माता-पिता घाघ किस्म के षड्यन्त्री हैं। ये ऐसा ही करते जा रहे हैं जैसे कोई दलदल में फँसा हो और उसे पैर जमाकर ऊपर उठाने की सलाह दी जाए.....”<sup>24</sup> इस प्रकार एक दिन जब लेखक पात्र अपनी पत्नी के जन्मदिवस पर बाहर जाने लगता है तो पिता का यह पूछना कि कहाँ जा रहे थे? या कितनी देर में लौटोगे? उसे असहनीय लगता है और वह जाने से ही मना कर देता है। वह कहता है, “सहसा मुझे लगा कि उठने-बैठने पर भी ये तंग करते रहते हैं।”<sup>25</sup>

स्थितियों के अध्ययन से यह तथ्य भी सामने आता है कि उच्च वर्ग के कॉन्वेंट स्कूलों में शिक्षा प्राप्त और आधुनिक वातावरण में पले-बढ़े युवक-युवतियों में आत्मकेन्द्रीयता अधिक है। माता-पिता की सलाह उन्हें अपनी जिन्दगी में अनुचित हस्तक्षेप प्रतीत होती है। माँ-बाप उन्हें तभी ठीक लगते हैं, जब तक वे उनकी इच्छानुसार उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करते

रहें। माँ-बाप के त्याग और प्रेम के प्रति उनमें कृतज्ञता का भाव भी नहीं है, बल्कि उसे वे उनका कर्तव्य मानते हैं। 'पाँच आँगनों वाला घर' का छोटू (राजन का पुत्र) इसी वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है। वह कहता है, "पापा ने मुझे सेटिल किया तो जो चाहे करते जायेंगे मेरे साथ? क्या खास किया उन्होंने, सब अपने लड़कों के लिए करते हैं, पैदा किया तो करेंगे ही।"<sup>26</sup> किन्तु उनका भी अपने माँ-बाप के प्रति कुछ कर्तव्य है, यह बात वे बिल्कुल भूल चुके हैं। माता-पिता का अपने पुत्र के जीवन पर कुछ अधिकार है, वे यह मानने को तैयार नहीं हैं। छोटू अपने पिता (राजन) से यह कहता है, "यूँ कान्ट डिक्टेड माई लाइफ। यह मेरी जिन्दगी है। मैं जो चाहे करूँ उसका। मैं उसे खत्म कर देने के लिए भी स्वतन्त्र हूँ। हू आर यू...."<sup>27</sup> पिता-पुत्र का संघर्ष कोई नई बात नहीं है, किन्तु आज का संघर्ष अधिक तीखा है। उसकी तलखी हृदय की कोमलता और मिठास को एक ही झटके में भेद डालती है।

पिता-पुत्र के बीच ऐसी संवेदनहीनता और दूरी भौतिकवादी नगरीय सभ्यता का ही अभिशाप है। पिता की गम्भीर बीमारी की सूचना पाकर पुत्रों को निम्न प्रतिक्रिया पारिवारिक सम्बन्धों के प्रभावहीन होते जाने की द्योतक है। राजन का छोटा बेटा छोटू कहता है, "व्हाट कैन आई डू दैट्स हिंस प्रॉब्लम।"<sup>28</sup> अमेरिका में बैठा बड़ा पुत्र पिता से अपने कैरियर को ज्यादा महत्वपूर्ण समझता है, इसलिए कहता है, "मैं क्या करूँगा, मम्मी। जो करना है वह डॉक्टरों को।....." मेरी एक जरूरी कान्फ्रेन्स है। कैरियर इस पर डिपेन्डेन्ट है। मैं अभी नहीं निकला सकता।<sup>29</sup> डोन्ट वरी ममी, एवरीथिंग विल बी ऑल राइट।<sup>30</sup> जैसे औपचारिक वाक्य कहकर वह अपने कर्तव्य की इति समझ लेता है। परिवार के मध्य प्रेम, संवेदना सहयोग और त्याग जैसी भावनाओं को अर्थप्रधान नगरीय संस्कृति छिन्न-भिन्न करती जा रही है। अपने पिता (राजन) के हार्ट अटैक की खबर पाकर बिट्टो अपनी माँ को लिखती है, "पापा को अब विल कर देनी चाहिए, ताकि उनके बच्चों में झगड़ा-झंझट न हो और 'विल' में उसे इसलिए न उपेक्षित किया जाए कि वह लड़की है, विवाहित है या कि परायी है।"<sup>31</sup>

राजन स्वयं इसी स्थिति से दुःखी होकर कहता है, "कहाँ जाकर थमेगा यह सिकुड़ना, सूखेपन और सिर्फ अपने-अपने का कहाँ जाकर अन्त होगा? अजनबीपन जो आज राजन और भैया-भाभी के बीच उग आया है, वही कल पति-पत्नी के बीच क्यों नहीं होगा..... फिर बढ़ते-बढ़ते माँ-बेटे में भी क्यों नहीं आयेगा। माँ क्यों पालेगी बच्चे को....."<sup>32</sup> उपन्यास 'चलता हुआ लावा' में लेखक के माता-पिता अपनी पसन्द से बेटे का विवाह करते हैं, फिर भी अपनी बहू से दोनों से घृणा करते हैं और हमेशा उसे दुःखी करने का या उससे लड़ने का बहाना ढूँढते हैं। "माँ झन्न से बरतन गिरा देती और वह (बहू) चीख पड़ती है। पिता खाने पर से उठ जाते और वह रोने लगती। वह नहाने जाए तो , वह खाना खाए तो कुछ न कुछ ऐसा हो जाता है कि वह बैठकर सुबकने लगती।"<sup>33</sup> सास कहती है, "ऐसी बहू से तो मेरा बेटा कंवारा ही रहता ....। ऐसे घर में रहने से जंगल में रहना अच्छा है।"<sup>34</sup> स्थिति यहाँ तक बिगड़ जाती है

कि परिवार विघटित होने के कगार पर पहुँच जाता है और लेखक पात्र अपने पिता से कह देता है, "अगर यह घर आपको पसन्द नहीं है तो हम कुछ और करें।"<sup>35</sup> वह आगे कहता है, "यह घर तो अब मर जायेगा। उसकी पत्नी कहती हैं, मर जायेगा नहीं, मर चुका।"<sup>36</sup>

"महानगरों में पारिवारिक तनाव और तलाक के मामलों में लगातार वृद्धि हो रही है। इस स्थिति के साथ ही एक नयी समस्या उभर कर आयी हैं— बच्चों के समुचित विकास की। पारिवारिक तनाव पति—पत्नी के सम्बन्धों को तो विषाक्त करता ही है, बच्चों के सहज विकास को भी बाधित कर देता है। माँ—बाप के झगड़े में बच्चों से माँ—बाप का स्नेह पाने का उनका अधिकार छिन जात है। माता—पिता के सम्बन्ध यदि आपसी सूझ—बूझ सौहार्द एवं विश्वास पर टिके हो तो बच्चे स्वयं को सुरक्षित अनुभव करते हैं। इसके विपरीत माता—पिता के तनाव ग्रस्त सम्बन्ध बच्चों को हीनता, कुण्ठा, चिड़चिड़ापन, अकेलापन, भटकाव जैसे नकारात्मक मूल्य प्रदान करते हैं।"<sup>37</sup>

## 2. सांस्कृतिक परिवेश

"संस्कृति मनुष्य को मानवता की ओर प्रेरित करने वाले आदर्शों, आचार—विचारों और कार्यों, अनुष्ठानों की समष्टि का नाम है।" यही संस्कृति मानवीय समाज के क्रमिक विकास की गाथा है। अगर दूसरे रूप में कहा जाए तो आदिमकाल से प्रचलित रीति—रिवाज, परम्पराओं और आचार—विचारों का नाम ही संस्कृति होता है। कोई भी समाज संस्कृति के बिना जीवित और चलायमान नहीं रह सकता है। महानगरों की भिन्न संस्कृति और भिन्न मूल्यों को स्वीकार करने में और उनके अनुरूप स्वयं को ढालने में सभी नवागंतुकों को कठिनाई होती है और यही कारण उनके जीवन में सांस्कृतिक विक्षोभ का कारण तक बन जाते हैं। महानगरों में समायोजन करने के लिए जूझते नवागंतुक की मनोदशा का वर्णन आलोच्यकालीन उपन्यासों में देखने को मिलता है। मोहन राकेश के "अंधेरे बंद कमरे" में महानगरीय जीवन की इस विडंबना का चित्रण है। संस्कृति और मूल्य आपस में घनिष्ट रूप से सम्बद्ध है। इस रूप में मूल्य संस्कृति का ही अंग है। किसी भी देश के निवासियों का रहन—सहन, खान—पान, वेशभूषा आदि उस देश की संस्कृति का बोध कराते हैं। भारतीय महानगरों की जीवन शैली विदेशी महानगरों की जीवन शैली के समान होने लगी है। आज महानगरों में अपनी भाषा और संस्कृति के प्रति जो हीनता की भावना पनप रही है उसने भारतीयों को यूरोपीय पद्धति में ढाल दिया है। "आज युवा वर्ग पाश्चात्य तौर—तरीकों को जितना अपने आचरण में उतार रहा है उतना ही अपने सांस्कृतिक मूल्यों से दूर होता जा रहा है। सामाजिक स्थितियों और समय के परिवर्तन के साथ—साथ मनुष्य के मूल्यों में परिवर्तन आना अवश्यम्भावी है। परिवर्तन की यह सतत् प्रक्रिया आधुनिकता के संचरण के साथ—साथ और तीव्र हुई है। आज जितनी अधिक प्रगति ज्ञान—विज्ञान, तकनीकी,

प्रौद्योगिकी आदि की हो रही है, उसी गति से मूल्यों का परिवर्तन लक्षित किया जा सकता है।<sup>38</sup>

विज्ञान और तकनीकी तथा औद्योगीकरण का मूल्य परिवर्तन पर सर्वाधिक प्रभाव पड़ता है। व्यापक औद्योगीकरण तथा तकनीक का विकास हमारे ज्ञान और तर्क में वृद्धि करने के साथ-साथ हमें सर्वथा नवीन जीवन स्थितियाँ प्रदान करता है। नये-नये उपक्रमों और मशीनों का आविष्कार मनुष्य को अपने जीवन मूल्यों के पुनर्वीक्षण की आवश्यकता अनुभव करा देता है। बढ़ता हुआ औद्योगीकरण एक नयी नागरिक सभ्यता और महानगरीय जीवन-परिवेश को जन्म देता है। तकनीक विकास द्वारा दी गयी ये नवीन जीवन स्थितियाँ मनुष्य को पुनर्मानकीकरण के लिये बाध्य करती है।<sup>39</sup> इसीलिए औद्योगिक उत्पादन तथा व्यापारिक केन्द्रों के परिप्रेक्ष्य में विकसित नगरीय सभ्यता में धन की महत्ता, आर्थिक विषमता, निर्धनता, बेरोजगारी आदि के विभिन्न पहलुओं ने ऐसी परिस्थितियों को प्रेरित किया है, जिसके कारण परम्परागत नैतिक प्रतिमानों और मूल्यों की क्षति उत्तरोत्तर बढ़ती गयी है। नगरों में जनसंख्या के घनत्व में जहाँ कोई किसी को जानता नहीं, व्यक्ति सबकुछ करने की स्वतन्त्रता पा चुका है। नगरों की बढ़ती हुई जनसंख्या, सांस्कृतिक विषमता, क्षेत्रीय आकार की व्यापकता ने मनुष्य को सामाजिक नियमों तथा मूल्यों को तोड़ने की खुली छूट दे दी है।<sup>40</sup> संस्कृति शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत शब्द से हुई है, जिसका अर्थ होता है 'परिष्कृत', अर्थात् संस्कृति वह तत्व है, जो हमारे जीवन को परिष्कृत, उदार, विवेक सम्पन्न बनाते हैं। संस्कृति के चार अध्याय में दिनकर ने कहा है कि संस्कृति जीवन का एक तरीका है, यह तरीका जमा होकर इस समाज पर छाया रहता है, जिसमें हम जन्म लेते हैं।<sup>41</sup> 'पाँच आँगनों वाला घर' का श्याम अपने बच्चों का गला टाई से कसकर अंग्रेजी स्कूल भेजता है, उनसे घर में भी अंग्रेजी में बात करता है। बच्चे हिन्दी में भी बात करें तो उन्हें अंग्रेजी में बोलने की याद दिलाता है। बच्चे और वह दोनों अंग्रेजी में बात करके गर्व महसूस करते हैं। मम्मी नहीं मौम बोलेंगे।<sup>42</sup> श्याम की वृद्धा माँ अपने बेटे का अंग्रेजी प्रेम देखकर बड़ी दुःखी होती है और कहती है, "ये मुंशी राधेलाल का परिवार है – मुंशी जिन्होंने अंग्रेजों के खिलाफत में अपनी जान दे दी। ....."<sup>43</sup>

वर्तमान में अपनी भाषा, अपनी संस्कृति के प्रति जो अरुचि और हीनता बढ़ रही है, यह चिन्ता का विषय है, क्योंकि पश्चिमी संस्कृति की चकाचौंध आज की युवा पीढ़ी को जिस तरह अपनी ओर आकर्षित कर रही है, उसको देखकर यह लगता है जैसे वह दिन भी दूर नहीं जब हमारे संस्कारों में केवल नकल रह जायेगी और हम अपने जन्मजात संस्कारों से रिक्त हो जाएंगे। 'पाँच आँगनों वाला घर' में बिट्टो, बन्दू और छोटू जब अपने चाचा, चाची से मिलते हैं तो प्रणाम या नमस्ते की जगह "हैलो अंकल", "हैलो आन्टी" कहकर अभिवादन करते हैं। लेखक ने लिखा है, "कितने छोटे लगते हैं ये शब्द – अंकल-आंटी, चाचा-चाची की ऊँचाई पर पहुँच पाते हैं क्या?"<sup>44</sup> यहाँ लेखक की पीड़ा झलक रही है, क्योंकि भाषा ही भावों की वाहिनी होती है।

आज हमारा रहन-सहन, आपसी व्यवहार पूरी तरह पश्चिमी सभ्यता के रंग में ढलता जा रहा है। जो हमारे लिये शुभ संकेत नहीं है। "पाँच आँगनों वाला घर" का बन्दू इसी प्रकार का चरित्र है। पिता की कार लिये इधर-उधर डोलना, सिगरेट पीना, होटल में बियर के साथ डिनर करना। लड़कियों के साथ घूमना-फिरना, रॉक म्यूजिक सुनना उसके शौक है। जिन लड़कों के बीच छोटू का उठना-बैठना है, उनमें ये चीजें आधुनिकता, परिपक्वता और स्वावलम्बी – माने पूरा आदमी हो जाने की निशानियाँ मानी जाती हैं।<sup>45</sup>

आज का युवा वर्ग पाश्चात्य तौर-तरीकों को जितना अपने आचरण का अंग बनाता जा रहा है, उतना ही अपने संस्कारों और मूल्यों से दूर होता जा रहा है। उनके रहन-सहन में दिखावे और फिजूल खर्च की प्रवृत्ति बढ़ रही है, साथ ही बड़ों के प्रति आदर, लिहाज, उनकी आज्ञा का पालन जैसे मूल्य पीछे छूटते जा रहे हैं। सम्बन्धों की मर्यादा और गरिमा का निर्वाह करना वे नहीं जानते। इसी उपन्यास में छोटू द्वारा अपनी नव-विवाहिता पत्नी को गाली (बिच) देने पर राजन (छोटू का पिता) सोचता है – यह है तहजीब, जिसका घमण्ड यह पीढ़ी करती है – जब वह अच्छे कपड़े पहन, उन पर विदेशी सेन्ट छिड़क, बाप की कार चलाकर होटल पहुँचती है और वहाँ बियर-व्हिस्की पीकर, मुर्गा-मच्छी को पेट में थोक के भाव गिराती है, जो हँसती भी है तो 'ओ शिट' – मुँह से निकालती है और जिसे 'वेरी गुड' कहना है तो 'डेम गुड' ही बोलेगी। क्या इसी अमृत वर्षा के लिये रस्मों ने छोटू को दूध पिलाया था। राजन ने उस पर इतने रुपये खर्च किये थे?"<sup>46</sup> राजन को यह बात कचोटती है कि पता नहीं कहाँ गड़बड़ी हो गई परवरिश में कि इन्हें संस्कार देना तो दूर उन संस्कारों की बुनियादी जानकारी भी नहीं दी जा सकी।<sup>47</sup>

किसी भी संस्कृति की संक्रमणता केवल विचारों या भाषा द्वारा ही प्रकट नहीं होती, वेशभूषा, खान-पान, रहन-सहन को भी प्रभावित करती है। वेशभूषा व्यक्ति के व्यक्तित्व को आकर्षक बनाने के साथ-साथ उसकी रुचि, उसके सौन्दर्य-बोध और उसके संस्कारों की परिचायक भी होती है। साथ ही किसी राष्ट्र, राज्य या प्रदेश का प्रतिनिधित्व भी करती है। सामान्यतः वेशभूषा को सबसे अधिक क्षेत्र विशेष की जलवायु प्रभावित करती है और दूसरे स्तर पर समुदाय विशेष के नियम। इस दृष्टि से देखा जाये तो आज की पीढ़ी बहुत अधिक सीमा तक यूरोपिय संस्कृति से प्रभावित हो चुकी है। कमीज, पतलून, कोट, पैन्ट, टाई, जींस आदि पोशाकें आज हमारे समाज का हिस्सा है, चाहे वह गाँव हो या महानगर। सन् 1947 में जो स्वतन्त्रता हमें प्राप्त हुई वह प्रत्यक्ष थी किन्तु वास्तव में भारतीय सामाजिक मानसिकता स्वतन्त्र नहीं हुई। आज प्रत्येक क्षेत्र में यूरोपिय संस्कृति का अनुकरण इस बात का प्रमाण है। रहन-सहन, खान-पान से लेकर जीवन जीने की रीति, तौर-तरीके सब पाश्चात्य संस्कृति के अनुरूप हैं।



‘पाँच आँगनों वाला घर’ में छोटू के विवाह में हर रस्म पूरे ब्यौरे के साथ की जाती है, पर छोटू उनके कारण बीच-बीच में झुंझला उठाता है। उसे इन रीति-रिवाजों में कोई दिलचस्पी नहीं थी। वह विवाह के तुरन्त बाद घर जाने के स्थान पर उसी पाँच सितारा होटल में ही ठहरना चाहता है, जहाँ ‘रिसेप्शन’ दिया गया था। छोटू अपने दोस्त के द्वारा यह खबर अपने पिता तक पहुँचा देता है कि वह सुहागरात घर में नहीं उसी होटल में मनाएगा। छोटू के पिता राजन को यह सुनकर बड़ा अजीब लगता है। वे सोचते हैं, “प्रेम को धीरे-धीरे उगने, बढ़ने देना चाहिए, न कि इस तरह। कितनी बेताब और नासमझ है यह पीढ़ी और बेशर्मी तो देखो कि पिता को कहलवाते हैं।”<sup>48</sup> “होटल क्या घर का पर्याय हो सकता है ? भारतीय परम्परानुसार तो बहू के चरण पहले-पहल घर में ही पड़ते हैं, घर के दरवाजे पर उसकी पूजा होती है कि लक्ष्मी आयी है, उसकी आरती उतारी जाती है। छोटी की माँ रम्मो को भी यही चिन्ता थी कि उन सब रस्मों का क्या होगा जो बहू के घर में आने पर होती हैं। उधर छोटू सोच रहा था कि “घर में वे सुख-सुविधाएँ कहाँ जो होटल में मिलती हैं। होटल में वह कमरे में घुसते ही स्वतन्त्र होगा-ड्रिंक, डिनर का ऑर्डर देगा। वहाँ घर में मम्मी चलाती रहेंगी कभी यह रस्म, कभी वह रस्म, सो तक नहीं पायेगा ठीक से।”<sup>49</sup> पहले दिन तो छोटू को किसी तरह समझा-बुझा कर घर पर रोक लिया जाता है, पर अगले दिन छोटू की जिद के कारण सारी रस्में जल्दी-जल्दी निपटा कर दंपती को होटल भेज दिया जाता है। छोटू होटल से ही ‘हनीमून’ के लिए गोवा चला जाता है और उसकी माँ रम्मो के मन में नयी-नयी बहू को लेकर जो हुलास था वह ठण्डा पड़ जाता है।

ये रीति-रिवाज हमारे जीवन का अनिवार्य अंग थे। खुशी-गम के अवसरों पर सामूहिक रूप से निभाए जाने वाले ये रीति-रिवाज व्यक्ति में सामुदायिकता और मेल-जोल की भावना को विकसित करते थे। व्यक्ति के दुःख को कम करके सुख को व्यापक बनाने और जीवन में विविधतापूर्ण उल्लास के संचार का दायित्व भी इन्हीं के द्वारा निभाया जाता था। शादी-ब्याह मुण्डन, जन्मदिन जैसे अवसरों पर सारे कुटुम्ब जनों का एकत्र होकर रीति-रिवाजों को सम्पन्न करना और इस दौरान होने वाला हास-परिहास, चुहलबाजी जीवन में कैसा आनन्द का रंग घोल जाती थी इसकी कल्पना करना भी आज की पीढ़ी के लिए कठिन है।

बदली हुई परिस्थितियों के साथ महानगरों में इन रीति-रिवाजों का पालन खानापूर्ति तक सीमित रह गया है। विवाह के अवसर पर घर की बड़ी-बूढ़ी औरतें ही चुपचाप सारे रस्मों-रिवाज को पूरा करती हैं। इन अवसरों पर गाए जाने वाले मधुर पारम्परिक गीतों का स्थान कानफोड़ फिल्मी संगीत ने ले लिया है। ‘लेडीस संगीत’ जैसे आयोजन महानगरीय संस्कृति की ही देन है जिनमें पाश्चात्य और फिल्मी धुनों पर युवतियों को सिने-तारिकाओं की तरह भद्दे नृत्य करते हुए देखा जा सकता है। जन्मदिन के अवसर यज्ञ अथवा पूजा-पाठ के

स्थान पर पार्टी का आयोजन करना, केक काटना जैसी प्रथाएँ भी महानगरीय जीवन में सहज—स्वीकृत होकर आम होती जा रही है।

‘उखड़े हुए लोग’ में शरद विवाह प्रथा को सामाजिक रूढ़ि का जर्जर, मिटता हुआ रूप तथा व्यक्ति के विकास में सबसे बड़ी बाधा मानता है —‘इसलिये शरद और जया दोनों विवाह संस्था का विरोध करते हैं। विवाह किए बिना भी सामान्य पति—पत्नी के रूप में रहना नवीन वैवाहिक मूल्य—धारणा के जन्म का सूचक है। इसी उपन्यास में शरद जया यूरोपिय संस्कृति के अनुरूप बिना विवाह किये साथ—साथ रहना स्वीकार करते हैं और इस बात को छिपाने के लिये झूठ का सहारा भी लेते हैं। ताकि उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा ज्यों की त्यों बनी रहे। प्रोफेसर कपिल की पत्नी के प्रश्न पर जया यह नहीं कहती कि वे दोनों बिना शादी किए साथ—साथ रहने लगे हैं, जया झूठ बोलती है कि हम लोगों ने शादी अपनी इच्छा से की है। यहाँ जया का व्यवहार इस बात को प्रमाणित करता है कि वह मन से तो विवाह जैसे संस्कार को नहीं मानती किन्तु समाज के भय से उसे स्वीकार करती है।

आज आधुनिक शिक्षा प्राप्त व्यक्ति रूढ़ि और परम्परागत संस्कारों से मुक्त तो हुआ है किन्तु उसमें प्राचीनता का मोह और आधुनिकता के आग्रह ने एक अन्तर्द्वन्द उत्पन्न कर दिया है। वह स्वतन्त्र अस्तित्व की स्थापना के लिये रूढ़िगत संस्कारों को बाह्य रूप से त्याग भी देता है किन्तु रूढ़िगत संस्कारों की अदृश्य बेड़ी को तोड़ नहीं पाता और यह उसके अन्तर्द्वन्द का कारण बनता है। जया भी अपने जीवन—साथी का निर्णय स्वयं करती है, घर और शहर छोड़कर शरद के साथ चली जाती है। लेकिन पूर्व में जब शरद उसे अपने साथ चलने को कहता है, तब वह मना कर देती है। वह शरद से कहती है —‘‘यह आफत आपने खूब लगा दी दा .... मैं सच कहे देती हूँ, मैं नहीं जाऊँगी। आप तो कुछ सोचते हैं नहीं, पीछे यहाँ आफत हो जाएगी, आसमान टूट पड़ेगा। अच्छा लगेगा जब अखबारों में मोटे—मोटे नामों के साथ तस्वीरें छपेगी, खबरें फैलेंगी? शहर के सारे बुढ़िया—बुढ़ों को साल भर के लिये मसाला मिल जाएगा .... हमारे घर वाले ....।’’<sup>50</sup>

भारतीय संस्कृति में नारी को पूजनीय माना गया है, किन्तु पश्चिमी देशों में नारी शरीर को जितना अधिक दिखाया जाता है, वही सबसे अच्छा फैशन माना जाता है और आजकल भारतीय समाज इसी का अनुकरण कर रहा है। ‘उखड़े हुए लोग’ उपन्यास का रावत, जो इतिहास का प्रोफेसर है, नारी फैशन को देखकर कहता है —‘‘यह दुनियाभर का प्रदर्शन, यह इटला—इटला कर, मटक—मटक कर चलना, बात बिना बात हँसना, अधिक से अधिक शरीर को दिखाना, यह सब किसलिये है? हलवाई अपनी मिठाई पर बर्क लगाता है, सुन्दर रंग डालता है कि ग्राहक की सोई भूख जागे और ऐसी तीव्रता से जागे कि वह किसी न किसी तरह उसे प्राप्त करे, वह निमन्त्रण है, जिसे चाहे तो भी आप नहीं झुटला सकते।’’<sup>51</sup> रावत अधिक शरीर प्रदर्शन के बारे में शरद से कहता है —‘‘सच मानिए शरद बाबू इनमें से हर औरत चाहती है कि

पुरुष वासना भरी दृष्टियाँ उसके शरीर को सहला-सहलाकर गुदगुदाती और रोमांचित करती रहे। कितना वह इन्वाइट और आकर्षित कर पाती है, यही उसकी सफलता है।<sup>52</sup> 'उखड़े हुए लोग' उपन्यास का रजनीकान्त जो पेरिस से लौटा है, वह कहता है – "करण और व्यभिचार की परिभाषाएँ हर देश की अलग-अलग हैं, हमें वह व्यभिचार लगता है। वहाँ वह नहीं है – दूसरे वहाँ जो खुलेआम होता है और कोई बुरा नहीं मानता, उससे ज्यादा सब कुछ यही होता है, और अधिक बुरी तरह होता है।"<sup>53</sup>

वास्तव में पश्चिमी संस्कृति और भारतीय संस्कृति में काफी भिन्नता है, लेकिन हमारी बीमार मानसिकता और पश्चिमी संस्कृति को श्रेष्ठ मानने की प्रवृत्ति के कारण समकालीन समाज में अनैतिकता बढ़ी है। लोग अपने स्वार्थपूर्ति के लिये मूल्यों को ताक पर रखकर उचित-अनुचित व्यवहार करने से भी नहीं चूकते। उखड़े हुए लोग उपन्यास के कवि चम्पक पूंजीपति देशबन्धु का भाट बन जाता है और उन्हीं की पसन्द की रचनाएँ लिखता है। कवि आनन्द और विकास के अनुसार – "चम्पक जैसे लोग कविता के सम्मान में कलंक है। इन्हें कवि कहना गुनाह है।"<sup>54</sup> इसी उपन्यास का केशव भी देशबन्धु और मायादेवी के अनैतिक सम्बन्धों को मजबूत करने में सहायता करता है। वह दोनों को मिलाने का काम करके अपनी नौकरी सुरक्षित करता है।

यदि ध्यान से देखा जाए तो समकालीन समाज पर नैतिक संकट मंडरा रहा है। "पाँच आँगनों वाला घर" में राजन और मोहन पाश्चात्य संस्कृति के बढ़ते हुए प्रभाव के बारे में चर्चा करते हुए कहते हैं, "नये में भी बहुत कुछ अच्छा है, नया आकर भी रहेगा – उससे परहेज तो नहीं किया जा सकता, पर ऐसा लगता है कि नये में जो गंदा है, हम वही ले रहे हैं।"<sup>55</sup> और पुराने का जो कुछ अच्छा था, उसे बराबरी से छोड़ते जा रहे हैं।<sup>56</sup> मोहन कहता है, "विदेशी संस्कृति कैसे हावी होती जा रही है हमारे बच्चों पर। ये म्यूजिक, ये कोमिक्स (बम्बई) यहाँ देखो तो वही, दिल्ली में देखो तो वही। ..... लगता है कोई साजिश है, जो चीजें हमारे दिमाग को कुन्द बनाये, वे बहुत सुलभ कर दी गई हैं। पश्चिमी संस्कृति का ऐसा आक्रमण पहले कभी नहीं हुआ।"<sup>57</sup> पश्चिमी सभ्यता, नगरीकरण, भौतिकवादी परिवर्तनों के परिणामस्वरूप आज व्यक्ति अधिकाधिक स्व केन्द्रित होता जा रहा है। अपना सुख अपना स्वार्थ यही प्रमुख है। आज व्यक्ति ज्यादा से ज्यादा धन, पद, शक्ति प्राप्त करना चाहता है, चाहे उसके लिये उसे अपना चरित्र ही दांव पर क्यों न लगाना पड़े।

इसी उपन्यास के पात्र सन्नी ने वर्तमान स्थिति के प्रति अपनी चिन्ता व्यक्त की है। वह कहता है, "आज की मूल समस्या नैतिकता का ह्रास है, अगर लोगों की नैतिकता में आस्था हो तो वे सचेत रहेंगे, नेताओं में हो तो वे गिरने से बचेंगे। नैतिकता सध गई तो बाकी सब चीजें सध सकती हैं, नैतिकता खोई तो फिर कोई सीमा नहीं हम कहाँ तक गिरते चले जाएँगे।"<sup>58</sup> सन्नी को यह दंश बड़ा सालता रहता है कि युवा पीढ़ी में आदर्शों, मूल्यों के प्रति आकर्षण

निरन्तर घट रहा है। पत्रकारिता के क्षेत्र में काम करने वाले लोग जो आदर्श वातावरण के निर्माण में पहल कर सकते हैं। वे ऐसे काम करते हैं, जिनसे उन्हें 'पावर' मिले और सुख सुविधाओं का उपभोग कर सकें। पत्रकारों को इसमें कुछ भी गलत नहीं दिखता और वे कहते हैं, "हर प्रोफेशन की तरह इस प्रोफेशन में भी पक्स हैं और जो पक्स नहीं ढूँढ पाते, वे बेवकूफ हैं।"<sup>59</sup> सन्नी जब अपने स्तर पर नैतिक जागरण करने का प्रयास करता है तो लोग उसे निरा आदर्शवादी कहकर उसकी उपेक्षा करते हैं। सन्नी जब अपने बनारस वाले घर से वर्तमान दिल्ली के जीवन की तुलना करता है तो उसे लगता है तब तो फालतू बातों के पीछे भी कोई न कोई मूल्य झलकता था, पर अब तो देश और समाज से सम्बन्धित महत्वपूर्ण मुद्दों में भी मूल्यों के स्थान पर स्वार्थ को महत्त्व दिया जाता है। वह सोचता है, "कहाँ से कहाँ आ पहुँचे हम .... पूरी मूल्यहीनता के युग में प्रवेश कर गए, नैतिकता की बात उठाना ही आदर्शवाद हो गया .... पतन का इतना लम्बा रास्ता इतनी जल्दी तय हो गया कि एक सन्नी की जिन्दगी भी न गुजर पायी।"<sup>60</sup> महानगरीय परिवेश ने पीढ़ियों से चलते आ रहे रीति-रिवाजों को भी परिवर्तित कर दिया है। मृत्यु संस्कार में 'अग्निदान' की रीति का बदला रूप 'चलता हुआ लावा' में दिखाया गया है। कलकत्ता में तो जगह की इतनी कमी है कि शवों को जलाने के लिए श्मशान में भी खाली जगह नहीं मिलती। 'चलता हुआ लावा' का लेखक लिखता है, "कलकत्ता में तो अस्थि विसर्जन भी नहीं होता। श्मशान का दरबान दो मिनट में उस जगह को साफ कर देता है। कहीं जलना भी एक सीट की तरह होता है—नाई की दुकान की तरह एक आदमी के बाद उसी कुर्सी पर दूसरा आदमी बैठकर हजामत बनवाता है। जलने वाली जगह समाधि बनाकर उसे खराब करने से कोई लाभ नहीं।"<sup>61</sup>

इन सभी उद्धरणों से यही सिद्ध होता है कि भारतीय समाज स्वतन्त्र तो हुआ किन्तु भारतीय सामाजिक मानसिकता स्वतन्त्र न हो सकी। आधुनिकता का लिबास तो हमने ओढ़ लिया किन्तु अन्दर से परम्पराओं का मोह नहीं छोड़ पाये। और फिर शुरू हुआ दोहरा जीवन। ये दोहरा जीवन ही मनुष्य के जीवन में कुण्ठा, अकेलापन, तनाव, संत्रास उत्पन्न करता है, क्योंकि व्यक्ति जो कुछ है वह दिखता नहीं और जो वह नहीं है वही बनने का ढोंग करता रहता है। ऐसी स्थिति में एक समय ऐसा आता है, जब वह स्वयं को खो देता है और फिर उसके पास बचता है खालीपन, रिक्तता। जो उसे सबसे अलग कर अकेलेपन की स्थिति में पहुँचा देती है।

### 3. महानगरीय परिवेश

भारतीय मानस में महानगरीय परिवेश का उदय उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में उस समय प्रारम्भ हुआ जब ब्रिटिश साम्राज्यवादी संघातों ने सामंतीय ढाँचे पर आघात करने आरम्भ किए। भारतीय पूंजीपतियों का उद्योग धंधों और वाणिज्य व्यवसाय के क्षेत्र में प्रवेश महानगरीय

सभ्यता के उदय की पृष्ठभूमि बना हांलाकि अंग्रेजों की मानसिक प्रवृत्ति भारतीय विकास की नहीं थी किन्तु ब्रिटिश साम्राज्यवाद की नींव को सुदृढ़ करने के लिए उनके द्वारा आरंभ किए गए विद्यालयों, विश्वविद्यालयों ने भारतीय शिक्षित मध्यमवर्ग को तैयार किया। इनके साथ-साथ उदय हुआ मध्यमवर्गीय चिंतन का जिसने एक भारतीय जनमानस को मानसिक आंदोलन की ओर गतिमान किया।

हिन्दी साहित्य के संदर्भ में महानगरीय परिवेश का उदय हिन्दी के प्रथम उपन्यास 'परीक्षा गुरु' में दृष्टिगत होता है। इसका लेखक सामंत परिवार से सम्बन्धित होने के कारण उपन्यास में मध्यमवर्ग की अनिश्चित अवस्था का वर्णन दिखलाई देता है। प्राकृतिक स्वरूप में संचालित हो रही महानगरीय परिवेश की घटना पूर्णतया अनिवार्य थी। यूरोप की ज्ञान चेतना और वैज्ञानिक दृष्टिकोण का असर भारतीय जनमानस को भी अछूता न रख सका। औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप भारतीय महानगरीय व्यवस्था का तीव्र गति से विकास होने लगा। भारतीय कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था पर हरित क्रान्ति ने भी महत्वपूर्ण प्रभाव दिखलाया। कृषि उत्पादन में वृद्धि के साथ-साथ बेरोजगारी की समस्या ने भी पैर पसारे। परिणामस्वरूप एक बड़ी संख्या में लोगों का नगरों की ओर गतिशील होना आरंभ हुआ। "यह निश्चित है कि जिन देशों में हरित क्रान्ति की मात्रा जितनी अधिक होगी वहां नगरीकरण की प्रक्रिया उतनी ही तीव्र होगी।"<sup>62</sup>

अंग्रेजों द्वारा भारतीय उद्योग धंधों को नष्ट करना महानगरीयकरण का मुख्य कारण बना। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भी इस नगर समुदाय की भीड़ को संभाला नहीं जा सका और इससे उत्पन्न अव्यवस्था ने मानवीय सम्बन्धों को तोड़ना आरम्भ किया और फिर आरम्भ हुई आत्म निर्वासन की स्थिति। मोहन राकेश ने भी महानगरों को अपने उपन्यासों का विषय बनाया है। 'अंधेरे बंद कमरे' में महानगर दिल्ली के परिवेश को दर्शाया गया है। इन उपन्यासों में यांत्रिक सभ्यता के दबाव में मनुष्य के अकेलेपन का चित्रण किया गया है। बढ़ती हुई भीड़, जीवन की विडम्बनाओं को दिखाने का प्रयास है। आलोच्य उपन्यासों में दिल्ली, लंदन और बम्बई जैसे महानगरों के जीवन की भाग-दौड़ का चित्रण है। इन रचनाओं का मुख्य स्वर है महानगरीय जीवन की असहनीय भीड़, आतंक, शोर और अजनबीपन। जहां पर मानवीय सम्बन्धों का स्तर सतही मात्र है। इन उपन्यासों का केन्द्र बिन्दु महानगरीय जीवन ही है। उपन्यास के माध्यम से सम्बन्धों के खोखलेपन और निरर्थकता को व्यक्त किया गया है।

महानगरीय जीवन में अजनबीपन इतना अधिक बढ़ गया है कि आस-पड़ोस में रहने वाले लोगों में भी आपस में कोई परिचय नहीं होता। लोग पास-पास रहते हुए भी निकट नहीं हो पाते। महानगरों में घनी आबादी, दैनिक जीवन के व्यस्त कार्यक्रम व्यक्तिवादी विचारधारा तथा पेशों की विभिन्नता एवं भिन्न-भिन्न प्रकार की आदतों, रुचियों के परिणामस्वरूप एक पड़ोसी के दूसरे से सम्बन्ध विकसित नहीं हो पाते। "मनुष्य-मनुष्य के बीच जो विलगाव और संवादहीनता की स्थिति पैदा हो गयी है। उसका एक कारण यह भी है कि लोगों में उन

सर्वमान्य सत्यों को ही जानने-पहचानने की सामर्थ्य नहीं रह गयी है, जिनके प्रभाव-क्षेत्र से कोई बाहर नहीं रह सकता और जिनके प्रति उदासीनता का अर्थ स्वयं मानव नियति के प्रति उदासीन हो रहना है।<sup>63</sup> अजनबीपन और संवादहीनता की इस स्थिति ने व्यक्ति में एकाकीपन की अनुभूति को गहराया है। महानगर में कार्य की व्यस्तता के चलते दिनभर व्यक्ति भीड़ में गुजारता है, फिर भी स्वयं को अकेला अनुभव करता है। भीड़ में अकेलेपन का अहसास महानगरीय सभ्यता का विशिष्ट आयाम है।

ये संवादहीनता, सम्बन्धहीनता ही कुण्ठा और तनाव को जन्म देती है। तब व्यक्ति को जीवन में कोई सार्थकता ही दिखाई नहीं देती। वह एक अजीब से घुटन महसूस करने लगता है। महानगरीय जीवन भले ही व्यक्ति की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक होता है किन्तु फिर भी यह व्यक्ति को उस मूल आनन्द से वंचित कर देता है जो उसे जीवन के प्रति सरसता की अनुभूति करवाता है। महानगरों में प्रवेश करते ही विशाल संख्या में अपरिचित चेहरे दिखाई पड़ते हैं। एक भी चेहरा ऐसा नहीं होता, जिसे अपना कह कर पुकार सकें। इस प्रकार जीविका की खोज में आए नवागन्तुक परिवार के दृढ़ अनुभवों और प्रेम सम्बन्धों को तो खो ही देते हैं, साथ ही लोक समुदाय के रागात्मक सम्पर्क से भी वंचित कर दिये जाते हैं। समाज के रागात्मक सम्पर्क से पूर्णतः कटे हुए इन व्यक्तियों का जीवन अन्दर ही अन्दर खोखला हो जाने के लिये प्रतिबद्ध हो उठता है।<sup>64</sup> “आधुनिक जीवन की प्रतियोगिता में आगे निकलने की दौड़ आपाधापी और घोर व्यस्तता के बावजूद एक शून्य या खालीपन में भटकाव का अहसास। घर से बाहर सम्बन्धों की तलाश और जीवन की सार्थकता की तलाश के बीच एक कशमकश, एक बेचैनी। आस-पास सुविधाओं के अम्बार के बीच भी जैसे एक निरन्तर अभाव। मित्रमण्डलियों, पार्टियों से घिरकर भी जैसे भीड़ में अकेले। चारों ओर के माहौल में सन्देह, अविश्वास, छिपी ईर्ष्या, घृणा और बदले की भंगिमा की गंध। महत्त्वाकांक्षा के अपने ही बनाए महल में कैद की घुटन या असम्भव कल्पनाओं के अपने ही बुने जाल में फंसी मकड़ी की सी तड़प – कुल मिलाकर यही है आज के मध्यमवर्गीय आदमी की नियति। समृद्धि – साधनों और खुशियों को समेटने की चाह में अपने से और अपने आपसे कटकर लगायी गयी अन्धी दौड़ की एक आकारहीन अनाम अन्तिम परिणति।”<sup>65</sup> आज आदमी और आदमी के बीच संवाद नहीं है और न ही होने की संभावना है, इसी से वे सब एक-दूसरे के लिये अजनबी हैं।<sup>66</sup> वैज्ञानिक उन्नति और औद्योगीकरण के फलस्वरूप पुरानी मान्यताएँ अर्थहीन हो गयी तथा व्यक्ति ने पूरब-पश्चिम की सांस्कृतिक टकराहट में अपने को मूल्यों के स्तर पर अकेला पाया। जो परम्परागत जीवन जीते रहे, ईश्वर, कर्मवाद में विश्वास रखते हैं, वे इस मानसिक द्वन्द्व और टूटन के शिकार नहीं हुए, मजदूरी के लिये शहर जाने वाला व्यक्ति जब तक मानसिक स्तर पर गाँव और उन पारम्परिक आस्थाओं और विश्वासों से जुड़ा रहा, जो ग्रामीण जनमानस का निर्माण करते हैं, ऊब और तनावों का शिकार नहीं हुआ, लेकिन नई चेतना के संस्पर्श और नए विचारों की

सुगबुगाहट से जब वे आस्थाएँ टूटने लगी, तब उन सारी मान्यताओं पर प्रश्न-चिह्न लग गया और अजनबीपन की समस्या धीरे-धीरे उसके मानस में गहराने लगी।<sup>67</sup>

महानगरों के विकास ने जीवन को संघर्षमय बनाकर उसकी जटिलता को और तेज कर दिया है। महानगरीय सन्दर्भ में विकसित अर्थ-प्रधान, भौतिकवादी संस्कृति ने परम्परागत सामाजिक, नैतिक, पारिवारिक मूल्यों एवं आदर्शों को आघात पहुँचाया है। इससे व्यक्ति के व्यवहार में भी बदलाव आया है और उसके पारिवारिक सम्बन्धों का स्वरूप भी बदल गया है। परिवार को सुचारु रूप से चलाने के लिये उसके सदस्यों के बीच आपसी समन्वय सामंजस्य और मधुर सम्बन्धों का होना अत्यन्त आवश्यक है। इसके अभाव में वह एक इकाई के रूप में नहीं रह सकता। महानगरों में हर व्यक्ति अपनी आकांक्षाओं को संजोए अपने ही सपनों में डूबा हुआ है। वहाँ का आदमी असभ्य नहीं है, पर वहाँ लोगों में प्रेम नहीं है। लोग बनावटी सुखों के पीछे पागल हैं। वे न अपनों का सुख जानते हैं, न उनकी पीड़ा को समझते हैं।

गोविन्द मिश्र के उपन्यास 'पाँच आँगनों वाला घर' के मुख्य पात्र राजन की पत्नी रम्मो संकुचित हृदय और विचारों वाली स्त्री है। उसके कारण राजन के सम्बन्ध अपने परिवार के अन्य सदस्यों से कट जाते हैं। अपने जिन भैया-भाभी के प्रति वह स्वयं को कृतज्ञ महसूस करता था उनके लिये भी वह कभी कुछ नहीं कर पाता। विवाह के बाद उसका एक ही काम है ..... रम्मो और उसके बच्चों को खुश रखना। एक दिन किसी बात पर मतभेद हो जाने पर रम्मो उसे जेल भेजने की धमकी देती है, "मुझे यह-वह मत समझिये। दौलत कहाँ और कैसे है, कैसे आयी है .... हर चीज एक-एक राज जानती हूँ। मैं चाहूँ तो तुम्हें जेल भिजवा सकती हूँ।"<sup>68</sup> रम्मो की इस बात से राजन सोचता है, "क्या वह पति-पत्नी है, इतने साल पुराने पति-पत्नी? सारा जीवन रम्मो की खुशी के लिये मरता रहा। राजन को खुद खाने-पीने, पहनने ओढ़ने, यहाँ तक कि घूमने-फिरने में भी दिलचस्पी नहीं रही .... जीवन का जीवन उड़ेल दिया रम्मो पर, उसे प्रतिदान में क्या मिला "मैं तुम्हें जेल भिजवा सकती हूँ"।<sup>69</sup>

'चलता हुआ लावा' का लेखक पात्र संयुक्त परिवार का सदस्य था, किन्तु व्यक्तिवादिता के चलते घर के युवा अनुशासन को पसन्द नहीं करते और घर टूट जाता है। सब अलग-अलग रहने लगते हैं, कभी-कभी मिलने पर भी उनमें आत्मीयता नहीं होती। केवल दुर्गा अष्टमी पर नवरात्रि में सब लोग पुराने घर जमा होते, जहाँ चाचा पाठ किया करते थे, लेकिन पूजा के समय भी सब लोग ऐसे सिर देकर बैठे रहते हैं, जैसे कोई मर गया हो। व्यक्तिवादिता और महानगरीय जीवन ने व्यक्ति के हर रिश्ते को प्रभावित किया है, चाहे वह माता-पिता हो, भाई-भाई हो या पति-पत्नी। 'चलता हुआ लावा' का लेखक अपने पत्नी में समानान्तरता की तलाश करता है, जिसमें असफल रहने पर उनका दाम्पत्य जीवन भी टूटन से भर जाता है। इससे लेखक पात्र अपनी पत्नी से विमुख होकर गुड्डम की ओर उन्मुख होता है। जहाँ उसे मानसिक औपचारिकता समानान्तरता प्राप्त होती है। लेखक पात्र अपनी स्थिति को देखते हुए

यह निष्कर्ष निकालता है कि “पहले जैसे परिवार की सम्पन्नता, दहेज, गाड़ी और ठाट-बाट देखकर शादी की जाती थी, वैसे ही अब समान्तरता देखी जानी चाहिए। यह अगर नहीं हुई तो फिर दाम्पत्य कच्चे धागे की तरह टूटता है।”<sup>70</sup> इसी उपन्यास का लेखक पति-पत्नी के बीच की मृत संवेदना को स्पष्ट करते हुए कहता है – “विधवा होने का जो अर्थ है, ‘ऊपर से साया उठ गया’ ... जैसा भाव मेरी पत्नी में आएगा ही नहीं।”<sup>71</sup> वह कहता है, “यदि मेरा बीमा होता तब वह (पत्नी) जरूर चिन्ता करती और यह भी निश्चित मानिए कि जब तक मेरी लाश क्यू में लगी रहती, एल.आई.सी. से लोग रूपया भी ले लेते।”<sup>72</sup>

महानगर में अर्थोपार्जन एवं स्वार्थपूर्ति हेतु सम्बन्धों को दाँव पर लगाना या अपने स्वार्थ को दृष्टि में रखते हुए नये सम्बन्ध बनाना व्यक्तित्व की विशेषता बनती जा रही है। ‘पाँच आँगनों वाला घर’ का बन्दू शादी को अपने कैरियर में तरक्की का जरिया मानता है, इसलिये वह एलिस नामक अमेरिकन लड़की से जो उसे अमेरिका ले जाने का प्रस्ताव रखती है, विवाह के बारे में सोचता है, क्योंकि उससे विवाह करने पर उसे अमेरिका में रहने की सुविधा मिल जाएगी। उसका मानना है, “अगर किसी लड़की की सुन्दरता उसकी तरफ खींच सकती है, तो वैसे ही उसकी प्रोपर्टी क्यों नहीं। जैसे परिवार लड़की की कीमत बढ़ाता है, वैसे ही उसका देश क्यों नहीं।”<sup>73</sup> नगरीय परिवेश में विवाह को एक समझौता मात्र माना जाने लगा। जब तक आसानी से निभाया जाए निभाओ अन्यथा दूसरा रास्ता है और वह है तलाक। बन्दू कहता है, “सारी जिन्दगी अपनी और दूसरे की भी ... नर्क बना डालना, एक-दूसरे का खून चूसते हुए हर हाल में निबाहते रहना ... यह अच्छा है मेच्योर तरीके से मान लेना कि ओ.के. और अलग होकर नया जीवन शुरू करना।”<sup>74</sup>

महानगरों की आधुनिक जीवन शैली को पाश्चात्य रंग के साथ युवाओं ने ही अपनाया है। उनका रहन-सहन, चाल-ढाल, शिक्षा, आदि सब पर पाश्चात्य संस्कृति हावी है। सांस्कृतिक संक्रमण के कारण जहाँ कुछ मामलों में उनकी सोच उदार हुई है, वहीं कुछ मामलों में संकीर्ण व्यक्तिवादी रुख भी अपनाया है। पारिवारिक सम्बन्धों के मामले में वे व्यक्तिवादी अधिक हुए हैं। अनुशासन, परिवार के नियम उन्हें अपनी आजादी में बाधा लगते हैं। जबकि दूसरी ओर पुरानी पीढ़ी के लिये इतना बदल जाना संभव नहीं है। वे अपनी परम्पराओं, रीतियों, जीवन शैली का आज भी निष्ठा से पालन करना चाहते हैं। वे उन्हें जीवन के लिये बहुत महत्वपूर्ण मानते हैं और उनमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन उन्हें मान्य नहीं है। साथ ही वह यह भी चाहते हैं कि उनकी आने वाली पीढ़ी, उनकी सन्तानें भी इन रीति-रिवाजों को उसी श्रद्धा के साथ अनुसरण करे। इस तरह दोनों पीढ़ियों के मध्य विचारों एवं जीवन शैली को लेकर मतभेद उत्पन्न होता है, जिसका अन्त निराशा, कुण्टा, तनाव, अकेलापन जैसी भावनाओं में परिणत हो जाता है।

इस स्थिति को बड़ा ही प्रभावी ढंग से उपन्यास ‘पाँच आँगनों वाला घर’ में बताया गया है। उपन्यास के पात्र राजन के तीनों बच्चों पर पश्चिमी रंग चढ़ा हुआ है। उनके मन में विदेश



और विदेशी चीजों के प्रति ललक है तथा भारतीय वस्तुएँ और व्यक्ति उन्हें 'आउट ऑफ डेट', ओल्ड फैशन प्रतीत होते हैं। राजन उनके शिक्षा, पद, उम्र और अनुभव सभी में आगे है, फिर भी उसके बच्चे उसे ज्यादा महत्व नहीं देते। लेखक ने टिप्पणी की है कि इन लड़कों-बच्चों में आत्मविश्वास का अतिरिक्त पुट दिखायी देता है, अपनी स्वतन्त्रता, अपनी निजता, अपनी सोच .. इनके प्रति ज्यादा ही सचेत हैं वे। जो हो उनका अपना सोचा हुआ ही हो, उनका अपना निर्णय। दूसरों से प्रभावित होना गलत है।<sup>75</sup> उन्हें अपने मामलों में किसी का दखल अच्छा नहीं लगता। राजन की बेटी बिट्टो अपनी पढ़ाई की अपेक्षा घर के हिसाब-किताब और मनी प्लानिंग में ज्यादा रूचि लेती है। राजन के समझाने पर कि इस उम्र में रूपया इतना महत्वपूर्ण नहीं है, जितनी पढ़ाई, बिट्टो का जवाब होता है, "पापा आपके समय में न रहा होगा। आज वह (पैसा) सबसे बड़ी ताकत है। इट्स द थिंग।"<sup>76</sup> इसी प्रकार बन्दू (राजन का बड़ा बेटा) का भी अपना नजरिया है, वह माँ-बाप का सम्मान तो करता है, परन्तु कोरी भावुकता में नहीं बहता। अपने कैरियर के बारे में स्वयं निर्णय लेता है, वह मानता है, "मम्मी-पापा की सलाह पर चलकर वह कहीं नहीं पहुँच सकेगा।"<sup>77</sup> राजन उसके द्वारा अमेरिकन लड़की से विवाह करने का विरोधी है, क्योंकि वह कैरियर और विवाह का अलग-अलग मानता है। तब बन्दू कहता है, "वी आर नॉट लिविंग इन योर टाइम्स पापा।"<sup>78</sup>

'पाँच आँगनों वाला घर' का राजन अपने बच्चों द्वारा उपेक्षित है। लेखक ने राजन की इस स्थिति के बारे में लिखा है, "अजीबोगरीब तकदीर वाली राजन की पीढ़ी। जब वे जवान थे तो माँ-बाप, बड़े-बूढ़ों का हुक्म बजाना था, अब स्वयं बाप और बुजुर्ग हुए तो बच्चों के हुक्म की तामील करना है। दोनो तरफ से मारे गये।"<sup>79</sup> इस तरह युवा पीढ़ी हर बार पुरानी पीढ़ी की बात को यह कहकर ठुकरा देती है कि अब समय बदल चुका है। आधुनिकता के अन्धानुकरण में वह अपना स्व, अपना अतीत सबसे कट जाता है, जिसके चलते एक ऐसी स्थिति में जा पहुँचता है, जहाँ वह नितान्त अकेला हो जाता है। इधर दूसरी ओर पुरानी पीढ़ी में भी बार-बार तिरस्कृत किये जाने के कारण कुण्ठा, व्यर्थता-बोध घर कर लेता है।

महानगरीय पूंजीवादी सभ्यता और संस्कृति में जीवन मूल्यों का संक्रमण समाज के नये सम्बन्धों की निर्मिति, नवीन भौतिक सत्यों, सत्यों के बीच बनती हुई मानव चरित्र की नयी दिशाएँ आदि यथार्थ के जो नए स्तर, नए आयाम और प्रश्न उभरे हैं, उन्हें व्यक्त करने में उपन्यास के समान सक्षम दूसरी विधा नहीं है। "अपने अपने अजनबी" में योके के जीवन में अकेलेपन और स्वकेन्द्रित सभ्यता के आयामों को दिखाने के लिए जिम्मेदार परिस्थितियों का मौन वर्णन है। किस प्रकार से नगरीय जीवन में व्याप्त अवसरवादिता के कारण दो आत्मीय व्यक्ति भी परस्पर अजनबी बन जाते हैं। यह मात्र योके, पाल, सेल्मा का परस्पर अकेलापन नहीं है बल्कि महानगर में रहने वाले बहुसंख्यक लोग किसी न किसी कारण से अजनबीपन के

शिकार हैं। दबी हुई भावनाएं, निर्मम आवाजें, अजनबी मुद्राएं यह चित्रण नगरीय सभ्यता के अजनबीपन के अनेक कारणों पर प्रकाश डालती हैं।<sup>80</sup>

‘अपने अपने अजनबी’ में योके के जीवन से उपन्यासकार ने अकेलेपन तथा स्वकेन्द्रित सभ्यता के अन्य आयामों को खोलने का प्रयास किया है। नगरीय सभ्यता की अवसरवादिता ने व्यक्तियों के आत्मीय सम्बन्ध नष्ट कर दिये हैं जिससे साथ-साथ रहते हुए भी व्यक्ति अजनबी हो जाता है। पाल जो कहा करता था कि “तुम दुनिया के किसी कोने में होती, तुम्हें खोज निकालता, लाखों करोड़ों में तुम्हें पहचान लेता।”<sup>81</sup> लेकिन हिमकैद में बंद योके उसी पर शंकित हो उठती है। उसका पाल हिमकैद से बाहर हैं और अवश्य किसी के साथ क्रिसमस मना रहा होगा। कहा? किसके साथ? क्या वह इस समय मुझे याद करेगा?<sup>82</sup> आदि शंकित विचार योके के मन में आते हैं। और योके के जीवन में होता भी यही है हिमकैद से छुटकारा पाने के पश्चात् योके का जर्मन सैनिक बलात्कार करते हैं। पाल उसे अपनाता नहीं, इस तरह पाल योके लिये वास्तव में अजनबी हो जाता है।

महानगरों में भौतिक चेतना, व्यक्तिवादिता, स्वार्थपरता और गतिशीलता के कारण पारिवारिक ढाँचा परिवर्तन के जिस दौर से गुजर रहा है, उसकी गति न केवल अत्यन्त तीव्र है, बल्कि विघटनकारी होने के कारण चिन्ताजनक भी है। गोविन्द मिश्र का ‘पाँच आँगनों वाला घर’ परिवार के सिमटकर नदारद होते जाने की स्थिति की श्रेष्ठ अभिव्यक्ति है। पति-पत्नी के रागात्मक सम्बन्धों में तनाव, अन्तर्द्वन्द्व, बढ़ते तलाक, माँ-बाप के स्नेह को तरसता बचपन, उपेक्षित वृद्ध माता-पिता, विवाह एवं प्रेम का बदलता स्वरूप आदि महानगरीय जीवन के कुछ नवीन आयाम हैं, जो धीमे जहर के रूप में हमारे जीवन को नष्ट कर रहा है। ये सभी वे प्रारम्भिक सोपान हैं, जो मनुष्य को आत्मनिर्वासन की स्थिति में पहुँचा देते हैं। दिल्ली की प्रख्यात पत्रकार सुषमा भी अपने अकेलेपन को दूर करने के लिये छटपटाती है “एक तरफ वह लड़की को स्वतन्त्र जीवन बिताना चाहिये” के पक्ष में जिन्दा रहना चाहती है और दूसरी तरफ उसे अन्दर एक छोटे से कोने में दूबके रहने की ललक उत्पन्न होती है।<sup>83</sup> क्योंकि पत्रकारिता की व्यस्त जिन्दगी तथा उसके आस-पास के लोग उसके अकेलेपन को बढ़ाने में मुख्य भूमिका निभाते हैं।

विदेशी नगरों में जाकर अकेलेपन की अनुभूति और जटिल और घनी हो जाती है। ‘वे दिन’ में इस यर्थाथ को स्पष्ट किया गया है। उपन्यास में चकोस्लोवाकिया की राजधानी प्राग में आये थानथुन फ्रांज और इन्दी इसी प्रकार की जटिल मानसिकता में उलझे हुए पात्र हैं। बर्मा से आए थानथुन प्राग में तीन साल रहने के पश्चात् भी अपने आपको अजनबी पाता है। बियर और अपने देश के अखबार इसके बाहर कोई वस्तु आकर्षित नहीं करती।<sup>84</sup> थानथुन को न तो प्राग अच्छा लगता है और न वह अपने घर लौटना चाहता है “उसे प्राग अच्छा नहीं लगता। यह बात नहीं कि वह वापस जाना चाहता है।”<sup>85</sup> इस दिशा विहिन स्थिति के कारण थानथुन को

प्रायः अजीब-सी घुटन होती है। पूर्वी जर्मनी से आये फ्रांज के सामने भी यही समस्या है। वह बड़ी उत्सुकता से सिनेमा स्कूल का अध्ययन करने के उद्देश्य से प्राग आया था। किन्तु उसकी मनोवृत्ति उसे यहाँ बहुत दिनों तक नहीं रहने देती। स्कूल के डाइरेक्टर और अध्यापक फिल्मों के प्रति उसके विचार गहराई से नहीं पकड़ पाते इसलिये सब उसे जड़बुद्धि इडियट लगते हैं।<sup>86</sup> वह भी वापस अपने घर नहीं जाना चाहता। इन्दी घर से दूर विदेशियों में अजनबी बने रहने के लिये अभिशप्त है। “क्रिसमस के दिनों में जब अनेक युवक परिवार त्यौहार की चहल-पहल में खो जाते हैं, विदेशों में पड़े इन नवयुवकों को यह भी पता नहीं चलता कि क्रिसमस या ईद है।”<sup>87</sup> वह परिवार से कटे रहने की अनुभूति में उस अभाव को स्पष्ट रूप में समझ नहीं पाता। इसलिये उसे अजीब की घुटन होती है।

#### 4. युद्धोत्तर परिवेश

साहित्य और समाज एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। समाज में जो भी घटना घटित होती है वह साहित्य में वर्णित हो जाता है। इसका कारण यह है कि घटनाएं ही व्यक्ति की विचारधारा को प्रभावित करती हैं। यह घटनाएं ही लेखक की प्रेरणास्त्रोत होती हैं। आधुनिक साहित्य की विभिन्न विधाओं में सामाजिक चेतना और युगबोध की अभिव्यक्ति इन उपन्यासों को आधार बनाकर की गई है। युद्ध एक राजनैतिक निर्णय होता है, यह मानव मूल्य मानव जीवन को सर्वाधिक प्रभावित करने वाली शक्ति होती है वास्तव में युद्ध मनुष्य के सांस्कृतिक और आध्यात्मिक जीवन को ही नष्ट नहीं करता बल्कि उसकी सामाजिकता को भी बर्बाद करता है और यही नहीं उसके शारीरिक अस्तित्व का भी संहार करता है। युद्ध केवल मानवीय संसाधन और शांति को ही खत्म नहीं करता बल्कि मानवीय संवेदनाओं का भी अन्त कर देता है। इससे लोगों की जीवन शैली और बुद्धि भी विकृत हो जाती है। इस प्रकार से युद्ध एक पूरी संस्कृति का ही विनाश कर देता है। युद्ध मनुष्य की जीवन व्यवस्था में एक महान क्रान्ति है जो उसको हिलाकर रख देती है। युद्ध के कारण सामाजिक संरचना, अन्तर्राष्ट्रीय जीवन, आर्थिक, राजनैतिक, पारिवारिक यहां तक कि उसके वैयक्तिक जीवन, सभी में विघटन उत्पन्न हो जाता है। मनुष्य के जीवन साधन, जीवन प्रक्रिया, चिंतन पद्धति सभी परिवर्तित हो जाते हैं। इस शताब्दी के दो विश्वयुद्धों ने सम्पूर्ण विश्व के जीवन मूल्यों में क्रान्ति ला दी। विसंगति, विद्रुपता, वीभत्सता आदि स्थितियां जीवन का यथार्थ बनकर पुराने आस्थापूर्ण मूल्यों को भुलाकर नवीन अनास्थापूर्ण जैसे अस्तित्ववादी, क्षणवादी, मृत्युवादी आदि मूल्यों को जन्म दे रही है।

निर्मल वर्मा ने भी आधुनिकता बोध का चित्रण अपने उपन्यासों में किया है। “वे दिन” उपन्यास की पृष्ठभूमि है द्वितीय महायुद्ध जिसने मानवीय सम्बन्धों को खोखला कर दिया है। इसने उदासीनता को ओर गहरा कर दिया है। यही कारण है कि एक-दूसरे के बीच दूरी और मौन व्याप्त होता जा रहा है। वे दिन आज के युग की संवेदनहीनता, अलगाव, वर्तमान को सब

कुछ मानना और अजनबीपन का चित्रण है। निर्मल वर्मा का वे दिन उपन्यास द्वितीय विश्वयुद्ध की पृष्ठभूमि में लिखा गया है। युद्धोत्तर परिस्थितियों ने मानव जीवन को ओर जटिल बना दिया। इस उपन्यास में इसी युग की संवेदना, पीड़ा, अलगाव की अनुभूति, अतीत से कटकर जीने की समस्या और वर्तमान को ही सब कुछ मानने की तीव्र लालसा का वर्णन है। “उपन्यास में इस जटिल मानव नियति को, युद्ध की स्थितियों से आक्रान्त चरित्रों की मानसिकता में देखने का प्रयास किया गया है।”<sup>88</sup> उपन्यास का वातावरण अभारतीय है। कथानायक के अलावा सभी पात्र विदेशी हैं। इस प्रकार उपन्यासकार ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि अपने परिवेश से कटे हुए व्यक्ति के लिए जिन्दगी कितनी अर्थहीन होती है। उसके जीवन की शून्यता, परायेपन और अलगाव का चित्रण इसमें किया गया है। ‘वे दिन’ उपन्यास की कथा तीन दिनों की है जिसमें रायना का अतीत झांकता है। उसका अतीत युद्ध की अभिशप्त छाया से जुड़ा है। रायना के अतीत में उसे आतंकपूर्ण अंधेरे का भय, बंदूक का आतंक और मौत का अकेलापन सताता है। कथानायक भविष्य की स्मृतियां बनाता है। “वे दिन” यूरोप की महायुद्धोत्तर दिशाहारा पीढ़ी के संत्रास, घुटन, तनाव, मूल्यहीनता और उसके रीतापन को रूपायित करने वाला उपन्यास है।<sup>89</sup> इस तरह युद्ध के गहरे आघात से रायना मौन भोगती है लेकिन लेखक इसे शब्द देने की पीड़ा भोगता नज़र आता है। ‘वे दिन’ में अजनबियों के बीच गुजरे हुए जीवन का सजीव चित्रण किया गया है। उपन्यास के सभी पात्र युद्धोत्तर परिस्थितियों की विभीषिकाओं से ग्रसित हैं। रायना, टी.टी., फ्रांज, मारिया और मीता भी जीवन की विसंगतियां झेल रहे हैं।

“प्राग में कथानायक के साथ बिताये तीन दिनों में रायना को कभी-कभी अतीत में जीना पड़ता है। उसका अन्त युद्ध की अभिशप्त छाया से जुड़ा हुआ है। जब लड़ाई चल रही थी, तब वह कोलोन में पहली बार जाक से मिली थी। दोनों साथ रहने लगे। तब उन दोनों ने कभी नहीं सोचा कि लड़ाई खत्म होगी।”<sup>90</sup> युद्ध के बाद भी दोनों साथ रहे थे। लेकिन उन्हें लगता था जैसे उन्होंने कोई चीज हमेशा के लिए खो दी है। रायना को कभी-कभी घर की शान्ति के बारे में अजीब-सा डर लगता था। रायना कहती है – “कोलोन में हमने कभी नहीं सोचा था कि हम जीवित रहेंगे। मरना तब बहुत पास था और आसान भी। हम शायद इसीलिए साथ रहने लगे थे ..... लड़ाई में बहुत लोग मरते हैं – इसमें कुछ अजीब नहीं है ..... लेकिन कुछ चीजें हैं जो लड़ाई के बाद मर जाती हैं – शान्ति के दिनों में ..... हम उनमें से थे।”<sup>91</sup> इस प्रकार रायना के अतीत के द्वारा लेखक ने स्पष्ट किया है कि युद्ध के बाद शान्ति के दिनों में जो चीज खत्म हो जाती है, मर जाती है – वह है प्रेम एवं मानवीय संवेदना। रायना के जीवन में युद्ध की भीषण छाया अब भी मंडराती रहती है। युद्धोत्तर परिवेश का प्रभाव उसके जीवन पर पड़ा है। रायना की मनःस्थिति युद्धोत्तर पीढ़ी के प्रामाणिक मनःस्थिति है।

अपने अपने अजनबी कुछ आलोचकों विचारकों की दृष्टि में हिंदी के साथ पूरे भारतीय साहित्य में अपने ढंग का अद्वितीय उपन्यास है। उपन्यास में मृत्यु को सामने पाकर कैसे

प्रियजन भी अजनबी हो जाते हैं और अजनबी एक एक पहिचाने है, कैसे चरम स्थिति में मानव का सच्चा चरित्र उभर कर आता है – उसका प्रत्यय उसका अदम्य साहस और उसका विमल अलौकिक प्रेम भी वैसे ही और उतने ही अप्रत्याशित ढंग से क्रियाशील हो उठते हैं जैसे उसकी निम्नतर प्रवृत्तियाँ। अपने अपने अजनबी के पात्र विदेशी हैं और कहानी भी विदेश में घटित होती है पर अपनी गहराई में उपन्यास पूर्व और पश्चिम का भी एक साक्षात्कार है। मृत्यु के प्रति जिन दो विरोधी भावों की टकराहट इसमें है वास्तव में उनके पीछे पूर्व और पश्चिम की जीवन दृष्टियाँ है वे दो दृष्टियाँ ही यहाँ मिलती हैं और मानव जीवन के एक नए आयाम का उन्मेष करती हैं। पुस्तक के प्रारंभ में दी गई इस परिचयात्मक टिप्पणी से अवगत होने के बाद इस उपन्यास को पढ़ना और उसके भीतर यात्रा करना और भी आसान हो जाता है। किंतु कदाचित् पूर्व और पश्चिम में मृत्यु के प्रति दो विरोधी भावों के टकराहट की खोज और उनकी पीछे की जीवन-दृष्टियाँ उद्घाटित करना इस उपन्यास के नए आयाम का उन्मेष नहीं कराती है, क्योंकि मृत्यु एक है और उसे पूरब और पश्चिम की भिन्न दृष्टियों से देखकर भी निष्कर्ष तो देशकाल-निरपेक्ष ही निकलेंगे। ऐसा करने से ही रचनाकार और पाठक के साथ रचना का भी भला होगा क्योंकि आखिर रचना का काम कुछ अभिनव रचना ही है न कि प्राच्य और पाश्चात्य विचार-सरणि के द्वंदों से टकराकर छिन्न-भिन्न हो जाना।

अज्ञेय की यह रचना पाठक को एक साथ परिचित और अजनबी लगती है। स्वयं लेखक ने अपने भीतर परिचय और अपरिचय की टकराहट से उठने वाले अन्तर्द्वंदों को एक अत्यंत अजनबी और अटपटी छटपटाहट के साथ ही व्यक्त किया है। कुछ आलोचकों की दृष्टि में 'अपने अपने अजनबी' मृत्यु से साक्षात्कार का आख्यान है किंतु इसे नहीं भूला जा सकता कि मृत्यु का यह आख्यान जीवन के भीतर से ही उठा लिया गया है और रचनाकार, जो स्वयं में एक कवि भी है, बुद्धि के पैरों में जीवन की बेड़ियाँ डालकर ही मृत्यु के वैचारिक क्षेत्र की ओर अग्रसर होता है। रचनाकार की दृष्टि में मृत्यु जीवन का सबसे महत्वपूर्ण तत्व है, क्योंकि जीवन को रससमयता और अर्थवत्ता वही देती है किंतु जब लेखक यह कहता है कि इस प्रकार डर ही समय का चरम माप है – प्राणों का डर तो निःसंदेह रचना के पूर्व का होकर भी विचार की दृष्टि से पश्चिमी अस्तित्ववाद से आक्रांत हो जाता। क्योंकि मृत्यु के प्रति ऐसा भय पूर्व का न होकर पाश्चात्य क्षेत्र का है जहाँ जीवन की अनंतता की अवधारणा नहीं है और फलतः हिंसा और आत्मघात में संक्रामकता है। फोटोग्राफर सेल्मा या योके की मृत्यु इसी का परिणाम है।

एशिया महाद्वीप में भी लगभग विश्वस्तरीय युद्ध महाभारत के रूप में पूरी मनुष्यता को झकझोर गया था। लेकिन इस सारे संहार के उपक्रम बने लोग किस तरह टूटे थे और युद्ध के पहले से लेकर युद्ध के बाद तक कितने संवेदनशील थे यह पूरे महाभारत में देखते ही बनता है। शांतिपर्व में उसका चरम है। महाभारत के युद्ध में विजेता पक्ष के प्रमुख युधिष्ठिर अपनी विजय के बाद भयानक शोक में डूब जाते हैं। किंतु दुनिया पर दो विश्वयुद्ध थोपने वाला

हिटलर स्वार्थ में सिमटा रहता है और आत्महत्या कर लेता है। इस प्रकार भारतीय महायुद्ध की परिणति हिंसा की विफलता को आँकने में है, दूसरों पर मृत्यु थोपने में नहीं। पाश्चात्य विश्व-युद्धों के महानायक केवल अहम् और स्वार्थों के लिए युद्ध करते हैं। होमर के 'इलियड और ओडिसी' में भी यही है। वहाँ मानवता का अबोध शिशु खूँरेजी के हाथों में पड़कर लगातार सिसकता है और अंततः मृत्यु भय से आक्रांत अस्तित्ववादी दर्शन को जन्म देता है। विचारधारा यहीं से पाश्चात्य और पौरात्य चिंतन-सारणियों के दो विरोधी भावों को स्पष्ट कर देती है। प्रो. रामस्वरूप चतुर्वेदी का कहना है कि -यूरोप में अस्तित्ववादी विचारधारा दो कारणों से विकसित हुई, दो महायुद्धों की विभिषिका से और बिखरती हुई परिवार व्यवस्था से। इस विचार से असहमत होने का कोई कारण नहीं दिखाई देता। महाभारत के बाद भी भारत में पारिवारिकता नहीं टूटती। गंभीर शोक में डूबे हुए युधिष्ठिर युद्ध में मारे गए समस्त लोगों का अन्तिम संस्कार कराते हैं और इसमें उनके दुश्मनों के पिता धृतराष्ट्र और माता गांधारी भी युधिष्ठिर से सहयोग माँगते हैं। इस प्रकार भारतीय चिंतन-सारणी है कि मानवीयता से बढ़कर और कुछ नहीं। महाभारत में कहा गया है -“न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्”। -महाभारत दूसरी ओर पाश्चात्य देशों के अस्तित्ववादी चिंतक मृत्यु के सामने बुरी तरह निढाल हो गए हैं, क्योंकि वहाँ कंधे से कंधे मिलाकर चलने वाले लोग नहीं हैं।

“अपने अपने अजनबी” में बर्फ में दबे समस्त पात्रों के पास जीवन-संसाधन तो हैं, किंतु सामने आ गई मौत के पंजों की विभीषिका लगातार बनी हुई है। मृत्यु उतनी भयानक नहीं, जितना भयानक मृत्यु भय है। इस बात को समझने वाले लोग बहुत थोड़े हैं किंतु मृत्यु भय को नजरअंदाज करने वाले लोग भारत में भारी संख्या में भरे पड़े हैं। पाश्चात्य चिंतन में जीवन की निरर्थकता और विसंगति बुरी तरह व्याप्त हो गई है। इसके विपरीत भारत में मृत्यु को एक मंगलोत्सव के रूप में माना गया है। अक्सर मरने वाले को मुक्ति मिल जाने की बात भारतवर्ष में कही जाती है। तानाशाही फासिष्टों और सर्वसत्तावादी पद्धतियों के साथ दो महायुद्धों के बीच घिरे यूरोप की मानवता ने मृत्यु के समय की अनिश्चितता को भय से काँप काँप कर झेला और किसी पेड़ पर बैठे उस बंदर की स्थिति में पहुँच गई, जो नीचे आए शेर की दहाड़ के भय से शेर के सामने आ गिरता है। इसके ठीक विपरीत वाराणसी में मणिकर्णिका शमशान घाट पर लिखा है -‘मरणं मंगलं यत्र।’ ...अर्थात् जहाँ मरना खुशी की बात है।

अपनी सारी तीव्रता और उत्कटता के साथ अस्तित्ववाद ने आधुनिक भारतीय लेखक अज्ञेय से टकराकर उन्हें एक उलझाव में ही डाल दिया है। बर्फ में घिरने की घटनाएँ भारत में भी होती हैं। लंबे समय तक बर्फ झेलने वाले क्षेत्रों में ऐसी परिस्थितियाँ बनती हैं, जहाँ परिवार या कबीले, दूसरे परिवार या कबीले से कट कर रह जाते हैं। किंतु पारिवारिकता की गर्मी इस ठंडक में इन लोगों के बीच जीवन की आग को प्रज्वलित रखती है। इसके विपरीत अपने तक सिमट कर असामान्य बन गए यूरोपीय लोगों में बहुत हिंसा और आत्महत्या की प्रवृत्तियाँ प्रबल

बन जाती है। इस उपन्यास के पहले खंड में बुढ़िया सेल्मा खुद कहती है कि –“बल्कि शायद मन से ईश्वर को तब तक पहचान ही नहीं सकते, जब तक मृत्यु में ही उसे न पहचान लें... इसलिए मौत ही तो ईश्वर का एकमात्र पहचाना जा सकने वाला रूप है।”<sup>92</sup> इस प्रकार मृत्यु में ईश्वर का रूप खोजना भी अस्तित्ववादी दार्शनिकता का दुष्परिणाम है। बुढ़िया यह भी अनुभव करती है कि –“भगवान् के सिवा मेरे पास कुछ भी नहीं है ओढ़ने को।”<sup>93</sup> यहाँ पर अज्ञेय से भी पाश्चात्य विचारों में बहकर एक और भूल हो सकती थी कि मृत्यु ही जीवन को निरर्थक और विसंगत बनाती है। जबकि अज्ञेय ने स्पष्ट किया है कि नश्वरता ही जीवन को रसमय और सार्थक बनाती है। यह पूरा का पूरा उपन्यास पाश्चात्य परिवेश में गढ़ा है। पूरे उपन्यास में सेल्मा की देह से छूटने वाली मृत्यु-गंध व्याप्त है तो दूसरी ओर योके द्वारा मौत और ईश्वर से प्रतिशोध में की गई आत्महत्या, एक संत्रास की अनुगूँज से आक्रांत करती है। मृत्यु की संभाव्यता हमारी संवेदनाओं को कितनी गहराई देती है और संवेदनाओं से लैस होकर ही हम इस मृत्यु को कितनी नजदीकी से छू सकते हैं, सहला सकते हैं, यह इस उपन्यास के द्वारा निर्मित पारिस्थितिक साक्ष्यों का साध्य है।

योके ने सोचा था कि सेल्मा ही मृत्यु के ठंडे हिमपंजों में अंतिम साँसें लेती हुई सबको मौत की ओर लिए जा रही है, किंतु होता इसके उलट है। योके स्वयं भी बाद में आत्महत्या कर लेती है और बर्फ को भी कँपा देने वाले इस ठंडे परिवेश में जगन्नाथ के गर्म हाथ ही सहारा देने को आते हैं। जबकि मरणासन्न सेल्मा के लिए वह डायरी में लिखती है – उसे देखते देखते मेरा मन होता है कि जोर से चीखूँ कि जलती हुई लकड़ी उठाकर उसकी कलाइयों पर दे मारूँ, जिससे आग को असीसने का दुस्साहस करनेवाला हाथ नीचे गिर जाए – एकाएक जिसके सदमे से उसकी हृदयगति बंद हो जाए। वह आगे लिखती है – उसके स्वर में ये चिड़चिड़ापन था। उससे मुझे कितनी तृप्ति मिली। तो बुढ़िया का कवच भी नीरंध्र नहीं है, कहीं उसमें भी टूट है – कहीं न कहीं वह भी मृत्यु से डरेगी और रिरियाकर कहेगी कि नहीं, मैं मरना नहीं चाहती। एक प्रबल दुर्दमनीय उल्लास, एक विजय का गर्व मेरे भीतर उमड़ आया। इस प्रकार का व्यक्तिवाद और उसके प्रभाव से उपजी हिंसात्मकता भी पाश्चात्य अस्तित्ववादी चिंतन-सारणि की देन है, जिसमें अज्ञेय की आस्था और आस्तिकता उलझकर नहीं रह गई है बल्कि अज्ञेय ने बड़ी खूबसूरती से यहाँ भारतीय चिंतन के हाथों का सहारा देकर सब कुछ को गढ़ा है इसीलिए तो छोटे से उपन्यास में भी वह एक भारतीय (जगन्नाथ) को उपस्थित करते हैं और उसकी न कुछ सी लगती भूमिका भारतीय विचारों को भूमिगत और छापेमार ढंग से उपस्थित करती है।

परिस्थितियों में उलझी योके ने सेल्मा की मृत्यु होने पर सोचा था – ईश्वर भी शायद स्वेच्छाचारी नहीं है – उसे भी सृष्टि करनी ही है, क्योंकि उन्माद से बचने के लिए सृजन अनिवार्य है। वह सृष्टि नहीं करेगा तो पागल हो जाएगा ...क्या यही रहस्य था, जिसका कुछ

आभास सेल्मा को मिला था – कि वरण की स्वतंत्रता नहीं है, लेकिन रचना फिर भी संभव है और उसमें ही मुक्ति है? पुनः सृष्टि के लिए सेल्मा की मृत्यु का औचित्य सिद्ध करने वाली योके की तर्कशक्ति तब छिन्न-भिन्न होकर रह जाती है, जब वह स्वयं अपने शहर के युद्धग्रस्त होने पर आत्महत्या कर लेती है। इस प्रकार अज्ञेय कई बार पाश्चात्य जीवन दृष्टि के यथार्थ को हमारे सामने रखकर उसमें अंतर्निहित खोखलेपन को निर्ममता के साथ उजागर करते गए हैं।

इस प्रकार युद्ध ने जितने ही व्यक्तियों की शारीरिक हत्या ही नहीं कि बल्कि इससे अधिक व्यक्तियों को जीवित रहते ही मृत बना दिया। युद्ध ने मानवीय रिश्तों का अर्थ बदल दिया। युद्ध के कारण मानवीय सम्बन्ध अधिक जर्जर एवं खोखला बन गया है। व्यक्ति में खालीपन होता है। वह सब ओर से कटा हुआ महसूस करता है। ऐसी स्थिति में जीवन निरर्थक एवं उदास बन जाता है और एक व्यक्ति दूसरे के लिए अपरिचित एवं अनजबी बन जाता है।

## 5. आर्थिक परिवेश

समाज के संगठन और उन्नति में अर्थव्यवस्था की अहम भूमिका होती है। समाज के परिवर्तित होने के साथ-साथ आर्थिक परिवर्तन भी स्वतः ही होने लगते हैं। आर्थिक व्यवस्था के साथ ही महानगरीय ढांचा भी परिवर्तित होता है। लघु उद्योगों का स्थान कुटीर उद्योग लेने लगते हैं और फिर उत्पन्न होती है विषमता। विषमता के कारण बेरोजगारी और मंहगाई बढ़ने लगती है और यह विषमता ही लोगों के जीवन में विष घोलने लगती है। "औद्योगीकरण व्यापक रूप से आर्थिक विकास और रहन-सहन के स्तर में सुधार की कुंजी माना जाता है। निर्माण उद्योग के रूप में औद्योगीकरण को आर्थिक स्थिरता व निर्धनता के समाधान के लिए संजीवनी माना गया है।"<sup>94</sup>लेकिन वास्तविकता इसके बिल्कुल विपरीत होती है। इनके कारण औद्योगिक नगरों के विभिन्न वर्गों में विषमताएं दृष्टिगोचर होने लगती हैं। महानगरीय समाज तीन वर्गों में विभक्त हो जाता है – उच्च वर्ग, मध्यमवर्ग और निम्न वर्ग। उच्च और मध्यम वर्ग शोषक बन जाते हैं और निम्न वर्ग शोषित।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद देश का लक्ष्य सामाजिक और आर्थिक विषमता दूर करना था। किन्तु समाज का आकर्षण अर्थ के प्रति अधिक होने के कारण हमारा सम्पूर्ण ध्यान सिर्फ अर्थप्राप्ति ही रहा। इस कारण हमारे सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्यों का विकास उतना नहीं हो पाया जितना कि आर्थिक स्तर पर हुआ। आर्थिक कठिनाईयों में फंसकर दो जून का भोजन भी दुर्लभ हो रहा है। इस विषमतापूर्ण जीवन संग्राम की अभिव्यक्ति, यदि एक साहित्य विधा में सम्पन्न हो सकती है तो वह है उपन्यास।

समाज में अर्थ को महत्व प्राप्त होने और आर्थिक मूल्यों का निर्माण होना दोनों अलग बातें हैं। स्वतंत्रता के बाद समाज में आर्थिक मूल्यों के प्रति आस्था कम देखने को मिलती है और स्वार्थपूर्ति की दौड़ अधिक दिखलाई देती है। मनुष्य अपने मानवीय मूल्यों की उपेक्षा करके



अर्थप्राप्ति में लगा हुआ है। मूल्यों का उद्देश्य जीवन की सार्थकता से है, एक अर्थ उपार्जित करने वाला एकांगी दृष्टिकोण वाला व्यक्ति जीवन का मूल्य नहीं आंक सकता। हमारे समाज में आर्थिक दृष्टि से तीन श्रेणियां मिलती हैं—निम्न, मध्यम और उच्च किन्तु सबसे अधिक अर्थग्रस्त वर्ग है मध्यम वर्ग। इसमें भी दो श्रेणियां हैं— निम्न मध्यवर्ग एवं उच्च मध्यवर्ग। उच्च मध्यवर्ग भारतीय और पाश्चात्य सभ्यता के दो पाटों के बीच फंसा हुआ है। इसी कारण इसमें अस्थिरता देखने को मिलती है।

व्यक्तिवादिता ने जैसे सबको सम्बन्ध निरपेक्ष कर दिया है। विशेष रूप में महानगरीय परिवेश में अपने-अपने स्वार्थ साधना में लगा हुआ हर व्यक्ति अपने में अकेला है और समाज जैसे एक भीड़ है। यहां कोई अजनबी नहीं है। यहां कोई अपना नहीं है। यहां कोई पराया नहीं है। यहां सिर्फ लोग हैं, भीड़ है। यह आत्मकेन्द्रितता की अभिव्यक्ति ही है। अकेलापन शायद यही शब्द इस युग की अकेली सच्चाई है। मोहन राकेश के 'अंधेरे बंद कमरे' में भी गरीबी और अभाव की परिस्थितियों का चित्रण किया गया है। इसे रचनाकारों ने अलगाव बोध का कारण माना है। कस्साबपुरा की ठकुराइन और मधुसूदन की आर्थिक कठिनाईयों का चित्रण कर उपन्यासकार ने यह दर्शाया है कि गरीबी के कारण व्यक्ति का मानसिक संतुलन डगमगा जाता है और उसे हर तरफ अंधकार ही अंधकार नज़र आने लगता है यही अकेलेपन का कारण बनता है। मानव सिर्फ धन के पीछे भागता है इसलिए समाज में वर्गों का निर्माण हो गया है। मध्यवर्गीय युवक को उच्च शिक्षा के बाद भी नौकरी नहीं मिलती यह कारण उसके आत्मनिर्वासन का कारण बनता है। आज परिवार का व्यक्ति अधिक से अधिक धन प्राप्ति के लिए दूसरे को धोखा देता है जिससे दाम्पत्य जीवन में भी कटुता की भावना आ जाती है।

“आज महिलाएँ नौकरी पेशे में बहुत आगे निकल गई हैं। पुरुषों पर घटती आर्थिक निर्भरता और सबसे बढ़कर अब्बल रहने की अदम्य इच्छा के कारण अब स्त्रियाँ मात्र आर्थिक, सामाजिक प्रतिष्ठा के लिए ही शादी के बन्धन में नहीं पड़ना चाहती।”<sup>95</sup> अपने कैरियर को छोड़कर विवाह को ही अपना लक्ष्य बना लेना उसे मूर्खता प्रतीत होता है। ऐसा नहीं है कि प्रेम, लगाव, अपनापन उन्हें अच्छा नहीं लगता किन्तु उनकी प्राथमिकता सूची में इन चीजों का स्थान नीचे चला गया है और पहला स्थान उनके कैरियर, उनकी महत्वाकांक्षा को प्राप्त हो गया है।

आज की महानगरीय नारी शिक्षित है ही, आर्थिक दृष्टि से भी आत्मनिर्भर है। पाश्चात्य शिक्षा, यन्त्रीकरण, औद्योगीकरण, यातायात के साधनों की सुविधा आदि के कारण स्त्री को अर्थोपार्जन के लिए विभिन्न क्षेत्रों में सुविधाएँ प्राप्त हुई है। “अर्थाभाव से जर्जरित स्थिति को सम्भालने के लिए नागरी नारी घर की देहरी लाँघकर कई क्षेत्रों में प्रवेश करने लगी। साथ ही व्यवसायी युग की भव्यता, सुख-सुविधा की अदम्य, लालसा, समाज में पुरुष के समान अपनी प्रतिष्ठा बनाए रखने की प्रबल आकांक्षा और बेहतर जीवन जीने की इच्छा ने भी नारी को आर्थिक क्षेत्र में अग्रसर होने के लिए प्रोत्साहित किया। आर्थिक क्षेत्र के अतिरिक्त नारी

सामाजिक, राजनीतिक क्षेत्रों में भी पुरुष के कन्धे से कन्धा मिलाकर चलने है। आज वह एक क्लर्क से लेकर ऊँचे पदों पर सरकारी और गैर-सरकारी क्षेत्रों में कार्य कर रही है।<sup>96</sup> इस आर्थिक स्वतन्त्रता ने महानगरीय नारी में गजब का आत्मविश्वास पैदा किया है, जहाँ खड़ी होकर वह अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़ सकती है।”

औद्योगीकरण ने शहरों में बेरोजगारी की समस्या को जटिल बना दिया है। परिणामस्वरूप मध्यवर्गीय समाज चारों ओर से एक ऐसे दबाव के बीच घिरने लगा जिससे छुटकारा प्राप्त करने का कोई रास्ता दिखाई नहीं देता था। एक ओर उसके पुरातन संस्कार थे और दूसरी ओर सभ्यता के बढ़ते चरणों ने उसे अभिभूत कर लिया। नारी को घर की चार दिवारी में छिपाकर रखने वाला समाज पहले तो उसे घर की चारदीवारी से निकाल कर कार्यालयों में कार्य करने की छूट देने में हिचकिचाया, परन्तु शीघ्र ही आर्थिक कठिनाइयों के कारण, नारी की इस कार्यशील भूमिका को स्वीकार कर इसे अनिवार्य नियति समझकर समझौता करके बैठ गया।<sup>97</sup> वास्तव में, शहरों में रहने वाले मध्यम वर्गीय लोगो के बीच इन परिवर्तनों ने पुरुषों की तुलना में महिलाओं को अधिक प्रभावित किया है। खासकर स्वतन्त्रता के बाद की बदलती हुई सामाजिक आर्थिक परिस्थितियों में महिलाओं की शिक्षा और रोजगार के अवसरों में काफी वृद्धि हुई है और इन नए हालातों के फलस्वरूप इनके लिए समानता को अभिव्यक्ति और उसकी प्रतिष्ठा के नए मार्ग खुल गए हैं।<sup>98</sup>

अंग्रेजों के आगमन ने केवल सांस्कृतिक दृष्टि से ही भारत को प्रभावित नहीं किया वरन् आर्थिक, सामाजिक क्षेत्रों में भी प्रभावित किया। अंग्रेजों ने भारत में जिस शोषण चक्र को चलाया उससे कृषि व्यवस्था को भयंकर क्षति पहुँची। “भारतीय कृषि के नष्ट-भ्रष्ट होने से गाँवों से अधिक संख्या में लोग नौकरी की आशा में शहरों में आने लगे और इस प्रकार आर्थिक व्यवस्था के परिवर्तन के साथ एक नया वर्ग (मध्यवर्ग) धीरे-धीरे विकसित होने लगा।<sup>99</sup> जैसे-जैसे इस बाबू वर्ग की संख्या बढ़ती गयी, मध्यवर्ग अपने सम्पूर्ण अवयवों के साथ पुष्ट होता गया। गाँवों की बिगड़ती आर्थिक व्यवस्था के कारण ग्रामीण जीवन का एक वर्ग शहर में आकर मजदूरों की जिन्दगी गुजारने पर विवश हुआ। इन्हीं विस्थापितों में से कुछ लोग शहरों में जाकर सिपाही, दफ्तर के चपरासी, नौकर, रसोइए, चौकीदार आदि बन गये। इस प्रकार गाँव से शहर आये इन लोगों का भी एक समुदाय बन गया। यह भी मध्यवर्ग के लोगों की संख्या दिनों दिन बढ़ती गयी।

उपन्यास से मध्यवर्ग का सम्बन्ध उनकी आयु जितना ही पुराना है। वस्तुतः उपन्यास के उद्भव के साथ ही मध्यवर्ग ने उपन्यासों में अपना स्थान बना लिया था। “मध्यवर्ग के सामन्ती समाज का अन्त होने पर जब नवीन औद्योगिक सभ्यता का आविर्भाव हो रहा था और नगरों में नवीन मध्यवर्ग की सत्ता स्थापित हो रही थी उसी समय उपन्यास के साहित्यांग का आविर्भाव हुआ। इस प्रकार उपन्यास एक ओर गद्य साहित्य के निर्माण और विकास का समकालीन है

और दूसरी ओर वह मध्यवर्ग के उत्थान का समसामयिक है।<sup>100</sup> वर्तमान में भी मध्यवर्ग अपनी सबलताओं, दुर्बलताओं और अपने वैशिष्ट्य द्वारा कथा-साहित्य विशेषकर उपन्यास साहित्य की विषय-सामग्री को विस्तार और वैविध्य प्रदान कर रहा है। “मध्यवर्ग के लोग अशान्त, आलोचक और व्यक्तिवादी है। उनकी आर्थिक स्थिति डाँवाडोल है। वे अनुभव करते हैं कि उन्हें सम्मानपूर्ण स्तर बनाए रखना आवश्यक है जो प्रायः उनके साधनों की पहुँच से बाहर होता है। लगातार आर्थिक संघर्ष उनके जीवन के समस्त दृष्टिकोण पर प्रभाव डालता है।<sup>101</sup> उच्च वर्ग का व्यक्ति अपनी समर्थ सामाजिक-आर्थिक स्थिति के कारण इतना सुरक्षित है कि उसे संघर्ष की आवश्यकता नहीं पड़ती। निम्न वर्ग का व्यक्ति भाग्य के सहारे जीवन को छोड़कर निश्चिन्त हो जाता है परन्तु उक्त दोनों तत्वों के अभाव में मध्यवर्ग असन्तुष्ट और संघर्षप्रिय होता है। उखड़े हुए लोग में देशबन्धुजी आज के व्यक्ति की मूल कमजोरी को समझते हुए कहते हैं – “रुपया! रुपया हरेक की कमजोरी है बन्धु आप उसे गाली देते हुए लें, या लार टपकाते हुए-परिणाम यही चाहते हैं कि दूसरे का रुपया आपकी जेब में आ जाय।”<sup>102</sup> स्पष्ट है कि रुपया मुख्य है, रुपये के प्राप्त करने के साधनों के समुचित अथवा अनुचित होने का प्रश्न नहीं।

महानगरीय नवयुवकों में विवाह-संस्था के प्रति एक और नवीन प्रवृत्ति दृष्टिगोचर हो रही है कि वे विवाह करने से ही कतराने लगे हैं। आज की युवा पीढ़ी अपने कार्यक्षेत्र में बढ़ती प्रतियोगिता से आतंकित है। उस पर काम का, अपनी क्षमता को साबित करने का अत्यधिक दबाव है। ऐसे में शादी उन्हें केवल एक जिम्मेदारी लगती है जिसे पूर्णता के साथ जीने का उनके पास समय ही नहीं है पहले से ही संघर्ष में फँसे युवा को लगता है कि विवाह उनके जीवन को और अधिक संघर्षमय बना देगा। पिछले कुछ वर्षों में जिस तरह से तलाक के मामलों में वृद्धि हुई है और जिस तरह से पति-पत्नी में तनाव बढ़ता जा रहा है, उसे देखकर भी युवा पीढ़ी में विवाह के प्रति शंका ओर अरुचि उत्पन्न हो रही है। नई पीढ़ी की स्त्री में अपने अस्तित्व की सार्थकता सिद्ध करने की विकसित बिंदास जीवन शैली ने उसकी कल्पनाएँ तो साकार की हैं, किन्तु ‘परिवार’ के लिए अनिवार्य विवाह संस्कार में परस्पर विश्वसनीयता घटी है। पढ़ी-लिखी, आत्मनिर्भर, आधुनिक युवतियों के पास पति रूपी पुरुष के लिए विवाह की कुछ तर्कसम्मत शर्तें हैं, तो पत्नी के रूप में सेविका प्राप्ति की अवधारणा वाले युवक उनके उग्र एवं उन्नत सोच से भयभीत हैं और दोनों ही दाम्पत्य जीवन के अस्थायित्व की आंशका के चलते अब विवाह के लिए लालायित नहीं, बल्कि ‘पहचान’ के लिए प्रयासरत है।<sup>103</sup>

महानगरों में अब ऐसी स्त्रियों की संख्या बढ़ती जा रही है जो विवाहित जीवन के स्थान पर अकेला रहना पसन्द करती हैं, क्योंकि काम और पति के बीच अपना समय बाँटना उन्हें सम्भव नहीं लगता। इसके अलावा उनका अकेलापन उन्हें इच्छानुसार काम करने की आजादी देता है।<sup>104</sup> जिससे उनके आत्मविश्वास में वृद्धि होती है। आज महिलाएँ अपनी प्राथमिकताओं

को तरजीह देने लगी हैं और आर्थिक, भावात्मक और सामाजिक स्वतन्त्रता तलाशने लगी हैं।<sup>105</sup> इन सभी कारणों से आत्मनिर्वासन की स्थिति और अधिक गहराने लगी है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि परिवेश व्यक्ति के जीवन में महत्वपूर्ण भूमिका निर्वाह करता है। समकालीन परिवेश के विभिन्न आयामों के कारण मनुष्य जीवन में जो विसंगतियाँ आयी है। उनको इन उपन्यासों में सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है। जिससे हम परिवर्तित होती मानव प्रवृत्तियों को समझ पाने में सफल हुए है।

## सन्दर्भ ग्रन्थ

- 1 आलोचना अक्टूबर—दिसम्बर, 1972 पृ.50
- 2 प्रकर : मई—जून 1973 में प्रकाशित, स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास लेख पृ0 39
- 3 आलोचना त्रैमासिक : अक्टूबर—दिसम्बर, 1972, पृ. 49—50
- 4 मिश्र गोविन्द, पाँच आँगनों वाला घर पृ. 122
- 5 मिश्र गोविन्द : पाँच आँगनों वाला घर : पृ.123
- 6 मिश्र गोविन्द : पाँच आँगनों वाला घर : पृ. 122
- 7 मिश्र गोविन्द : पाँच आँगनों वाला घर : पृ. 123
- 8 मिश्र गोविन्द : पाँच आँगनों वाला घर : पृ. 14
- 9 मिश्र गोविन्द : पाँच आँगनों वाला घर : पृ.123
- 10 मिश्र गोविन्द : पाँच आँगनों वाला घर : पृ. 98
- 11 मिश्र गोविन्द : पाँच आँगनों वाला घर : पृ. 103
- 12 मिश्र गोविन्द : पाँच आँगनों वाला घर : पृ.144
- 13 मिश्र गोविन्द : पाँच आँगनों वाला घर : पृ.144
- 14 मिश्र गोविन्द : पाँच आँगनों वाला घर : पृ.279
- 15 बक्षी रमेश : चलता हुआ लावा : पृ.17
- 16 बक्षी रमेश : चलता हुआ लावा : पृ.17
- 17 बक्षी रमेश : चलता हुआ लावा : पृ.18
- 18 परिवार — यज्ञदत्त शर्मा, पृ. 212
- 19 मेहता नरेश : यह पथ बन्धु था : पृ. 71
- 20 Dr.Nvoy : Human Destiny: P.46
- 21 राकेश मोहन : अन्धेरे बंद कमरे : पृ.97
- 22 राकेश मोहन : अन्धेरे बन्द कमरे : पृ. 36
- 23 राकेश मोहन : अन्धेरे बन्द कमरे : पृ. 38
- 24 बक्षी रमेश : चलता हुआ लावा पृ. 29
- 25 बक्षी रमेश : चलता हुआ लावा पृ. 36
- 26 मिश्र गोविन्द : पाँच आँगनों वाला घर : पृ. 259
- 27 मिश्र गोविन्द : पाँच आँगनों वाला घर : पृ. 261
- 28 मिश्र गोविन्द : पाँच आँगनों वाला घर : पृ. 280
- 29 मिश्र गोविन्द : पाँच आँगनों वाला घर : पृ. 281
- 30 मिश्र गोविन्द : पाँच आँगनों वाला घर : पृ. 282
- 31 मिश्र गोविन्द : पाँच आँगनों वाला घर : पृ. 277
- 32 मिश्र गोविन्द : पाँच आँगनों वाला घर : पृ. 189
- 33 बक्षी रमेश : चलता हुआ लावा : पृ. 28
- 34 बक्षी रमेश : चलता हुआ लावा : पृ. 29
- 35 बक्षी रमेश : चलता हुआ लावा : पृ. 28
- 36 बक्षी रमेश : चलता हुआ लावा : पृ. 30
- 37 अग्रवाल डॉ. रोहिणी, : हिन्दी उपन्यास में कामकाजी महिला, पृ.169
- 38 सिंह डॉ. पुष्पपाल : समकालीन कहानी युगबोध का सन्दर्भ, पृ. 28
- 39 Values and the future : Theodore J. Gordon Editor – Kurt Baier and Nicholas Rescher, P. 155
- 40 गोस्वामी क्षमा : नगरीकरण और हिन्दी उपन्यास, पृ. 207
- 41 सिंह रामधारी दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय, पृ. 653
- 42 मिश्र गोविन्द : पाँच आँगनों वाला घर, पृ. 164

- 43 मिश्र गोविन्द : पाँच आँगनों वाला घर, पृ. 165
- 44 मिश्र गोविन्द : पाँच आँगनों वाला घर, पृ. 186—187
- 45 मिश्र गोविन्द : पाँच आँगनों वाला घर, पृ. 203
- 46 मिश्र गोविन्द : पाँच आँगनों वाला घर, पृ. 253
- 47 मिश्र गोविन्द : पाँच आँगनों वाला घर, पृ. 185
- 48 मिश्र गोविन्द : पाँच आँगनों वाला घर, पृ. 248
- 49 मिश्र गोविन्द : पाँच आँगनों वाला घर, पृ. 248
- 50 यादव राजेन्द्र : उखड़े हुए लोग : पृ. 78
- 51 यादव राजेन्द्र : उखड़े हुए लोग : पृ. 350
- 52 यादव राजेन्द्र : उखड़े हुए लोग : पृ. 351
- 53 यादव राजेन्द्र : उखड़े हुए लोग : पृ. 373
- 54 यादव राजेन्द्र : उखड़े हुए लोग : पृ. 374
- 55 मिश्र गोविन्द : पाँच आँगनों वाला घर, पृ. 188
- 56 मिश्र गोविन्द : पाँच आँगनों वाला घर, पृ. 188
- 57 मिश्र गोविन्द : पाँच आँगनों वाला घर, पृ. 188
- 58 मिश्र गोविन्द : पाँच आँगनों वाला घर, पृ. 225
- 59 मिश्र गोविन्द : पाँच आँगनों वाला घर, पृ. 226
- 60 मिश्र गोविन्द : पाँच आँगनों वाला घर, पृ. 274
- 61 बक्षी रमेश, चलता हुआ लावा : पृ. 19
- 62 The Study of History – Arnold Toynbee, Pg 126
- 63 शाह रमेश चन्द्र : अकेलेपन का अर्थ; विवादी स्वरो से छनता हुआ संवाद (लेख)  
आलोचना पत्रिका जनवरी—मार्च 1972, पृ. 81, सं. नामवर सिंह
- 64 गोस्वामी क्षमा : नगरीकरण और हिन्दी उपन्यास, पृ. 178
- 65 व्होरा आशारानी : भारतीय नारी : अस्मिता और अधिकार, पृ. 142
- 66 अमृतराय : आधुनिक भाव बोध की संज्ञा, पृ. 139
- 67 राय डॉ. विद्याशंकर : आधुनिक हिन्दी उपन्यास और अजनबीपन, पृ. 24
- 68 मिश्र गोविन्द : पाँच आँगनों वाला घर, पृ. 193
- 69 मिश्र गोविन्द : पाँच आँगनों वाला घर, पृ. 193—194
- 70 बक्षी रमेश : चलता हुआ लावा, पृ. 60
- 71 बक्षी रमेश : चलता हुआ, पृ. 57
- 72 बक्षी रमेश : चलता हुआ, पृ. 57
- 73 मिश्र गोविन्द : पाँच आँगनों वाला घर, पृ. 216
- 74 मिश्र गोविन्द : पाँच आँगनों वाला घर, पृ. 216
- 75 मिश्र गोविन्द : पाँच आँगनों वाला घर, पृ. 197
- 76 मिश्र गोविन्द : पाँच आँगनों वाला घर, पृ. 202
- 77 मिश्र गोविन्द : पाँच आँगनों वाला घर, पृ. 220
- 78 मिश्र गोविन्द : पाँच आँगनों वाला घर, पृ. 217
- 79 मिश्र गोविन्द : पाँच आँगनों वाला घर, पृ. 206
- 80 अज्ञेय : अपने अपने अजनबी, पृ. 91
- 81 अज्ञेय : अपने अपने अजनबी, पृ. 97
- 82 अज्ञेय : अपने अपने अजनबी, पृ. 29
- 83 राकेश मोहन : अन्धेरे बन्द कमरे, पृ.64
- 84 वर्मा निर्मल : वे दिन, पृ.186
- 85 वर्मा निर्मल : वे दिन, पृ. 151
- 86 वर्मा निर्मल : वे दिन, पृ. 38
- 87 मदान डॉ. इन्द्रनाथ : आज का हिन्दी उपन्यास, पृ.150

- 
- 88 गोस्वामी डॉ. क्षमा : नगरीकरण और हिन्दी उपन्यास, पृ. 190  
89 देसाई डॉ. पारुकान्त : साठोत्तरी हिन्दी उपन्यास, पृ. 149  
90 वर्मा निर्मल : वे दिन, पृ. 210  
91 वर्मा निर्मल : वे दिन, पृ. 211  
92 अज्ञेय : अपने अपने अजनबी, पृ. 51  
93 अज्ञेय : अपने अपने अजनबी, पृ. 51  
94 सिंह वी.एन., सिंह जनमेजय : नगरीय समाजशास्त्र, पृ. 101-102  
95 इण्डिया टुडे : 29 मार्च 2000 पृ. 44  
96 व्होरा इन्द्रारानी : सातवें दशक के हिन्दी उपन्यासों में नगर बोध, पृ. 297  
97 गोयल डॉ. अनिल : हिन्दी कहानी में नारी की सामाजिक भूमिका, पृ. 173  
98 Kapoor Promila "The Changing Status of the Working Woman in India",  
page 3. Vikas Publishing House, Delhi 1974  
99 व्यास के.सी. : दि सोशल रेनासाँ इन इण्डिया, पृ.46  
100 वाजपेयी नन्द दुलारे : नया साहित्य, पृ. 123  
101 कबीर हुमायूँ : इण्डियन हैरिटेज, पृ. 117  
102 यादव राजेन्द्र : उखड़े हुए लोग, पृ. 288  
103 मधुरिमा, (दैनिक भास्कर) : युवा विवाह करने से कतराने लगे हैं : शर्मा नासिरा  
(लेख) 10, फरवरी,1999 पृ.1  
104 इण्डिया टुडे : 29 मार्च, 2000, पृ. 44  
105 इण्डिया टुडे : 29 मार्च, 2000, पृ. 45

# चतुर्थ अध्याय



## चतुर्थ अध्याय

### हिन्दी उपन्यासों में वर्णित आत्म-निर्वासन के कारण

चिरप्रतीक्षित स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद सामाजिक-आर्थिक, सांस्कृतिक या राजनीतिक क्षेत्रों में व्यापक स्तर पर मोहभंग हुआ। बौद्धिक दृष्टि से सर्वाधिक जागरूक मध्यम वर्ग ने इस मोहभंग को सबसे अधिक झेला है। स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में मध्यम वर्ग की "इस यातना" घुटन और पीड़ा को रचने की कसमसाहट और अकुलाहट अपनी रचनात्मक सीमाओं के बीच दिखाई पड़ती है। राजेन्द्र यादव ने अपने एक निबन्ध 'भारतीय उपन्यास : असफलता के कुछ बिन्दु' में लिखा है कि कथा साहित्य का सम्बन्ध सामाजिक परिवर्तन की घटनाओं से उतना नहीं होता जितना उनमें उलझे नैतिक मूल्यों और सांस्कृतिक संकट से होता है। औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप विकसित महानगरीय संस्कृति ने व्यक्ति की अत्यधिक व्यस्तता के साथ ही एकरस जीवन और विषमताओं को भी जन्म दिया है। सुविधाओं से भरपूर महानगरों का जीवन ग्रामीण समाज से सर्वथा भिन्न होता है। पाश्चात्य प्रभाव के सम्पर्क में पनपती महानगरीय संस्कृति में यांत्रिक सुविधाओं के मध्य जीते व्यक्ति का मस्तिष्क और मन दोनों भी यांत्रिक हो जाते हैं। समकालीन उपन्यासों में नगर जीवन की इन्हीं जटिलताओं का समावेश किया गया है। समकालीन हिन्दी उपन्यासों पर फ्रायड, एडलर और यूंग आदि मनोवैज्ञानिकों का प्रभाव भी दिखलाई देता है। इस सोच के कारण उपन्यासकार में पुराने नैतिक मूल्यों को बदलने की मांग बलवती दिखलाई देने लगी।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद उपन्यासों में व्यक्ति को महत्व दिया जाने लगा। कुछ उपन्यासकारों ने मनोवैज्ञानिक और अस्तित्वादी चेतना से प्रभावित होकर उपन्यास लेखन आरम्भ किया जिनमें जैनेन्द्र, अज्ञेय, उपेन्द्रनाथ अशक, नरेश मेहता, धर्मवीर भारती, लक्ष्मीकांत वर्मा, राजकमल चौधरी, गिरिराज किशोर, उषा प्रियंवदा और लक्ष्मीनारायण लाल आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इन उपन्यासकारों ने मानवीय जीवन के विविध पहलुओं पर ध्यान आकृष्ट किया। इनके उपन्यासों में आधुनिकता के प्रभाव के कारण व्यक्ति के जीवन में निराशा, कुंठा, संत्रास, मृत्युबोध, निरर्थकता, अकेलेपन, अजनबीपन और मूल्यहीनता को दर्शाया गया है।

अस्तित्ववाद की धारणा से प्रेरित होकर हिन्दी उपन्यासकारों ने आधुनिक जीवन विसंगतियों को लेखनीबद्ध किया। अस्तित्ववाद का प्रथम प्रयास होता है मनुष्य को स्वयं से परिचित करवाना और उसके अस्तित्व के समस्त उत्तरदायित्वों का निर्वहन उसके ऊपर सौंप देना अतः अस्तित्ववाद को ऐसा दर्शन माना जाता है जिसमें वैयक्तिकता का बोध होता है। स्वातन्त्र्योत्तर काल के उपन्यासों में इसी अस्तित्ववाद का समावेश कर मानवीय अस्तित्व की समस्याओं, सामाजिक जीवन की विडम्बनाओं, विसंगतियों, सम्बन्धोंके खोखलेपन, नगरीय जीवन

की जटिलताओं और पति-पत्नी के बीच सम्बन्धोंके अनेक पहलुओं को छुआ है। मानवीय अस्तित्व की समस्याओं को लेखनीबद्ध करने में –अज्ञेय, मोहन राकेश, निर्मल वर्मा, उषा प्रियंवदा, लक्ष्मीकांत वर्मा, श्रीलाल शुक्ल, गंगाप्रसाद विमल, मन्नू भण्डारी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इन उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों “अंधेरे बंद कमरे”, “एक पति के नोट्स”, “चलता हुआ लावा”, “बेघर”, “उखड़े हुए लोग” जैसे उपन्यासों में नगरीय जीवन के अकेलेपन को उजागर किया है। उन्होंने पाठकों को यथार्थ के धरातल की पहचान कराने की कोशिश की है। मोहन राकेश के उपन्यास ‘अंधेरे बंद कमरे’ में अजीब तरह के आत्मनिर्वासन और अकेलेपन का चित्रण किया गया है। आत्मनिर्वासन के अनेक कारण हैं जिनमें से कुछ कारणों का वर्णन अग्रलिखित है।

### 1. जीवन के टूटते मूल्यों का सच—

प्राचीन काल में हमारे सामाजिक सम्बन्धों को बनाए रखने में नैतिक और धार्मिक मूल्यों का बहुत योगदान रहा किन्तु आधुनिक समय की बौद्धिकता और वैज्ञानिक परिवेश के कारण पारम्परिक धार्मिक धारणाओं के प्रति आस्था और भय खत्म हो गया। वर्तमान में पारिवारिक सम्बन्ध मात्र आर्थिक जुड़ाव के कारण ही शेष रह गए हैं। इन आर्थिक कारणों के कारण पारिवारिक सम्बन्धों में तनाव की स्थिति उत्पन्न होने लगी है। इस तनाव की स्थिति ने पारिवारिक मूल्यों का हास किया है। सामाजिक मूल्य मनुष्य की सामूहिकता, जातीय सुरक्षा और मूल प्रवृत्तियों की तुष्टि के लिए महती आवश्यक हैं। इनसे सामाजिकता के उत्थान में सहायक जीवन दृष्टियों को बल प्राप्त होता है। सामाजिक मूल्यों से आशय है सामाजिकता को प्रोत्साहित करने वाली जीवन दृष्टियाँ जो कि मानविकी और सामाजिक मूल्यों के विकास के लिए आवश्यक है। सांस्कृतिक विकास क्रम में सामाजिक मूल्यों का विकास मानविकी मूल्यों से पूर्व हो जाता है। यही सामाजिक प्रवृत्तियों का पोषण करती हैं। वर्तमान में व्यक्तिवादी सोच ने सामाजिक मूल्यों का विघटन आरंभ कर दिया है। महानगरों के आधुनिक और प्रगतिशील वातावरण की ऊपरी आभा सभी को आकर्षित करती है किन्तु उसके भीतर की सच्चाई है –झूठ, छल, स्वार्थ, भ्रष्टाचार और बाहरी दिखावा। इस प्रदर्शन ने शोषण की ऐसी दीवारें खड़ी की हैं जिसने हमारे जीवन मूल्यों और विश्वास को नष्ट प्रायः कर दिया है। पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति के प्रभाव के कारण हम अपने परम्परागत संस्कारों और मूल्यों को भूलते जा रहे हैं। पाश्चात्य परम्पराओं और आचार-विचारों का भारतीय संस्कृति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ रहा है। पश्चिमी सभ्यता, नगरीकरण, भौतिकवादी दृष्टिकोण के कारण आज व्यक्ति स्वकेन्द्रित होता जा रहा है। उसके लिए अपना सुख, उसका स्वार्थ ही चिन्ता का प्रथम विषय बन गया है। इस सुख की प्राप्ति में जीवन मूल्य खत्म होते जा रहे हैं। आज व्यक्ति सिर्फ धन, पद और शक्ति प्राप्त करना चाहता है चाहे उसके लिए उसे अपने चरित्र का हनन करना पड़े तो भी कोई बात

नहीं है लेकिन यह परिस्थिति भी स्थायित्व प्राप्त नहीं कर पाती है और अन्त में मनुष्य आत्मनिर्वासन की स्थिति में पहुंच जाता है।

आज के बुद्धिवादी युग में व्यक्ति और समाज, मनुष्य और ईश्वर, स्त्री-पुरुष सम्बन्ध, विश्वास और परम्पराएं, आस्थाएं, आदर्श, रूढ़ियां और विचार आदि सब खोखले होते जा रहे हैं। इसी अकेलेपन, आत्मनिर्वासन के स्वर इन समकालीन उपन्यासों में दिखलाई देते हैं। स्वाधीनता के बाद भारतीय परिवेश की सम्पूर्ण सामाजिक जीवन पद्धति, रहन-सहन, आचार-विचार एवं व्यवहार की दिशा परिवर्तित हो गई। संस्कृति वह तत्व है जो हमारे जीवन को परिष्कृत और विवेक सम्पन्न बनाती है। जिसे व्यवहार में अपनाकर व्यक्ति उच्चता प्राप्त करता है। यह जीवन का एक तरीका है। संस्कृति व्यक्ति के व्यवहार के प्रतिमान रचती है और पीढ़ी दर पीढ़ी यह हस्तान्तरित होती है। संस्कृति और मूल्यों का आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध है। “नगरीकरण का तात्पर्य गांव से लोगों का शहरों में आना तथा उनके आने से शहर में आने वाले उनके परिवारों पर पड़ने वाले प्रभावों से है अतः नगरीकरण वह प्रक्रिया है जिसमें गाँवों से शहरों में आने पर लोगों के मूल्यों, दृष्टिकोण एवं जीवन पद्धति में परिवर्तन होता है। सभ्यता के साथ जीवन मूल्यों का सम्बन्धसंस्कृति के साथ होता है। जिस क्षेत्र का पर्यावरण जैसा होगा वहां वैसी ही संस्कृति का निर्माण होगा। महानगरीय संस्कृति हमारी संस्कृति से बिल्कुल भिन्न है। वहां के सांस्कृतिक परिवर्तन के कारण जीवन मूल्यों में भी परिवर्तन आना स्वाभाविक है। आज वह पाश्चात्य संस्कृति के कारण लुप्त होते जा रहे हैं।”<sup>1</sup>

नगरीय संस्कृति ने व्यक्ति को नितान्त स्वार्थी और व्यक्तिवादी सोच प्रदान की है इसलिए व्यक्ति तनावग्रस्त और कुण्ठित होता जा रहा है। उसने अपने चारों ओर एक घेरा बना लिया है जिसमें वह अकेला रहना पसंद करता है। उसे परिवार, धर्म, जाति, समाज आदि किसी की भी चिंता नहीं है। सांस्कृतिक मूल्यों को अनदेखा कर वह सिर्फ अवसरवादी बन चुका है। भौतिक संस्कृति में धार्मिक आस्था और नैतिकता की अनदेखी हो रही है। ईश्वर एवं धर्म के प्रति आस्था की कमी और अन्याय एवं अत्याचार में बढ़ोत्तरी हो रही है। उसे मात्र अपने उद्देश्यों की पूर्ति करनी है चाहे वह देश, समाज, धर्म सबको दांव पर लगा कर की जाए। शोभा का पत्र पढ़कर मनोज के मन में अलगाव की भावना गहराती है उसी शाम वह बानी से मिलता है बानी स्कूल की कुँआरी मेट्रन थी। मनोज बानी की ओर आकृष्ट होकर अपने मन की रिक्तता को भरना चाहता था किन्तु असफल होता है। आखिर वह शिमला से विदा लेता है। इतने दिन वहाँ रह चुकने के बाद उसने अपने को फिर से कोरा कर लिया था।<sup>2</sup> अकेलेपन और रिक्तता से संतृप्त व्यक्ति सोचता है कि यदि वह पुरानी रितियों, नैतिक नियमों को तोड़ देगा तो उसे इस घुटन से मुक्ति मिल सकती है। या कहे कि स्वयं का भीतरी विध्वंसक उसे बाहर भी विध्वंस करने को प्रेरित करता है। काशनी की सुन्दरता देखकर मनोज उस पर मोहित हो जाता है और सोचता है कि “यहाँ से चलने से पहले कुछ ऐसा करे जिसे कर सकने में पहले बाधा महसूस

होती थी उस पुरे वातावरण के प्रति अपनी वितृष्णा प्रकट करने का एक उपाय भी हो सकता था। एक ही झटके में स्कूल से, शोभा से और आसपास की सब चीजों से एक तरह का प्रतिशोध लेने का सुख प्राप्त कर सकता था।<sup>3</sup> इस प्रकार क्षणभर में मनोज सबसे सम्बन्ध विच्छेद करना चाहता है और स्वार्थी बन कर स्वयं की नैतिक-अनैतिक इच्छाओं को पूरी करना चाहता है। समकालिन सम्बन्ध अस्तित्ववाद से प्रभावित है, जिसमें मनुष्य नितान्त अकेला है।

इसी संत्रास तनाव और घुटनपूर्ण स्थिति में रायना भी है। जीवन की ऐसी विडम्बनापूर्ण स्थिति से बचने के लिये अपने अतीत से कटकर जीना चाहती है इसलिए यायावर होकर विदेशी नगरों में भटकती रहती है। तीन दिन तक कथानायक के साथ प्राग की दर्शनी जगहों पर घूमती है इसी दौरान कथानायक रायना के प्रति आकर्षित होता है। दोनों में शारीरिक सम्बन्ध बनते हैं। वह सम्बन्ध सिर्फ वक्त काटने के लिये है इनके पीछे भावुकता या समर्पण नहीं है सार्त्र ने मौलिक द्वेष या घृणा को ही प्रधानता दी है। “अतः प्रेम एक निरर्थक किया है, एक मनुष्य के लिये वस्तु मात्र है, कुर्सी या कॉफी के प्याले की तरह। हम सच्चे अर्थों में प्रेम करते नहीं, प्रेम पाना चाहते हैं और मनुष्य यौन जीव होने के कारण क्षणिक यौन दृष्टि अथवा सहचर्य के लिये प्रेम का ढोंग रचता है। आधुनिक यान्त्रिक सभ्यता में प्रेम एक सौदा मात्र रह गया है, एक समझौता, उसी प्रकार का जैसा मालिक और मजदूर संघ का होता है। प्रेम की इस अवधारणा में प्रेम, प्रेम न होकर एक अनुबन्ध बन जाता है। आज प्रेम मनुष्य की आकांक्षा का स्वर्ग नहीं रह गया है।”<sup>4</sup>

पहले मानवीय सम्बन्धों में स्थायित्व था, पवित्रता थी। आत्मीयता थी किन्तु समकालीन मानव स्वयं ही इन मूल्यों से रिक्त है तो उसके सम्बन्ध भी ऐसे ही है रिक्त, खोखले। रायना और कथानायक दोनों एक दूसरे के निकट आने पर भी उन दोनों में आत्मीयता का अभाव रहता है। आज प्रत्येक व्यक्ति दिशाहीन है— न वो समाज को समझ पाता है और न समाज उसे। ‘वे दिन’ में कथानायक कहता है पहली बार मुझे लगा, जैसे इस शाम तक हम दोनों के बीच जो रिश्ता था, वह अब नहीं है। वह बदल गया है, स्वतः और अनायास ..... उस रात पहली बार मुझे लगा कि एक का व्यक्तित्व दूसरे के लिये अन्धेरा है— जैसे वह मेरे लिये थी, मैं उसके लिये तथा हम बाहर अकेले भी रहते थे तब भी पूरा अकेलापन नहीं आता था, किन्तु उस रात कमरे में लगा था जैसे हम एक-दूसरे के सामने सहसा सूने से पड़ गए हो।<sup>5</sup> दूसरी तरफ रायना है जो न ज्यादा दिन अकेले रह सकती है और ना ही हमेशा किसी एक साथ। वह जहाँ जहाँ घूमती है वहाँ उसका संग पुरुषों से होता है और वह इस संसर्ग को अनैतिक नहीं मानती है। लेकिन किसी के प्रति भी वह भविष्य के लिये कोई संवेदना नहीं रखती है जिसमें बाद में कोई पछतावा न हो। रायना जिसमें वर्तमान को सब कुछ मानती है और क्षण विशेष में जीती है इसलिए किसी रिश्ते में स्थायित्व नहीं देखती।

यही आज के मनुष्य की सबसे बड़ी समस्या है वह संवेदना से शुन्य होने के साथ-साथ आत्मिक सम्बन्धों से भी रिक्त है। आलोच्यकालीन उपन्यासों में मध्यम वर्ग के जीवन की जटिलताओं को समझाने का प्रयास किया है। इन महानगरीय समस्याओं के मध्य अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़ते असहाय और विवश व्यक्ति के संघर्ष को उपन्यासकारों ने अपनी लेखनी प्रदान की है। एक ओर ग्रामीण जीवन सामूहिक मूल्यों, आदर्शों और मान्यताओं पर आधारित है तो दूसरी ओर महानगरीय जीवन में मानवीय संवेदना, सहानुभूति आदि के नाम पर मात्र स्वार्थीपन ही बचा है। पाश्चात्य सभ्यता से उधार ली गई महत्वाकांक्षाओं के कारण प्राचीन परम्पराओं और मान्यताओं का विरोध हो रहा है। इस कारण स्वस्थ मूल्यों का अभाव होता जा रहा है। इस पाश्चात्य प्रभाव ने व्यक्ति को अंदर से तोड़-मरोड़ दिया है। प्राचीन मूल्य और आदर्श हमारी धरोहर हैं। इन्हें नष्ट करना अपनी संस्कृति नष्ट करने के समान है।

## 2 मध्यम वर्ग के आन्तरिक अन्तर्विरोध

यूरोप के मध्ययुगीन आखिरी चरण में नवजागरण के फलस्वरूप उदय हुआ एक नवीन वर्ग का जो कि दो विशाल वर्गों उच्च एवं निम्न वर्ग के मध्य था। इस मध्यवर्ग के उदय ने एक नए सामाजिक परिवर्तन की कड़ी आरम्भ की। नवजागरण के कारण यंत्रीकरण का आरंभ हुआ। यंत्रीकरण ने सामाजिक संस्कृति को बहुत प्रभावित किया है। यंत्रीकरण के कारण समाज में जातिगत बंधन लचीले हो गए हैं। जातिगत ढाँचे के स्थान पर नगरों में एक नवीन वर्ग का उदय हुआ है जिसमें विश्वास, मूल्य सिद्धान्त से रहित, आडम्बरपूर्ण जीवन है समकालीन उपन्यासों में इसी महानगरीय समाज का प्रतिबिम्ब दिखलाई देता है। अशक जी के उपन्यास 'शहर में घूमता आईना' में निम्न मध्यमवर्गीय परिवार के जीवन का चित्रण किया गया है। आलोच्य उपन्यासों में मध्यमवर्गीय समाज के शिक्षित लोगों को चुना गया है जो कि विचार से आचार तक आधुनिक हैं लेकिन अपने अकेलेपन से मुक्ति पाने के लिए कॉफी हाउस, रेस्तरां आदि की भीड़ में जाते हैं। मोहन राकेश, निर्मल वर्मा आदि सभी उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों में मध्यमवर्गीय समाज से जुड़ी समस्याओं की ओर ध्यान आकृष्ट किया है। गरीबी और अभाव की परिस्थितियों में मधुसूदन को ज़िन्दगी में अंधेरा ही अंधेरा नजर आता है। इन पात्रों को मनोवैज्ञानिक स्तर पर टूटते हुए दिखाया गया है।

उच्च और निम्न वर्ग की अपेक्षा मध्य वर्ग ही रुढ़ियों और अंधविश्वासों में जकड़ा हुआ है लेकिन यह वर्ग वैज्ञानिक चेतना का संवर्द्धक भी रहा है। जाति व्यवस्था और सती प्रथा के विरुद्ध आवाज मध्यम वर्ग द्वारा ही उठाई गई थी। मध्य वर्ग की पीढ़ी में परम्परागत मान्यताओं के प्रति विद्रोह उभर कर सामने आया। चेतना सम्पन्न मध्यम वर्ग अब पक्षपात के विरुद्ध आवाज उठाने लगा। महानगरीय मध्यवर्गीय नारी की मानसिकता में भी यह परिवर्तन दृष्टिगत होते हैं। वह समाज द्वारा निर्धारित नियम कायदों का विरोध करती नजर आती है। यह कहा जा

सकता है कि मध्यम वर्ग रूढ़िवादिता और प्रगतिशीलता के तत्वों को एकसाथ लेकर चल रहा है और फलस्वरूप यही वर्ग सबसे अधिक द्वन्द्व, तनाव और संघर्षमय जीवन जी रहा है। उपन्यास के उद्भव के साथ ही मध्यवर्ग ने उपन्यासों में अपना स्थान बना लिया। उपन्यासकारों ने मध्य वर्ग को अपनी सोच में स्थान दिया इसका मुख्य कारण यह रहा कि उच्च वर्ग का व्यक्ति अपनी समर्थ सामाजिक और आर्थिक स्थिति के कारण इतना सुरक्षित है कि उसे संघर्ष की आवश्यकता ही नहीं होती और दूसरी तरफ निम्न वर्ग का व्यक्ति भाग्य के सहारे अपना जीवन गुज़ार देता है। इन दोनों के मध्य में है मध्य वर्ग जो कि असंतुष्ट और संघर्षप्रिय है। इस तरह से उपन्यासों में मध्य वर्ग को आशा-निराशा, सफलता-असफलता, हताशा और कुंठा के साथ कई रूपों में चित्रित किया गया है। मध्यवर्ग की प्रवृत्ति उच्च वर्ग की बराबरी करने की होती है लेकिन अपने सीमित संसाधनों के कारण वह अपने प्रयासों में सफल नहीं हो पाते इसलिए अपनी गृहस्थी को संकट में डाल देते हैं। अंधेरे बंद कमरे में हरबंस और नीलिमा की यही स्थिति दिखलाई देती है। अपनी पत्नि और दोस्तों से कटे हुए हरबंस में अजीब सी बेबसी दिखलाई देती है। इस बेबसी से मुक्त होने के लिए वह विभिन्न वर्दी को स्वीकारने की चेष्टा भी करता है। वह अपने आप को बहुत अकेला महसूस करता है। इसलिए वह नीलिमा को लिखता है "मैं इन थोड़े दिनों में ही अपने अकेलेपन से बुरी तरह ऊब गया हूँ। मुझे लगता है कि मैं दो-चार साल तो क्या इस तरह लंदन में एक महीना भी नहीं काट सकुंगा।"<sup>6</sup> इस प्रकार वह जीवन से थक चुका है और निराश व्यक्ति के रूप में प्रकट होता है।

हरबंस के चरित्र की सबसे बड़ी विडम्बना यह है कि वह नीलिमा के साथ और नीलिमा दूर रहकर भी सुखी नहीं है उसके अकेलेपन की अभिव्यक्ति उसके लम्बे-लम्बे पत्रों में होती है। "एक तरफ देखता हूँ तो हम लोगों के सहजीवन की यन्त्रणा और प्रताड़ना नजर आती है और दूसरी तरफ यह निगलता हुआ सूनापन है। भीड़ से लदी हुई दुनिया के बीच अपना अकेलापन। मेरा दिमाग बिल्कुल खाली हो गया है और स्नायु बिल्कुल खाली हो गये हैं यहाँ आकर मैं पहले से अधिक अस्थिर हो गया हूँ।"<sup>7</sup>

अपनी स्थिति का वर्णन करते हुए वह कहता है "मैं नहीं जानता कि मेरे ऊपर हर समय एक जड़ता सी क्यों छायी रहती है और मैं अपने मन और शक्ति को किसी काम में नहीं लगा पाता। अतीत, वर्तमान और भविष्य, और इन सबके ऊपर मेरा अपना अकेलापन, मेरे ऊपर बाघ की तरह झपटते हैं। तुम्हारे साथ और तुम्हारे बिना, दोनों ही तरह जिन्दगी मुझे असम्भव प्रतीत होती है। हरबंस की या विवशता आधुनिक दाम्पत्य जीवन की सबसे बड़ी विडम्बना है। वह स्वयं भी इस अकेलेपन को समझता है किन्तु इसे मुक्त नहीं हो पाता।"<sup>8</sup> "मैं अपने को बहुत अकेला महसूस करता हूँ क्योंकि यह अकेलापन पाँच हजार मील की दूरी के कारण नहीं है, और न ही शारीरिक प्राप्ति के अभाव के कारण। यह अकेलापन वर्षों से मुझे अन्दर ही अन्दर कीड़े की तरह खा रहा है और खाता जायेगा जब तक कि तुम सचमुच मेरी मित्र न बन सको

या कि कोई और न बन सके। .....मेरा अकेलापन और उदासी तो शायद एक मानसिक बीमारी है जिसका कोई इलाज नहीं.....।<sup>9</sup> इन पत्रों से गुजरने पर हरबंस का आधुनिक युग के शहरी व्यक्ति का अकेलापन, खालीपन, अजनबीपन स्पष्ट झलकता है..... हरबंस अपने पत्रों में आधुनिक महानगरीय सभ्यता के अलगाव—‘एलिनिमेशन’ से गुजरता है— मानसिक असंतुलन की सीमा तक।<sup>10</sup> “उसे ऐसा लगता है वह एक काल कोठरी में बंद है और जीवन भर उसे उस काल कोठरी में बंद रहकर हाथ पैर पटकते जाना है।”<sup>11</sup>

इस अकेलेपन से मुक्त होने के लिये वह नीलिमा को लंदन बुला लेता है। नीलिमा के लंदन पहुँचने पर उनके दाम्पत्य जीवन में और अधिक अलगाव और टूटन आ जाती है। लंदन में नर्तक उमादत्त से भेंट होने पर नीलिमा की नर्तकी बनने की आकांक्षा पुनः जागृत हो जाती है। हरबंस की इच्छा के विरुद्ध वह नृत्य का अभ्यास करती है। हरबंस उन दोनों के पारस्परिक सम्बन्धों से अधिक चिन्तित हो जाता है, वह मानता है उसका जीवन तनावपूर्ण अन्धेरे में खो चुका है। नीलिमा मानती है हरबंस के साथ जिन्दगी नरक के समान है। दोनों के बीच अलगाव और अजनबीपन और गहराने लगा था। “उस ऊब में जीते हुए वे लोग आखिर क्या खोज रहे थे वह हरबंस के स्वभाव से दुखी रहती थी और हरबंस उसके स्वभाव से। फिर भी साथ—साथ रहने की एक मजबूरी थी जिससे वे निकल नहीं पाते। हरबंस उसे अपनी तरह गम्भीर देखना चाहता था और वह चाहती थी कि वे हर समय अपने आस पास एक उल्लास और थिरकन महसूस कर सके। वे दोनों एक ही घेरे में दो विपरित दिशाओं घुमते नक्षत्र थे जो न तो उस घेरे से निकल सकते थे और ना ही अपनी दिशा बदल सकते थे। उनका साथ—साथ रहना भी अनिवार्य था और विपरित रहना भी।”<sup>12</sup>

मनुष्य के स्वार्थ, संकीर्णता एवं एक—दूसरे को न समझने के कारण पारिवारिकविघटन होने लगे। संस्कारशून्यता और विघटन आज के संदर्भ में सबसे बड़ी चुनौती बनी हुई है जिससे साक्षात्कार किए बिना मानवता का विकास संभव नहीं है। यह पथ बंधु था में यही स्वर मुखरित हुआ है। आर्थिक स्थिति, संरचना और सम्बन्धोंके बदलने के कारण सम्मिलित कुटुम्ब प्रथा प्रेमचंद के जमाने से ही टूटने लगी थी। प्रस्तुत उपन्यास में ठाकुर परिवार में श्रीमोहन और श्रीवल्लभ के अलगाव द्वारा वह स्पष्ट बता देना चाहता है कि श्रीनाथ ठाकुर और उनकी पत्नी के प्रयत्नों के बाद भी किस प्रकार आर्थिक कारणों से पारिवारिक जीवन टूट रहा था। श्रीनाथ ठाकुर का कहना है “आज जब पट्टी हटाकर देखता हूँ जो तीनों लड़के मेरी आंखों से कहीं दूर चले गए हैं। बड़े ने मेरे जीवन की सारी कमाई प्रतिष्ठा पर पानी फेर दिया क्योंकि उसे अपने लिए प्रतिष्ठा, धन सभी तो अर्जित करना था। अपनी प्रगति में वह परिवारवालों को बाधा पाता है इसलिए वह सबके प्रति निर्मम हो गया है।.....और वह श्रीवल्लभ, अपनी सास की अंगुलियों पर नाचने वाला व्यक्ति जहां सुख—समृद्धि के साधन दिखे, उसी ओर बहकर चला जाने वाला पानी का रेला। सम्बन्धों के तनाव के बढ़ने के कारण ही पिताजी के कठोर व्यवहार से श्रीमोहन

को लगा “शेष कुटुम्ब ने दीवारहीन एक दीवार ऐसी खींच ली थी, उठा ली थी कि उसकी अपेक्षा कोई सी भी दीवार अच्छी ही होती। सब होते हैं, सब में दीवार खिंची होती है। दीवार अभेद्य तभी होती है जब अंतर में खिंची होती है जिन्हें अब नहीं तोड़ा जा सकता है क्योंकि ये दीवारें सम्बन्ध टूटने पर ही उठती हैं। जरा सी भी भावना शेष हो तो ये दीवारें नहीं बन पाती हैं। यही भावात्मक सम्बन्ध ही परिवार में लोगों को बांधे रखता है। जब यह अदृश्य हो जाता है तब टूटन आरंभ होता है। इस टूटन को श्रीनाथ ठाकुर समझ गए थे। बड़ा लड़का श्रीमोहन किसी प्रकार अपने परिवार की संकुचित सीमा छोड़, कौटुंबिक दृष्टिकोण से नहीं सोच सकेगा। छोड़े लड़के श्रीवल्लभ ने बड़ी चतुराई से कौटुंबिकता से अपने को लगभग पृथक कर ही लिया था। आधुनिक युग में प्रत्येक पारिवारिक समस्या के मूल में पैसा ही दिखाई पड़ता है। पैसे का बढ़ता व्यामोह ही परिवार को छिन्न-भिन्न कर देता है। लेखक ने बदलते हुए मानवीय सम्बन्धों का खोखलापन इस कुशलता से अंकित किया है कि वह बड़ी तीव्रता से उभरकर सामने आता है और पाठक के हृदय में एक टीस, एक कचोट पैदा करता है। भाई-भाई, पिता-पुत्र, सास-बहू, देवरानी-जेठानी जैसे परम्परागत सम्बन्ध बदल गए हैं उनमें सौहार्द, संवेदना और स्नेह की तरलता के स्थान पर स्वार्थ की धूल रह गई है।

‘पचपन खम्भे लाल दीवारें’ उषा प्रियम्बदा का पहला उपन्यास है। उपन्यास की नायिका सुषमा के जीवन के एक अंश को कथावस्तु का मूलाधार बनाते हुआ लेखिका ने सुषमा जैसी अनेक भारतीय युवतियों के संत्रास का यथार्थ चित्रण किया है, जो मध्यमवर्गीय परिवार की आर्थिक और सामाजिक विवशताओं को ढोती हुई अपने सपनों के सतरंगी महल को स्वयं ढहाकर चली आती है। सुषमा, सुशिक्षित, सुन्दरी, और व्यक्तित्व संपन्न होने के साथ-साथ एक मध्यम वर्गीय परिवार की बड़ी बेटी होने की जिम्मेदारी उठाकर जीवन संग्राम में अकेली सभी परिस्थितियों का सामना करने के लिए खड़ी है। सुषमा के परिवार में एक अस्वस्थ पिता, मां और चार भाई, बहन हैं जिनमें से दो बहनें विवाह योग्य हो चुकी हैं। सुषमा को अपनी बहन नीरू के विवाह के लिए वर की तलाश करनी है, उसके विवाह के दहेज का सामान जुटाना है, छोटी बहन के डॉक्टर बनने के सपने को साकार करना है, भाइयों की पढ़ाई का खर्च वहन करना है, पिता के इलाज और गृहस्थी की गाड़ी को खींचना है और इसी उत्तरदायित्व में उसका यौवन कुम्हला चुका है, उसके रंगीन सपने धूमिल हो चुके हैं, उसका जीवन दमघोंटू बन चुका है परंतु इन विषमताओं की ओर किसी का ध्यान नहीं जाता है। यहाँ तक कि उसकी अपनी माँ भी सुषमा पर परिवार का यह गुरुभार सौंपकर निश्चिंत हो चुकी है। सबके लिए खटते-खटते सुषमा का मन कहीं पर आहत और त्रसित हो गया है, इसका ध्यान उसके परिवार में किसी को नहीं है। सुषमा भी एक मनुष्य है, एक नारी है, उसे भी प्यार, स्नेह और देख-रेख की जरूरत है, उसे भी गृहस्थ जीवन जीने का अधिकार है— इन मुद्दों पर सोचने की आवश्यकता परिवार में किसी को नहीं है। बल्कि यदि सुषमा का विवाह हो जाए तो गृहस्थी की गाड़ी कौन खींचेगा,



इस चिंता में उसका विवाह न होना ही परिवार के लिए हितकर है। सच, कितना स्वार्थी और लालची हो चुका है आज का समाज।

कॉलेज में वार्डन का पद संभाल सुषमा होस्टल में अकेली रातों की चुभन को महसूस करती है। इस अकेलेपन, नीरस जीवन और इच्छाओं के उठते लहर को दबाने के प्रयास में टूटकर बिखरता हुआ सुषमा का जीवन पाठक के समक्ष लेखिका ने अपने कलम से साकार किया है। सुषमा को अकेलापन घेरने लगा। उसने सोचा कि किसी के पास थोड़ी देर जा बैठे, पर कपड़े बदलने और बाल संवारने का प्रयत्न उसे बहुत बड़ा लगने लगा। ... ऐसे अवसरों पर वह सदा खिन्न हो उठती और उसे अपने माता-पिता ही दोषी प्रतीत होते। यदि कुछ परिस्थितिवश सुषमा का विवाह न टल गया होता तो आज उसके भी सबकुछ होता— एकांत शामों का साथी, घर—मोटर, बच्चे— सुषमा ने सायास इन विचारों पर पूर्ण विराम लगा दिया। वार्डन की हैसियत से सुषमा कॉलेज के पास हॉस्टल में रहती है। उसके साथ एक नौकरानी भी रहती है। अपने सुरुचिपूर्ण सजावट के द्वारा सुषमा ने बंगले के हर कोने को नया रूप और आयाम दिया है। कॉलेज में अध्यापन कार्य, हॉस्टल की लड़कियों की नाना समस्याओं को सुलझाते हुए सुषमा का समय तो निकल जाता पर क्या केवल समय काटना और सांस लेना ही जीवन है। सुषमा के जीवन में कोई मोड़ या उतार-चढ़ाव नहीं है, केवल कर्तव्यनिष्ठ होकर चलते रहना है। उसकी कुछ साथिन अध्यापिकाओं का विवाह हो चुका है, कुछ अविवाहित हैं और कुछ चिढ़चिढ़ी बूढ़ी बैचलर हैं। इन सबको देखकर सुषमा को अपने भविष्य के सामने एक प्रश्नचिन्ह दिख पड़ता है।

सुषमा को प्रेमी नहीं चाहिए था। उसे पति की आकांक्षा भी नहीं थी, पर कभी-कभी उसका मन न जाने क्यों डूबने लगता। अपने परिवार का सारा बोझ अपने ऊपर लिए, सुषमा कांपने लगती। तब वह चाह उठती कि दो बाहें उसे भी सहारा देने को हो, इस नीरवता में कुछ अस्फुट शब्द उसे भी संबोधित करें। सुषमा की अधिकांश साथिन अध्यापिकाएं अपने स्वभाव के अनुकूल परनिंदा और कुचर्चा में समय गंवाती हैं, पर सुषमा सदैव अपने कर्तव्य को दत्तचित्त होकर पूरा करने का प्रयास करती है इसलिए प्रिंसीपल उससे बहुत स्नेह रखती है। जीवन की गाड़ी इस प्रकार बड़े बेमन से खींचती हुई सुषमा के जीवन में नील का आगमन होता है। नील सुषमा के किसी रिश्तेदार के परिचित का पुत्र था। वह दिल्ली में नौकरी करता था और सुषमा से परिचय के बाद धीरे-धीरे सुषमा के करीब आने लगा। पहले-पहल तो सुषमा नील से बचने का प्रयास करने लगी पर अपने शुष्क जीवन के दरवाजे पर आए वसंत को वह कब तक ठेलकर बाहर रखती। अनायास ही सुषमा भी नील के करीब खींचती गई। दोनों में परिचय से मित्रता, मित्रता से आत्मीयता, आत्मीयता से प्रेम और प्रेम से घनिष्ठता बढ़ने लगी। अब सुषमा नील के बिना अपने व्यक्तित्व को अधूरा महसूस करने लगी।

सुषमा गर्मियों की छुट्टियों में अपने परिवार से मिलने जाती है। वह रह-रहकर यह महसूस करती है कि परिवार के सभी सदस्य अपनी जरूरतों की पूर्ति के लिए हर समय सुषमा की ओर ताकते हैं। अपने माता-पिता की जिम्मेदारी-उसके चार भाई-बहन अब उसकी जिम्मेदारी बन गए थे। इस घर की मुख्य आय सुषमा का वेतन थी। अम्मा ने पहले तो न चाहा था कि लड़की घर के बाहर जाकर नौकरी करे, पर अब वह प्रसन्न थी। सुषमा हमेशा ही छोटे भाई-बहनों के लिए बहुत करती थी और यह सोचकर अम्मा मन को समझा लेती थीं कि उनकी लड़की नौकरी भले ही करे, वैसे सुखी है। सुषमा को अपनी मां की दोहरी फिलासफी अब कभी-कभी खटकने लगती थी... उसका सारा ध्यान अब छोटे बच्चों पर केन्द्रित था, सुषमा प्रायः उपेक्षित-सा अनुभव करने लगती थी। वह चाहती थी कि मां उसके जीवन में आ गए बिखराव को कुछ तो समझने का प्रयत्न करें।

सुषमा का नील के साथ मेल-जोल धीरे-धीरे कॉलेज की गलियारों में गॉसिप का विषय बनने लगा। उसकी साथिन अध्यापिकाएं जो उसकी सुन्दरता और पद से कुढ़ती थी अब उसके विषय में कानाफूसी करने लगी थी। इधर सुषमा नील के प्रेम में बहती चली गई। उसे सालों बाद अपना जीवन सार्थक महसूस होने लगा था। कॉलेज की लाल दीवारों और पचपन खंभों में कैद होकर सुषमा का व्यक्तित्व बौना और उसका जीवन घुटन और त्रास से आच्छादित हो गया था। नील के निश्छल प्रेम की वर्षा में भीगती हुई यौवन के अंतिम कगार पर खड़ी 33 वर्षीया सुषमा अपने एक नवयौवना-सी स्फूर्ति का अनुभव करने लगी। इधर छोटी बहन के रिश्ते के सम्बन्ध में सुषमा की मां नीरू को लेकर सुषमा के बंगले पर आ जाती है। बार-बार मां सुषमा को उसकी फिजूलखर्ची पर टोकती है। कॉलेज के लिए आने वाले फर्नीचर से अपना घर भरने और कॉलेज के नौकर से अपने घर का काम करवाने का उपदेश देती थी। सुषमा से बिना पूछे उसकी अलमारी से नील की दी हुई साड़ी नीरू को पहना देती है। सुषमा माँ के इस स्वार्थी व्यवहार को देखकर खीज उठती है।

दुनिया क्या करती है, यह मेरे सामने न कहो अम्मा। सुषमा ने पट से कापी बंद कर दी। जरा अपने दिल के अंदर झांककर देखो कि तुमने मेरे लिए क्या किया है। मेरा आराम से रहना तुम्हें खटकता है। तुम शादी तय करो नीरू की, मैं अपने सारे गहने-कपड़े उठाकर दे डालूंगी। यही तुम चाहती हो। सुषमा ने अपना वादा पूरा करते हुए अपने प्रॉविडेंट फंड से पांच हजार रुपए का कर्ज लेकर नीरू के विवाह की व्यवस्था की। अपना पेट काटकर उसने अपने पिता की गृहस्थी का पेट भरा। इधर नील से मेल-जोल बढ़ाने पर कॉलेज में उसकी काफी बदनामी होने लगी। नील के घरवालों ने कौशल्या मौसी के माध्यम से सुषमा को नील के जीवन से दूर चले जाने की हिदायत दी। चारों ओर की विषम परिस्थितियों में घिरकर सुषमा ने अंततः अपनी खुशियों का गला घोट दिया। नील से सदा के लिए अपने सम्बन्धविच्छिन्न कर अपने कचोटते हुए दिल को फिर से पचपन खंभों और लाल दीवारों में कैद कर लिया।

सुषमा की यह कहानी अंतर्मन की घुटन, पारिवारिक उत्तरदायित्व, सामाजिक लोक-लाज के बंधन, नारी की इच्छाओं और कामनाओं की सतरंगी उड़ान और अंततः मन को हारकर समाज से जीतने की कहानी है। कभी तो ऐसा लगता है, कि सुषमा में साहस का अभाव है इसलिए वह नील से विवाह करने से इंकार करती है क्योंकि वह उससे उम्र में बड़ी है और उसे लगता है कि विवाहेत्तर अवधि में उनके सम्बन्धमें इस कारण कटुता आ सकती है। सुषमा यह न समझ पाई कि नील के लिए उसके शरीर से ज्यादा उसका व्यक्तित्व आकर्षण का केन्द्र था। सुषमा ने जहां नील को अपने अकेलेपन का साथी और परिवेश की घुटन से बाहर आने का आधार माना वहीं नील ने यथार्थ रूप में सुषमा से प्रेम किया था। वह सुषमा को उसकी सारी जिम्मेदारियों के साथ स्वीकार कर अपनी जीवन-संगिनी बनाना चाहता था पर सुषमा नील के बार-बार आग्रह करने पर भी उसके साथ सदा के लिए हॉलैंड न जा सकी। नील को यदि विचार के केन्द्र में रखा जाए तो पाठक को सुषमा के बर्ताव पर असंतोष होगा। नीरू की शादी के लिए प्राविडेंट फंड से कर्ज लिया, बहन की शादी करवाकर मां को चिंता-मुक्त किया और इन सब कर्तव्यों का पालन कर उसे अपने हिस्से में मिला- अकेलापन, घुटन, त्रासदी, बोरियत, काम में व्यस्त बोझिल जीवन और मन को मारकर जीने की कला। अपनी बहन नीरू के लिए उसने ससुराल की दहलीज सजाई और अपने हिस्से में उसे मिले छात्रावास के पचपन खंभे और लाल दीवारें। लेखिका ने अप्रत्यक्ष रूप से परिवार नियोजन की आवश्यकता पर भी बल दिया है क्योंकि सुषमा के माता-पिता ने अपनी आर्थिक विषमता के बावजूद परिवार को बढ़ाया और अंततः उसका बोझ अपनी बेटी के कोमल कंधों पर डाल दिया।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि सुषमा का जीवन कर्तव्य और कामना के पाठों के बीच पिसकर शून्य हो गया। छात्रावास के पचपन खंभे और लाल दीवारें उन परिस्थितियों के प्रतीक हैं जिनमें रहकर सुषमा को ऊब तथा घुटन का तीखा एहसास होता है, लेकिन फिर भी वह उनसे मुक्त नहीं हो पाती, शायद होना नहीं चाहती, उन परिस्थितियों के बीच जीना ही उसकी नियति है।

### 3. मानवीय सम्बन्धों का बदलता स्वरूप

आधुनिक वैज्ञानिकता और बौद्धिकता ने पारिवारिक सम्बन्धोंको नया मोड़ दिया है। अब सौहार्दपूर्ण वातावरण और मूल्यों का ह्रास हो चुका है और पारिवारिक सम्बन्धोंको जोड़े रखने का एकमात्र आधार अर्थ हो गया है। तनावपूर्ण स्थिति होने पर पारिवारिक सम्बन्ध भी बिगड़ने लगते हैं। परिवार का मुखिया अब भरण-पोषण करने वाला बन गया है। समकालीन उपन्यासों में इन मानवीय सम्बन्धों के विभिन्न रूप और परिस्थितियों को दिखलाने का प्रयास किया गया है। एक ओर उपन्यास 'पचपन खंभे लाल दीवारें' में सुषमा की मां अपने पति के पक्षाघात से पीड़ित हो जाने पर अपनी पुत्री सुषमा पर पूर्णतः आश्रित हो जाती है और स्वार्थ के वशीभूत हो

सुषमा को अनदेखा कर अपने दूसरे बच्चों पर ध्यान केन्द्रित करती है। यह उपन्यास इस बात का उदाहरण प्रस्तुत करता है कि वर्तमान में नए मानवीय सम्बन्ध बनने लगे हैं। परिवार के मुखिया का स्थान मात्र भरण-पोषण का ही रह गया है। दूसरी ओर सुषमा के नज़रिए से देखें तो वह मुखिया बनकर भी सुखी नहीं है क्योंकि उसके अपने अलग सुख और दुख हैं। वह भी अपने परिवार से अपनत्व की चाह रखती है लेकिन अपनी मां के स्वार्थपूर्ण रवैये के कारण वह उनसे कटुता रखने लगती है और आत्मनिर्वासन की स्थिति में पहुंच जाती है।

उखड़े हुए लोग में कामतुष्टि के लिए केशव स्वयं अपनी बेटी का दुरुपयोग करता है। सूरज बाबू केशव के लिए कहते हैं 'अपनी खास लड़की को घर में डाले रहा था। मुझ से तो बेशर्मी से हंस कर कह देता था—बाबूजी आम लगाया है, मेहनत की है, लू-धूप में रखवाली की है तो फल खाने का हक भी तो मेरा ही है.....'<sup>13</sup> जहां बाप ही अपनी पुत्री के साथ यौन सम्बन्ध रखता हो ऐसी घृण्य स्थिति को मूल्य-विघटन ही माना जा सकता है। स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में पारिवारिक मूल्यों के विघटन का मूल कारण अर्थ-लोलुपता को बतलाया गया है। अर्थ को केन्द्र में रखकर पारिवारिक रिश्ते कायम होने लगे हैं। अर्थ की उपासना ही सब धर्मों का आधार बन गई है। उपन्यासों में पति-पत्नी, माता-पिता, पिता-संतान, माता-संतान, भाई-भाई के एक दूसरे के लिए अजनबी एवं अपरिचित बनने को चित्रित किया गया है। इनमें मुख्य विषय माता-पिता और संतान के बीच की आपसी दूरी दिखलाने का प्रयास है।

नारी सम्मान और पारस्परिक सम्बन्धों के जटिल अंतर्विरोध, प्रेम के अंतरंग स्वरूप तथा नारी-महत्वाकांक्षाओं ने नारी चरित्र में दोहरे व्यक्तित्व का निरूपण करने के लिए उपन्यासकार को बाध्य किया है। मध्यवर्गीय नारी चरित्र में एक प्रकार से अंतर्मुखी चेतना का विकास दृष्टव्य होता है। अतिशिक्षित एवं बौद्धिक होती नारी अपने सम्मान के प्रति अधिक सजग हो उठी है। परिणामतः समाज में पारस्परिक सम्बन्धों में अंतर्विरोध की स्थितियाँ बढ़ गई हैं। यही नहीं, बढ़ती हुई नारी चरित्रों की अंतर्मुखता समाज विरोधी स्थिति बनाती है। समाज एवं सामाजिकता को गौण करते हुए व्यक्ति को अधिक प्रतिष्ठा प्रदान की गई है। वैयक्तिक रुचि, स्वतंत्र चेतना, महत्वाकांक्षाओं का आग्रह, शिक्षा का प्रभाव अति अहंवादिता ने आधुनिक उपन्यासों के नारी चरित्रों को अपेक्षाकृत अधिक द्वन्दी और विद्रोही बना दिया है। परिणामतः पारस्परिक सम्बन्धों में अंतर्विरोध झलकता है। अर्थ-प्रधानता के कारण पति-पत्नी सम्बन्धपिता-पुत्री सम्बन्धसभी पर इसका प्रभाव परिलक्षित होता है। आधुनिक हिंदी उपन्यासों में नारी चेतना के परिप्रेक्ष्य में अकेलापन, स्वतंत्र अस्मिता के संघर्ष के प्रति जागरूकता, विवाह, परिवार और समाज के प्रति उनकी भूमिका तथा मानवीय चेतना की प्रतिष्ठा का चित्रण किया गया है। यह अकेलेपन की स्थिति पाश्चात्य संस्कृति की देन ही है, जो परिवेशजन्य परिस्थिति से उत्पन्न होती है क्योंकि भारतीय संस्कृति में वसुधैव कुटुंबकम् का ही चिंतन रहा है। आज पाश्चात्य चिंतन की आयातित

मानसिकता ने अकेलेपन का सूत्रपात किया है। आज अतिपरिचयजन्य कुंठाओं की अतिशयता ने पारस्परिक सम्बन्धों को खोखला कर दिया। व्यक्ति से व्यक्ति की दूरी बढ़ा दी गई है। यहाँ हमारे अकेलेपन के मूल में औद्योगीकरण, यांत्रिकता की वृद्धि, बढ़ती हुई जनसंख्या, बेकारी, आर्थिक संकट, अराजकता और भोगवादी स्थितियाँ भी कारण हैं। आधुनिक काल में नारी के प्रति पुरुष के भाव बदल गया है और नारी ने भी अपने स्वातंत्र्य की घोषणा करते हुए समाज से दया नहीं, अपने अधिकारों की माँग की है। वास्तव में आज नारी में बढ़ते अजनबीपन, विवाह सम्बन्धों में शिथिलता और परिवार एवं समाज में नारी की स्थिति एवं चेतना का किंचित विकास दिखाई देता है मध्यवर्गीय नारी के पास न तो अपना व्यक्तित्व है और न उसे आगे बढ़ाने वाला समाज ही। फिर आर्थिक विषमताएं नारी में क्रोध, खीज, निराशा उत्पन्न करती हैं।

सामाजिक यथार्थ, परंपराओं का नवीनीकरण और आधुनिक-बोध निम्नवर्ग की श्रमशक्ति और उसके शोषण को ही निरूपित करते हैं। महानगरीय सभ्यता के बीच गाँव और कस्बों से आए हुए निम्नवर्ग की जिंदगी पिस जाती है। निम्न वर्ग के नारी चरित्रों में जीवन मूल्यों एवं नैतिक मर्यादाओं की चिंता नहीं होती है। नैतिक मूल्यों का विघटन, परंपराओं के प्रति विद्रोह, जिजीविषा और अस्तित्व का संघर्ष आधुनिक उपन्यास के नारी चरित्रों में उकेरा गया है क्योंकि नैतिक मान्यताएं उसकी समझ से बाहर हैं। पति द्वारा प्रताडना, पहली पत्नी के होते हुए दूसरी स्त्री ले आना या कुछ रुपयों के लिए अपनी पत्नी को किसी को बेच देना या सोने के लिए बाध्य करना नारी चरित्रों के लिए विशेष परिस्थितियाँ पैदा करती हैं।

आधुनिक उपन्यासों में चित्रित नारी चरित्रों में वैयक्तिक रुचि, महत्त्वाकांक्षा स्वतंत्र चेतना, अस्तित्व और अस्मिता की पहचान से कहीं अधिक जीवन के दुःखों एवं संघर्षों से परिपूर्ण हैं और उसके समानांतर पीढ़ियों का मोहभंग, टूटन, विघटन, वर्ग संघर्ष की समानांतर चेतना एवं जीवन का अर्थ-बोध उकेरा गया है। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि निम्नवर्गीय नारियाँ पुरुषों की अपेक्षा अधिक विद्रोहिणी हैं और समाज की नैतिक मान्यताओं, रुढ़ियों एवं परम्पराओं को तोड़ने में सजग एवं सक्रिय है। परवर्ती अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि निम्न वर्ग के नारी पात्र अन्य वर्गों की अपेक्षा अधिक उग्र हैं तथा उनमें अपने अधिकारों के प्रति चेतना की तीव्रता है जिसे नारी विमर्श के निष्कर्ष पर स्वीकार किया जाता है।

‘शहर मे घूमता आईना’में आईना का प्रतीक चेतन है। शिमला में अपनी साली नीला के विवाह से लौटकर अपने घर जालन्दर मे चेतन प्रातः ही भटकने के लिए निकल पडता है। यह लाहौर में एक अल्पचेतन भोगी प्रगतिशील कथाकार है। साली नीला के प्रति उसका आकर्षण था। नीला का विवाह हो जाने बाद वह कुण्ठित मन लेकर जालन्दर मे रात्री होने तक घूमता फिरा। उसकी भटकन में उसके बीते जीवन की स्मृतियां सैरबीन की तरह उसकी स्मृति से गुजरती रहीं। “वही दृश्य, वही घटनायें, वही बातें, उसका मुहल्ला, उसका शहर, उनके लोग, उनकी सोच-समझ और भाग दौड़ का सीमित क्षेत्र, अनन्त, बढ़ा, देबू, प्यारू, हकीम दीनानाथ,

निश्चर, रणवीर हुनर, महात्मा और योगी, स्वयं लेखक और सेठ, लालू और अमरनाथ पण्डित जुलियाराम और लाला मणिराम, फिर सबसे ऊपर उसके पिता। अपनी हीनदशा पर उसे अव्यक्त क्षोभ हुआ। उसके मित्र उससे कहीं आगे बढ़ गये हैं। उसकी अपनी आर्थिक स्थिति क्या है और अन्त में वह अपनी पत्नी (चन्दा) के पास चला आया। गर्मी और तपिश से जला-भुना, थका-हारा यह उस विशाल झील के किनारे चला आया है उसके ठहरे निथरे गहरे जल के किनारे ही उसकी नियति है।

#### 4. स्त्री पुरुष सम्बन्धों की जटिलताएं

महानगरों में प्रेम सम्बन्धी मान्यताओं में परिवर्तन होता जा रहा है। युवा पीढ़ी की स्वच्छन्दता की बढ़ती प्रवृत्ति के कारण अब प्रेम का वह पवित्र स्वरूप बदलता जा रहा है। वास्तविक प्रेम का स्थान दैहिक आकर्षण ने ले लिया है। इस हेतु समकालीन उपन्यासकारों ने इनके कारण और दुष्परिणामों के प्रति सचेत करने के लिए पात्रों का सहारा लिया है। विवाहत्तर प्रेम सम्बन्धों का चलन आज आम होता जा रहा है।

“मध्यमवर्गीय परिवारों में आर्थिक कठिनाईयों के कारण लड़कियाँ जीविकोपार्जन में लगी रहती हैं। दूसरे दहेज न जुटा पाने के कारण भी उनकी विवाह आयु आगे सरकती जाती है। हमारे समाज में नया उभरा प्रौढ़ कुमारियों का यह वर्ग ही अधिकतर “दूसरी औरत” का दर्जा पाकर पति-पत्नी के बीच त्रिकोण बना रहा है। पुरुष तो स्वभाव से ही ‘चेंज’ का आकांक्षी होने से छूट चाहता है। इधर ये युवतियाँ अपनी उम्र, शिक्षा और कामकाज के फलस्वरूप कितनी ही शक्तिशाली क्यों न दिखाई दें, अपनी भीतरी प्राकृतिक माँग को प्रायः दबा नहीं पाती। समाज में स्त्री-पुरुष मेलजोल की सुविधाएँ बढ़ने से सहज आकर्षण की प्रवृत्ति तो अपना काम करती ही है, शिथिल यौन नियमों वाले उत्तेजक माहौल में वे सहपाठी, सहकर्मी, पड़ोसी या रिश्तेदार के आमन्त्रण को सहसा टुकरा नहीं पाती। प्रेम की चाह व सेक्स की भूख के अलावा एक और सबल कारण होता है, पुरुष के सहारे की जरूरत। प्राकृतिक बन्धन से मुक्त, सामाजिक छूट पाये हुए पुरुषों का एक समूह प्रायः एक स्त्री से सन्तुष्ट नहीं होता। घर से ऊबकर नवीनता की चाह में ऐसे पुरुष तो तलाश में रहते ही हैं। देर तक विवाह न होने के कारण घर से ऊबी, खीझी और उपेक्षित किसी युवती के सम्पर्क में आते ही वे पुरुष सबसे पहले उसके सामने सहानुभूति प्रदर्शित करते हुए सहयोग का अपना हाथ बढ़ाते हैं। फिर दूसरी ओर प्रेम का बीज अभी धरती के भीतर कुलबुला ही रहा होता है कि अपने बेमेल विवाह का दुखड़ा रोकर, अपनी पत्नी के दुर्गुण गिनाकर वे युवती के मन में द्वन्द को ढीला करने में सफल हो जाते हैं और फिर बीज को धरती फोड़कर अंकुरित होने की राह मिल जाती है। प्रायः ऐसी स्थिति में ही ये प्रौढ़ कुमारियाँ कथित प्रेम के चक्रव्यूह में फँसकर विवाहित पुरुष के आगे आत्मसमर्पण कर देती हैं।<sup>14</sup>

समाज इस 'दूसरी स्त्री' को न सहानुभूति देता है, न पत्नी का हक। अतः अधिकतर ये सम्बन्ध चोरी छिपे अवैध सम्बन्ध बनकर ही चलते पनपते हैं कहीं स्थायी रूप से, पर अधिकतर अस्थायी रूप से ही और अवैध सम्बन्धों का यह अस्थायित्व ही आज सामाजिक कोढ़ बनकर हमारे घरों को फोड़ता हुआ सामाजिक विघटन का कारण बन रहा है।<sup>15</sup> महानगरीय पति-पत्नी अब बंधनों और परम्पराओं को तोड़कर अन्य स्त्री पुरुष से प्रेम सम्बन्ध स्थापित करने में नहीं हिचकते हैं। "चलता हुआ लावा" में में भी इसी त्रिकोण प्रेम को दर्शाया गया है। उपन्यास का पात्र जब अपनी पत्नी के साथ तालमेल नहीं रख पाता तो वह दूसरे पात्र गुड्डम की ओर आकर्षित हो जाता है। गुड्डम का कथन है "तुम्हारा क्या है-तुम्हारे पास नाटक एक सहारा है। अभी मुझे हर्ट कर दोगे, अभी कॉफी हाउस में जाकर लतीफे सुनाओगे। तुमने कहा था दुहरे ढंग से जीना तुम्हारी विशेषता रही है लेकिन तुम पत्नी के साथ भी घूम सकते हो और उसी शाम मेरी चुन्नी पर नाम भी लिख सकते हो। साथ ही संतुलन भी रख सकते हो कि दांये हाथ की बात भी बांये हाथ को न मालूम हो।"<sup>16</sup> गुड्डम का यह कथन एक ओर स्वच्छन्दता की हद बतलाता है तो दूसरी तरफ उसके अन्तर्द्वन्द की व्यथा को भी व्यक्त करता है। उसके एक तरफ स्वत्व का प्रश्न खड़ा था और दूसरी तरफ घर से विवाह करने का दबाव भी आ रहा था ऐसे में आत्मनिर्वासन को झेलती गुड्डम नींद की गोलियां खाकर आत्महत्या कर लेती है।

यह उपन्यास बतलाता है कि बंधन से मुक्त पुरुषों का एक समूह एक स्त्री से कभी संतुष्ट नहीं हो पाता है। वह ऐसी स्त्रियों की चाह में रहते हैं जो अधिक उम्र तक विवाह नहीं करतीं और अपने परिवार से उपेक्षित होती हैं। उसके सामने सहानुभूति प्रदर्शित करके वह उसके मन में प्रेम का बीजारोपण करते हैं। अपनी टूटी गृहस्थी की झूठी कहानी सुनाकर वह ऐसी प्रौढ़ कुमारियों को प्रेम के चक्रव्यूह में फंसा लेते हैं।

राजेन्द्र यादव, मन्नु भण्डारी, कृष्णा सोबती, कमलेश्वर, श्रीकांत वर्मा आदि अनेक समकालीन उपन्यासकारों ने स्त्री-पुरुष सम्बन्धों को विभिन्न रूपों में चित्रित किया है। आरम्भ में विवाह के मायने अलग थे किन्तु वर्तमान में पुरुष स्वतंत्र रूप से यौन संबंध की मांग कर रहा है तो स्त्री भी विवाह संस्था को अपने व्यक्तित्व के अनुसार ढालना चाहती है। स्त्री पुरुष सम्बन्धों की समस्या का सर्वाधिक चित्रण स्वातंत्र्योत्तर उपन्यास मोहन राकेश के 'अंधेरे बंद कमरे' में है। नीलिमा के साथ रहकर भी हरबंस स्वयं को खाली सा महसूस करता है। नीलिमा भी स्वतंत्र होना चाहती है। नीलिमा एक महत्वाकांक्षी नारी है जो अपनी निजी आकांक्षाओं और रुचि में ही खोई है। वह अपने स्वतंत्र अस्तित्व पर विश्वास करती है। इसमें हरबंस और नीलिमा के माध्यम से दाम्पत्य जीवन के उबाऊ संदर्भों और तनाव जनित अन्तर्द्वन्दों का चित्रण है। निर्मल वर्मा के उपन्यास 'वे दिन' में रायना के मन की चाह उपन्यास में अनेक स्थानों पर सांकेतिक रूप में व्यक्त होती है। रायना सभी सम्बन्धों से कटकर यायावरीय जीवन व्यतीत कर रही है। उसके पिता कहीं और हैं, माता की चर्चा तक नहीं है, पति से वह निस्संग है, पुत्र से

भी उसे अनुराग नहीं है। वह स्वावलंबिनी नारी कही जा सकती है। अपनी इच्छानुसार विदेशी नगरों में वह भटकती रहती है। कहीं उसे अनैतिक सम्बन्ध बनाना गलत भी लगता है लेकिन वह अधिक दिनों तक अकेले भी नहीं रह पाती। इस उपन्यास में पारिवारिक दबाव अलग होने वाले दो प्रेमियों की निस्सहायता का चित्रण है जो उन्हें आत्मनिर्वासन की स्थिति में पहुंचा देते हैं। आलोच्य उपन्यासों में प्रेमसम्बन्धों में भी अलगाव को खोजने का प्रयास किया गया है। इन उपन्यासों के माध्यम से प्रेम सम्बन्धों में एक प्रकार का अलगाव और अजनबीपन पनपने के कारणों पर प्रकाश डाला गया है। वे दिन की पृष्ठभूमि यूरोपीय है लेकिन दूसरे उपन्यासों में परम्परागत भारतीय समाज के प्रेमियों में अलगाव के कारणों को देखा गया है किन्तु उल्लेखनीय तथ्य यह है कि इन लेखकों ने प्रेमसम्बन्धों में अलगाव की समस्या की अनदेखी कर वैवाहिक सम्बन्धों में अलगाव को अपना विषय बनाया है। यह लेखक विवाहित दम्पति के जीवन में आने वाली समस्याओं और फिर उनसे उपजे अकेलेपन पर अपना ध्यान केन्द्रित किए हुए हैं। निर्मल वर्मा के 'वे दिन' में जिस प्रेम की व्याख्या की गई है वह सिर्फ एक विशेष संदर्भ की ही धारणा है वास्तव में वह अवास्तविक लगती है। इससे स्पष्ट होता है कि आधुनिक जीवन में प्रेम में प्रौढ़ता नहीं है। इससे यह लगता है कि सारे मानवीय सम्बन्ध अधूरे हैं और जिसे प्रेम कहते हैं वह मात्र एक असंभव प्रक्रिया है। इनकी रचनाओं में नारी चरित्रों की संख्या काफी है जो मध्यवर्गीय नारी का प्रतिनिधित्व करती हैं। इनकी अपनी आस्था और आकांक्षाएं हैं जिनकी वे पूर्ति करना चाहती हैं। जब वह इच्छाएं पूरी नहीं होती तो इनमें असंतोष जन्म लेता है। इन्हें अपनी वैयक्तिक स्वतंत्रता और अस्तित्व का गहरा बोध है। अपनी वैयक्तिकता को लेकर वह खालीपन और रिक्तता से गुजरती हैं। 'अंधेरे बंद कमरे' की नीलिमा आदि से अंत तक संघर्ष करती है। इन उपन्यासों में नारी-पुरुष सम्बन्धों पर आज के संदर्भ में विचार किए गए हैं।

उषा प्रियंवदा ने अपने उपन्यास 'पचपन खम्भे लाल दीवारें' में आधुनिक जीवन की ऊब, छटपटाहट और अकेलेपन की यंत्रणा को व्यक्त किया है। उनकी इस रचना में आधुनिकता का स्वर प्रबल दिखलाई देता है तो दूसरी तरफ पाठक को अनुभव होता है कि भारतीय नारी किन सामाजिक और आर्थिक विवशताओं में बंधी हुई है। उपन्यास की पात्र सुषमा छात्रावास के पचपन खम्भों और लाल दीवारों के बीच घुटती रहती है किन्तु वह उससे मुक्त नहीं होकर वहीं जीने के लिए विवश है। महानगरीय व्यवस्था ने स्त्री जीवन में अनेकानेक परिवर्तन किए हैं। आज वह सभी पदों पर कार्यरत है और आर्थिक रूप से सक्षम होने के कारण आत्मनिर्भरता का आत्मविश्वास उसमें झलकता है। जैसे कि पचपन खम्भे की सुषमा में भी इसे व्यक्त किया गया है। कामकाजी नारी की घर और बाहर दोहरी जिम्मेदारियां हो गई हैं जिससे उनके पारिवारिक जीवन में तनाव उत्पन्न होने लगे हैं। अपनी अस्मिता को तलाशती नारी के लिए यह एक चुनौतीपूर्ण कार्य है कि वह दोनों ही क्षेत्रों में खरी उतरे। उपन्यासकारों ने स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की इसी जटिलता और यथार्थ को कलमबद्ध किया है। वैवाहिक सम्बन्धों में बढ़ते तनाव के



कारण महानगरीय वर्ग विवाह का ही विरोधी हो गया है। उत्तरदायित्वों और तनाव से बचने के लिए फ्री लिविंग की अवधारणा ने आकार लिया है। संयुक्त परिवार के विभाजन के साथ ही परिवार के विभिन्न सदस्यों के मध्य सम्बन्ध बुद्धि और तर्क से प्रेरित होने लगे हैं। समकालीन उपन्यासकारों ने इन्हीं मानवीय सम्बन्धों पर अपनी आक्रामक शैली में तो कहीं पर व्यंग्यात्मक शैली में लेखन का विषय बनाया है।

‘शेखर एक जीवनी’ में शशि के चरित्र को अज्ञेय ने एक उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। शशि का शेखर के प्रति अनुराग है किन्तु वह पत्नी मर्यादा के प्रति सचेत भी है। वह शेखर को बनाने के लिए स्वयं मिटने के लिए तैयार है। स्वतंत्रता के बाद के उपन्यासों में समाज के दो रूप दर्शाए गए हैं पहला स्त्री के स्वतंत्र व्यक्तित्व को स्वीकार करता है और उसे समानता का दर्जा भी देता है। इसमें स्त्री-पुरुष सम्बन्धस्वस्थ मानसिकता लिए होते हैं तो दूसरी तरफ नारी को भोग्या के रूप में प्रस्तुत किया गया है जिससे स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के मूल्यों का हास देखने को मिलता है। स्त्री-पुरुष सम्बन्धों में यह स्थिति बड़ी विकट होती है। यहां तक कि पति द्वारा अर्थ और पद की प्राप्ति के लिए अपनी पत्नी को दूसरे के समक्ष परोसने की प्रवृत्ति भी पनप जाती है।

मोहन राकेश के उपन्यास ‘अंधेरे बंद कमरे’ में मध्यवर्गीय समाज के बदलते सम्बन्धों को दर्शाया गया है। उपन्यास की कथा पत्रकार मधुसूदन के माध्यम से व्यक्त की गई है जिसमें मानवीय विवशताओं को आधुनिकता के साथ जोड़ा गया है। यह मध्यवर्गीय पात्रों की नियति को व्यक्त करता है। शहरी समाज के आधुनिकता के धरातल पर विचित्र प्रकार की मानसिक स्थिति को दर्शाया गया है। हरबंस और नीलिमा जो कि पति-पत्नी हैं। दोनों ही सुशिक्षित हैं किन्तु दोनों के मन में एक-दूसरे के लिए संदेह है। दोनों ही एक-दूसरे के अस्तित्व को नकारते नज़र आते हैं। इस उपन्यास का केन्द्र बिन्दु हरबंस और नीलिमा की जिन्दगी का बंद कमरा है जो उन्होंने स्वयं बनाया है। इनकी आकांक्षाओं ने दोनों को एक-दूसरे का विरोधी बनाकर भटकने के लिए मजबूर कर दिया है। यह उपन्यास मध्यवर्गीय समाज पर आधुनिकता के प्रभाव को दिखलाने वाली श्रेष्ठ रचना है।

“न आने वाला कल” में मुख्य पात्र मनोज और शोभा के अतिरिक्त दूसरे पात्र भी कई कारणों से तनाव-ग्रस्त, परिवेश से असन्तुष्ट, द्वन्द्वग्रस्त, अकेले एवं वैवाहिक जीवन से ऊबे हुए अनिर्णय की यन्त्रणाओं को भोगते हुए दिख पड़ते हैं। प्रत्येक पात्र एकाकीपन, अजनबीपन, बिखराव, ऊब और निरर्थकता-बोध को भोगने के लिए अभिशप्त है। स्कूल के हेडमास्टर टोनी व्हिसलर और जेन व्हिसलर, शारदा और उसका अधेड़ पति कोहली, पार्कर और मिजेज पार्कर, जिमी एवं रोज बाईट, चेरी और लैरी काशनी, बॉनी हाल और मिसेज दारुवाला भी अपनी-अपनी जगह से उखड़े और टूटे हुए दिखाई पड़ते हैं। टोनी व्हिसलर और उसकी पत्नी जेन ऊपर से विवाहित जीवन जी रहे हैं, मगर दोनों भीतर से बहुत टूटे हुए हैं और दोनों अपने

भीतर के खोखलेपन को ढँकने का प्रयास भी कर रहे हैं। टोनी जेन से छुटकारा चाहता हुआ भी उसकी नकेल में रहता है, क्योंकि उसे डर लगता है कि कहीं अपनी नपुंसकता की बात बाहर लोगों पर प्रकट न हो जाए।

“पार्कर और मिसेज पार्कर के बीच भी तनाव एवं ऊब छा गया है। जिमी एवं रोज ब्राइट के सम्बन्धों में भी अलगाव की भावना बढ़ गयी थी। अपने अकेलेपन से छुटकारा पाने के लिए रोज ब्राइट कम उम्र के लड़कों के साथ वक्त बिताती है। यही बात है जो उसके पति को एक मशीन के पुर्जे की तरह हर वक्त काम करते रहने के लिए मजबूर करती है। कोहली और शारदा का दाम्पत्य जीवन भी दुःखमय है। कोहली हर रात को सब के सो जाने के बाद शारदा को बुरी तरह पीट दिया करता था। चेरी और लारा पति-पत्नी होते हुए आपस में अजनबियों की तरह व्यवहार करते हैं। चेरी मिसेज दारूवाला से अनुरक्त है और इसलिए वह अपनी पत्नी के प्रति उदासीन है। बॉनी हाल उपन्यास की एक मुख्य पात्र है। बॉनी सचमुच आधुनिक नारी है। अपनी विचित्र मनःस्थिति के कारण वह अपने को एक “खतरनाक लड़की” मानती है।”<sup>17</sup>

वह किसी के साथ भावनात्मक उलझन में नहीं पड़ना चाहती। किसी एक आदमी के साथ घर बसाकर रहने की बात से उसे शुरू से ही चिढ़ रही थी क्योंकि उसका विश्वास है कि किसी मर्द के साथ विवाह हो जाने से नारी का अस्तित्व खो जाता है। उसे कई बार लगता था कि उसका मन जो इतना भटकता है, उसका वास्तविक कारण उसका अकेलापन ही है। इसलिए वह अस्थायी एवं क्षणिक सुख के लिए कभी-कभी पुरुषों से भोग करना चाहती है। इस प्रकार “न आने वाला कल” टूटते स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की आकुलता और मानव के अकेलापन एवं अजनबीपन की यथार्थ गाथा है।

“वस्तुतः भारत में परम्परागत मानस एक तरफ नवीन धारणाओं के प्रति चौंकता है तो दूसरी तरफ बुद्धिवादी एवं आधुनिक मानस नवीनता का समर्थन करता है यह अच्छा ही हुआ कि हमने उस सब मृत घृणित और वीभत्स को छोड़ दिया, अविश्वास से उन्हें फेंक दिया। वह भगवान, वह धर्म, वह नैतिकता, सबकुछ इतने मर चुके थे कि यदि हम उन्हें और भी चिपकाये रहते तो निश्चित रूप से हम भी मर जाते। लेकिन यह अविश्वास हमारे खून के रेशे-रेशे में इस तरह समा गया है कि अब किसी भी बात को ग्रहण करते समय सामने आ खड़ा होता है एक प्रश्न है जो हमारे हाथ पकड़ लेता है कहीं पुराने को नये में बदलने के जोश में हम पुराने से भी तो खराब तो नहीं लिये जा रहे हैं? कहीं एक अंधविश्वास को छोड़ कर दूसरे में तो नहीं फंस रहे हैं? इसलिये किसी भी नयी चीज को उन्मुक्त होकर ग्रहण नहीं कर पाते” इस प्रकार मनः स्थिति में द्वन्द्व एवं अनिश्चितता का स्थायी निवास हो गया है जो समकालीन मनुष्य को कही जुड़ने नहीं देती।”<sup>18</sup>

## 5. मनोविज्ञान का सम्बन्धों पर सामाजिक प्रभाव

प्रेमचंदोत्तर उपन्यासों में दो धाराओं सामाजिकता और व्यक्तिनिष्ठता देखने को मिलती है। परिणामस्वरूप सामाजिक एवं वैयक्तिक समस्याओं के चित्रण में प्रेमचंदयुगीन आदर्श नाकामयाब रहा। रचनाकारों द्वारा नए मानदंडों की खोज आरंभ हुई। हिन्दी में मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की परम्परा का सूत्रपात जैनेन्द्र ने किया। मानव मन के अन्तर्जगत का विश्लेषण करके औपन्यासिक संरचना के क्षेत्रों में मौलिकता का समावेश किया। इन उपन्यासों का अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि इनमें शहरी जीवन के अकेलेपन, अजनबीपन की अभिव्यक्ति हुई है। उपन्यासों के पात्र व्यक्ति केन्द्रित हैं। सभी पात्र आत्मलीन और अन्तर्मुखी हैं। यह मानसिक व्यथा मानसिक अस्वस्थता का मूल है। मनुष्य पहले से भी अधिक अकेला हो गया है। मोहन राकेश के उपन्यासों में अस्तित्ववादी दर्शन और मनोविज्ञान का प्रभाव दिखलाई देता है। उपन्यास का मुख्य स्वर आधुनिक मानव का व्यक्तित्ववाद है। जैनेन्द्र और इलाचन्द्र जोशी जैसे रचनाकारों ने व्यक्ति मन के रहस्यों को उद्घाटित करने का प्रयत्न किया तो दूसरी तरफ यशपाल, रांगेय राघव, नागार्जुन जैसे प्रगतिवादी रचनाकारों ने सामाजिक अन्याय एवं अत्याचार को जन साधारण के सामने प्रस्तुत करना आरम्भ किया। “अंधेरे बंद कमरे” आधुनिकताबोध को उजागर करने वाली रचना है जिसमें मध्यमवर्गीय समाज के बदलते हुए मानवीय सम्बन्धों को बतलाया गया है। इन्होंने आधुनिक जीवन की यंत्रणाओं को झेलते हुए व्यक्ति को उपन्यास में स्थान दिया है। नरेश मेहता के उपन्यास ‘यह पथ बंधु था’ में संयुक्त परिवार के विभिन्न पहलुओं को उजागर किया गया है। परिवार में जो कमाऊ सदस्य है वह स्वतंत्र होना चाहता है। परिवार के अन्य सदस्य भी मुक्ति चाहते हैं और यहीं से आरम्भ होता है संघर्षों का। संयुक्त परिवार के विघटन और एक परिवार की स्थापना ने व्यक्तिवादी विचारधारा को पनपने का अवसर दिया है।

## 6. व्यक्ति चेतना का प्रखर स्वरूप—

आधुनिक युग में प्रत्येक व्यक्ति अपने अस्तित्व के प्रति सचेत होने लगा है क्योंकि वर्तमान परिस्थितियों ने उसे स्वयं के जीवन के बारे में विचारने को विवश कर दिया है। इसीलिए वर्तमान में व्यक्ति के सामने सबसे बड़ा प्रश्न है “मैं कौन हूँ और इस संसार में मेरा क्या अस्तित्व है” इस चिंतन के पीछे अस्तित्ववादी दर्शन की झलक दिखलाई देती है। इस चेतना के स्वर अज्ञेय की रचनाओं में दिखलाई देते हैं “किन्तु हम द्वीप हैं, हम धारा नहीं हैं/स्थिर समर्पण है हमारा। हम सदा से द्वीप हैं स्त्रोतस्विनी के किन्तु हम बहते नहीं हैं क्योंकि बहना रेत होना है।” अस्तित्व का अर्थ है अस्मिता यानि की “स्व”। अन्य शब्दों में कहें तो व्यक्तित्व की पहचान। आधुनिक संदर्भ में व्यक्ति अपने खोए हुए स्व को तलाश रहा है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद देश में समाज पर नवीन चेतना का अत्यधिक प्रभाव पड़ा है। जहां पर

व्यक्ति को व्यक्ति के रूप में स्वीकृति नहीं मिलती वहां वह स्वयं को बेसहारा और अस्तित्वहीन महसूस करता है। अपने टूटे हुए अस्तित्व को पाने की चाह में वह कुछ भी कर जाता है। वर्तमान में व्यक्ति एक इकाई बनकर रह गया है। उसके जीवन में अस्वीकृति का बोध अधिक दिखलाई देता है। कस्बों और ग्रामीण अंचल को छोड़कर शहरों में और महानगरीय परिवेश में तीव्र बदलाव दृष्टिगोचर होने लगे हैं। प्राचीन वैवाहिक विचारों के स्थान पर अन्य स्वस्थ वैचारिक धारणाओं का निर्माण होने लगा है। वर्तमान समाज में पति-पत्नि के जन्म-जन्मान्तर सम्बन्धों की अवधारणा ने नया स्वरूप ग्रहण किया है। वर्तमान समय में सामाजिक कुरीतियों का घोर विरोध होने लगा है। जिसे उपन्यासकारों ने अपने पात्रों के माध्यम से अंकित किया है। विवाह निर्धारण के लिए अब जाति, वंश और गौत्र का कोई महत्व नहीं रह गया है। धार्मिक कर्मकाण्डीय व्यवस्था अब लगभग समाप्त हो रही है। उपन्यास चलता हुआ लावा में पात्र के अनुसार "विवाह एक बोर प्रोसेस है। वह कहती है कि जब वह दूल्हे से बंधी दुल्हनों को देखती है तो ऐसी लगती है जैसे किसी कार का बम्पर फट गया हो, पंचर हो गया हो और किसी ट्रक से बांधकर उसे ले जाया जा रहा हो।"<sup>19</sup>

उपन्यासों में प्राचीन सामाजिक मूल्यों के प्रति विद्रोह का स्वर दिखलाई देता है जो नवीन मूल्य स्थापना के लिए लालायित हैं। जातीय मर्यादाओं का निर्वाह मध्यम वर्ग में ही देखने को मिलता है। उच्च और उच्च मध्य वर्ग सामाजिक जकड़नों से सर्वथा दूरी बनाए रखता है। इसीलिए उपन्यासों के पात्र मध्यम वर्ग का प्रतिनिधित्व करते दिखलाई देते हैं। स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की नई परिभाषाएं निर्मित होने लगी हैं। अब नवीन चेतना के कारण प्राणघातक प्राचीन प्रथाओं और जातिप्रथा के प्रति विरोध और नवीन मूल्य स्थापना होने लगी है। प्रेम, विवाह और यौन तुष्टि यह तीनों ही परस्पर घनिष्ठ रूप से जुड़ी हुई हैं। इसी कारण समकालीन हिन्दी उपन्यासों में दाम्पत्य सम्बन्धी धारणा और शारीरिक आकर्षण के साथ प्रणय भावना का अंकन हुआ है। इसके साथ ही बुद्धिवादिता के प्रभाव के कारण प्रणय के अस्तित्व को नकारे जाने के उदाहरण भी दृष्टिगोचर होते हैं। हैं। उपन्यासों में प्रणय सम्बन्धी प्रचलित विविध स्थितियों का लेखन किया गया है। नवीन विचारधारा के अनुसार इनमें भावुकता के स्थान पर बुद्धिवादिता का अत्यधिक प्रभाव है। पाश्चात्य भोगवादिता के प्रभाव के कारण हमारी परम्परावादी नैतिकता का स्थान अब स्त्री-पुरुष सम्बन्धों में स्वच्छन्दता ने ले लिया है। यौन स्वान्तत्र्य अब व्यक्ति स्वातन्त्र्य का ही रूप माना जाने लगा है। यौन सम्बन्धों और संयम की छूट ने वर्तमान में यौनमुक्तता और यौन उछूँखलता की भावना को बलवती भी किया है। अज्ञेय के उपन्यास 'शेखर एक जीवनी' में इसे दर्शाया गया है, लगता है कि वह अकेला व्यक्ति है, जो चाहे करता है, जैसा चाहे रहता है, उसके लिए समाज नाम का कोई यर्थाथ ही नहीं है। इस उपन्यास में व्यक्ति को त्रिशंकु की स्थिति में बतलाया गया है। वह न तो मानस की पूर्णरूप से उपेक्षा कर पाता है और न ही उस पर विश्वास। न पूरी तरह आधुनिक हो पाता है और न ही पूरी तरह

समाज से विमुख ही रह पाता है। इसी मनोभावों को उपन्यास में चित्रित किया गया है। इन स्थितियों के बावजूद भी शेखर अपनी चेतना को मुखर कर शशि के मरने से पूर्व ही नए प्रणय की आधारशिला रख लेता है। 'चलता हुआ लावा' में भी इसी बुद्धिवादी धारणा का रूप देखने को मिलता है। अनैतिक और असंवैधानिक व्यक्तिगत सम्बन्धों के स्थायित्व की बात करना मूर्खतापूर्ण होगा। वर्तमान में स्त्री-पुरुष अपने सम्बन्धों को जीवन के अभावों के धरातल पर स्थाई करना चाहते हैं। मोहन राकेश के उपन्यास 'अंधेरे बंद कमरे' में भी इसी 'स्व' की खोज दिखलाई देती है। हरबंस और नीलिमा अपने 'स्व' की खोज में एक-दूसरे को बदलने की चाह रखने लगते हैं। इसी व्यक्तिवादी सोच के कारण वह एकसाथ होते हुए भी अजनबीपन का शिकार हो जाते हैं। हरबंस के कथन से यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है "मैं अकेला आया हूँ और मुझे अकेला ही रहना है, मैं एक नये प्रयोग के मार्ग पर चल चुका हूँ और पीछे नहीं लौट सकता हूँ।"<sup>20</sup> राकेश ने महानगरीय व्यक्ति की त्रासदी को उभारने का प्रयास किया है। "अंधेरे बंद कमरे" दरअसल आधुनिक मनुष्य एवं उसके परिवेश को समग्रता से प्रस्तुत करने वाला उपन्यास है। इसकी कथा दिल्ली के नागरिक जीवन की व्यस्तता के बीच उभरते हुए खण्डित व्यक्तित्व की कथा है। आज का नागरिक जीवन जो बाह्य रूप में आकर्षक तथा चटक-मटक से पूर्ण है। भीतर से एक मौन कोलाहल से पूर्ण है—जो मन की विषमता का बोधक माना जा सकता है।<sup>21</sup> अस्तित्ववादी दर्शन का मूल केन्द्र मनुष्य और उसका अस्तित्व है। उसके अनुसार मनुष्य पूर्णतः स्वतंत्र, एकाकीपन, चेतनाशील, निराशा, शून्यता द्वारा सीमित प्राणी है। अस्तित्ववादी दर्शन के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति एकाकी है। वे दिन उपन्यास की नायिका रायना भी स्वतंत्र नारी है। निर्मल वर्मा की रचनाओं से पता चलता है कि उन पर अस्तित्ववादी दर्शन का प्रभाव है। वे दिन में मानव सम्बन्धों की व्याख्या अस्तित्ववाद के अनुसार ही हुई है जिसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए दिशाहारा तथा औरों के लिए अंधेरा है।

हिन्दी उपन्यासों पर अस्तित्ववाद का प्रभाव अंग्रेजी भाषा की रचनाओं से पड़ा। सार्त्र, कामू, काफ़्का, दोस्तोव्स्की, रिल्के, नीत्शे आदि दार्शनिकों की विभिन्न साहित्यिक रचनाओं का अनुवाद हिन्दी में होने से अस्तित्ववाद अस्तित्व में आया। इन रचनाओं में स्वातन्त्र्य बोध, क्षण बोध, निराशा, व्यथा, शून्यता और आतंक आदि पर अस्तित्ववाद का प्रभाव हुआ। इन उपन्यासों के प्रमुख पात्र अन्तर्मुखी हैं। 'अंधेरे बंद कमरे' के हरबंस की अन्तर्मुखता को चित्रित किया गया है तो दूसरा पात्र मधुसूदन भी अन्तर्मुखी, भावुक ओर कुटित व्यक्ति दिखलाया गया है। इसी अन्तर्मुखता के कारण वह अकेलेपन और बेगानेपन का शिकार हो जाता है। इन उपन्यासों में मध्यमवर्गीय नारी के अलगाव, अहंबोध और अकेलेपन का चित्रण भी किया गया है। शताब्दियों से पुरुष आक्रांत नारी जब शिक्षित होने लगी तो उसकी सामाजिक स्थिति में भी सुधार हुआ। इस शिक्षित नारी में व्यक्तित्व की स्वतंत्र सत्ता प्रस्थापित करने की छटपटाहट मोहन राकेश के उपन्यासों में दिखलाई देती है। 'अंधेरे बंद कमरे' की नीलिमा एक महत्वाकांक्षी नारी के रूप में

चित्रित की गई है। उसकी अपनी आकांक्षाएं हैं और वह अपने स्वतंत्र अस्तित्व पर विश्वास करती है। दूसरा पात्र सुषमा श्रीवास्तव भी आधुनिक विचारों वाली नारी के रूप में दिखलाई देती हैं। निर्मल वर्मा के उपन्यासों की नारी पात्र भी आधुनिक ही हैं। इन मध्यमवर्गीय नारियों की अपनी-अपनी आकांक्षाएं हैं जिनकी वह पूर्ति करना चाहती हैं किन्तु जब उसकी पूर्ति नहीं होती है तो उनमें असंतोष का भाव जन्म लेता है। अपनी वैयक्तिक स्वतंत्रता और अस्तित्व का गहरा बोध इनमें विद्यमान है और इसी कारण यह अलगाव, अजनबीपन से ग्रस्त होती हैं।

## 8. चेतन तत्व से विमुखता

आधुनिक साहित्य में अलगाव की चर्चा होती है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है वह चिन्तनशील होने के कारण शारीरिक और मानसिक रूप से दूसरों का सम्पर्क चाहता है। एक-दूसरे से सम्पर्क के बिना वह अपना जीवन नहीं जी सकता। कभी-कभी सामाजिक विसंगतियों के कारण व्यक्ति समाज से कट जाता है। यह अकेलेपन की स्थिति बहुत ही नाजुक होती है। यह अभिशाप भी हो सकता है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद हिन्दी उपन्यासों में अकेले व्यक्ति का अलगाव चित्रित किया गया है। इन उपन्यासों में चित्रित पात्रों की सबसे बड़ी समस्या है कि वह सबके होते हुए भी अकेले हैं। इन उपन्यासों में उन सभी सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों को अकेलेपन का जिम्मेदार ठहराया गया है जिनके कारण वह अजनबीपन के शिकार हुए हैं साथ ही व्यक्ति की भावनात्मक स्थिति को भी चित्रित किया गया है। आलोच्य उपन्यासों में व्यक्ति की वेदना, एकाकीपन, स्वयं के प्रति संशय, निरर्थकता का बोध, आत्मदया, दर्द, कुंठा को चित्रित करते हुए अकेले व्यक्ति की समस्याओं का प्रत्यक्ष या परोक्ष चित्रण है। इस अकेलेपन का भीतर से पनपना परिस्थितियों के कारण अलगाव की व्यथा भोगने को विवश व्यक्ति का चित्रण समकालीन उपन्यास में है। अधिकतर पात्र सामाजिक समस्याओं से कटे-छटे, मशीनी ढंग से जीने को विवश हैं। 'अंधेरे बंद कमरे' का मधुसूदन इसका जीवन्त उदाहरण प्रस्तुत करता है। इन उपन्यासों में अकेलेपन को जीतने का रास्ता दिखाने का श्रम नहीं है बल्कि अकेले व्यक्ति की मानसिकता को ध्येय बनाया गया है। अलगाव और अकेलेपन की स्थिति व्यक्ति के भावनात्मक विकास को कुंठित कर देती हैं और उसे भावी सुख से दूर कर समाज से भी अलगाव पैदा करती हैं। परिवार का भार वहन करने वाली नारी अपने माता-पिता, भाई-बहन से अलगाव महसूस करती नज़र आती है। जीवन की रिक्तताओं और कड़वे अनुभवों में वह कठोर हो गई है। असहाय पिता, विद्रोही भाई-बहन इन सभी समस्याओं को उपन्यासों में लेखनीबद्ध किया है।

शहरी समाज में पारिवारिक इकाईयां टूटती हैं। संयुक्त परिवार एकल परिवार में बदलते हैं। फिर छोटे परिवार भी व्यक्तियों में बंट जाते हैं- अपने छोटे-छोटे आत्मकेन्द्रित रूप में। यहीं से आरम्भ होती है अलगाव और अकेलेपन की पीड़ा। 'वे दिन' के रायना और 'अंधेरे बंद कमरे'

का हरबंस इस अकेलेपन की पीड़ा से बचने के लिए मदिरापान का सहारा लेते हैं। कई उपन्यासों में नारी को अतीत के संसार में डूबे हुए दिखलाया है। वे दिन की रायना के अकेलेपन के पीछे सामाजिक और आर्थिक कारण रहे। अभावों से पीड़ित और निराशा के कारण क्षुब्ध होकर व्यक्ति अकेलेपन का शिकार हो जाता है जिससे उसका अन्तर्मन घुटने लगता है। वर्तमान परिवेश में व्यक्ति एक स्वतंत्र इकाई बनकर रह गया है। उसके जीवन में आस्था की कमी, अविश्वास गहराने लगा है। इसी अकेलेपन की पीड़ा से आहत व्यक्तियों का चित्रण मोहन राकेश के उपन्यासों में भी देखने को मिलता है। यह टूटन सभी मानवीय सम्बन्धों में दिखलाई देती है चाहे वो पिता-पुत्र हो, माँ-बेटी हो या फिर पति-पत्नी। अकेलेपन में मनुष्य स्वयं को असुरक्षित पाता है। उससे उबरने की कोशिश में वह कुछ भी कर डालता है और फिर अलगाव के गर्त में धंसता जाता है। इस अलगाव की अभिव्यक्ति 'अंधेरे बंद कमरे' में भी है। इसमें पात्रों के मानसिक अकेलेपन, जीवन की वास्तविकताओं, व्यक्ति की विवशताओं के कारण पात्रों का अकेलापन और स्वयं को भीड़ में भी अजनबी महसूस करना, आत्मनिर्वासन की पराकाष्ठा को बतलाया गया है। एक-दूसरे से विपरीत मानसिकता वाले हरबंस और नीलिमा अपने-अपने निर्णय को सही साबित करने के प्रयत्न में एक-दूसरे से दूर होते जाते हैं। यही नहीं बल्कि वह एक-दूसरे के साथ दुश्मनों जैसा व्यवहार करने लगते हैं। हरबंस के कथन से इस बात की अभिव्यक्ति होती है। वह अपना दुख मधुसूदन से कहता है "मैं, जब घर से निकला तो यह महसूस कर रहा था कि मेरा कोई घरबार नहीं है, कोई सम्बन्धी नहीं और मैं बिल्कुल अकेला हूँ। मुझे लगता है मेरे साथ अंदर ही अंदर कोई दुर्घटना हो रही है।"<sup>22</sup> अपने अकेलेपन को दूर करने के लिए वह लंदन जाना चाहता है, अब बिल्कुल अकेला रहना चाहता है और अपनी जिन्दगी बिल्कुल नए सिरे से आरम्भ करना चाहता है। उसके अंदर वर्षों से एक अकेलापन घर कर रहा है जो उसके अंदर-ही-अंदर खा रहा है। उसके अंदर का यह खालीपन उसे आत्मनिर्वासित स्थिति में ला चुका है। निरन्तर अकेले रहने की स्थिति ही सम्बन्धहीनता को जन्म दे देती है और व्यक्ति भीड़ में भी स्वयं को अजनबी महसूस करने लगता है।

"लालटीन की छत की काया पहाड़ी शहर के एकान्त अवसाद भरे एवं ठिठुरते वातावरण में रहती थी जहाँ कुछ नही का संसार फैला था और वहाँ कुछ भी हो सकता था इसलिये उसकी उम्मीद उतनी ही असीम थी, जितना उसका आतंक।"<sup>23</sup> यहाँ रहते हुए काया को अपनी एकान्तता इतनी सताने लगती है कि उसके लिये मकान वीरान-सा बन जाता है। उसे लगता है कि मकान के बीचों-बीच एक रेगिस्तान सा फैला हुआ है। इसलिये वह खानाबदोश लड़की की तरह पहाड़ों पर चक्कर लगाती रहती थी। "रात को काया की नींद काफूर हो जाती है। दिन-भर का अकेलापन, गुस्सा, तृष्णा, हताशा, आपस में गुंथकर एक धुन्ध का गोला-सा बन जाते हैं, जो न इतना कोमल होता है कि आँसूओं में पिघलकर बाहर आ सके, ना इतना सख्त होता कि वह उसकी पकड़ में आकर किसी सूझ, किसी समझदारी की सांत्वना में बदल

सके – वह धुन्ध उसके बिस्तर पर फैली चाँदनी-सी फैल जाती।<sup>24</sup> काया अपने अकेलेपन से छुटकारा पाने के लिए सर्दी की शामों में अपनी बुआ की बेटी लामा के साथ काली-मन्दिर में और रेल की लाइन पर आया करती थी। लामा को एक लड़का मिल गया और शादी के बाद वह मेरठ चली गई थी। लामा के जाने के बाद काया के मन में अजनबीपन की भावना रह-रहकर पनपने लगी है। “वह दिन-भर बाहर रहती थी। लामा के जाने के बाद सारा घर भाँच-भाँच-सा करता था। माँ अब कमरे से बिलकुल बाहर नहीं आती थी, वह अब इतनी बड़ी हो गयी थी कि उन्हें देखकर आँखे मुड़ जाती थीं, लगता था, वह कोई दूसरी औरत हैं, जिनका चेहरा सिर्फ माँ से मिलता है, बाकी सब-कुछ पराया है, जैसे वह किसी अजनबी घर में रह रही है। कभी-कभी शाम के धुंधलके में मकान भी अजनबी लगता था।<sup>25</sup> उन दिनों काया ने पहली बार अपने अकेलापन को देखा था – साफ-साफ अँधेरे में उसे आभास होता है जैसे – “अकेलापन कोई बीमारी है, जो भीतर पनपती है, और बाहर से जिसे कोई नहीं देख सकता – “न छोटे, न माँ, न मिस जोसुआ...।”<sup>26</sup>

उन दिनों में छोटा भी बहुत अकेला रहता था – काया की दुनिया से अलग। काया के चारों ओर शून्यता एवं वीरानगी फैल जाती है, उसके लिए कहीं सुरक्षा नहीं थी। कोई उसकी पीड़ा को समझने का प्रयास नहीं करता था। वह हर क्षण महसूस करती है कि “उसके चारों ओर एक सूनापन-सा घिर आता था – जैसे वह कोई बाहर की लड़की है, इस घर में शरणार्थी की तरह रहती है।”<sup>27</sup> काया के मन में हर क्षण किसी-न-किसी दुर्घटना होने की आशंका रहती थी। इस असुरक्षा की स्थिति में उसके मन में अलगाव एवं आत्म-निर्वासन की भावना इस प्रकार उभरती है – “कुछ देर तक लगता रहा जैसे वह अलग है, उसकी देह अलग उसके पैर अलग और तीनों के बीच सिर्फ हवा है, जो फर्श की तख्तियों के बीच से छनकर ऊपर आती है।”<sup>28</sup> काया के मन में परायेपन की भावना अधिक मजबूत होने लगी। अपनी विषाद स्मृतियाँ के अँधेरे में से वह मुक्त होना चाहती थी। “मन्दिर की फीकी, दुपहरी रोशनी में उसे सचमुच यह भ्रम होने लगा कि वह दूसरी काया है। सबकी आँख बचाकर रेंगती हुई अपनी पुरानी देह से बाहर निकल आयी है। आधीरात अपने घर के छज्जे पर अकेली लेटी है – नंगी और निश्चल, बाहर, जहाँ खुद वह अपने से अलग है, खुद अपनी देह का बुलावा दूसरी देह से सुनती है, उन वनैले जानवरों की तरह, जो सोचते नहीं, किन्तु आसपास के सन्नाटे, झाड़ियों की सरसराहट या खुद अपने भीतर की करवट नए सिर से सूँघने लगते हैं। अचानक भाँप जाते हैं कि यह सन्नाटा, यह सरसराहट, यह करवट एक दूसरी दुनिया की है, जहाँ काया का मोह और मोह का असीम आतंक है... और काया इसके आगे नहीं जा सकती थी।”<sup>29</sup>

वास्तव में काया उम्र के जिस पड़ाव पर थी वहाँ उसे सबका साथ चाहिये था किन्तु व्यस्तता के कारण परिवार के सभी सदस्य अपने जीवन में ही उलझे रह गये। ऊपर से पहाड़ी



एकान्तता ने उसे ओर अकेला कर दिया। वह स्वयं से भी नहीं जुड़ पायी क्योंकि ये अकेलापन और संत्रास उसके भीतर तक गहरा गया है, जिससे वह भयभीत है।

## 9. व्यर्थता—बोध का अकेलापन

वर्तमान में हर व्यक्ति भीतर से रिक्तता, शून्यता और शक्तिहीनता का अनुभव करता है और इसी कारण जीवन में अलगाव की स्थिति उत्पन्न होती है। जब व्यक्ति आत्मकेन्द्रित होकर स्वयं में सीमित हो जाता है तो वह बाहर और भीतर दोनों ही तरफ से स्वयं को निर्वासित और टूटा हुआ महसूस करता है। उपन्यासकार मोहन राकेश के जीवन का काफी समय महानगरों में व्यतीत हुआ इसी कारण उन्होंने अपनी रचनाओं में महानगरीय जीवन को स्थान दिया। उनके उपन्यासों में महानगरीय जीवन की भयावहता और त्रासदी को व्यक्त किया गया है। 'अंधेरे बंद कमरे' उनका चर्चित उपन्यास है जिसमें उन्होंने दिल्ली के परिवेशका चित्रण कर तनाव, टूटन और अकेलेपन को व्यक्त किया है। मोहन राकेश के उपन्यासों में मानव की द्वन्दात्मक स्थितियों का चित्रण किया गया है। आधुनिक जीवन की यंत्रणाओं से गुजरते हुए व्यक्ति, दाम्पत्य जीवन से ऊबे हुए दम्पति आदि को उन्होंने अपने उपन्यासों में स्थान दिया है। जो आधुनिकता बोध के साथ जी रहे हैं किन्तु उनमें भीतर ही भीतर द्वन्द घुमड़ रहा है जो तनाव, अकेलेपन, अलगाव और अजनबीपन को बढ़ा रहा है। 'अंधेरे बंद कमरे' में आधुनिक मानव के अलगाव और अकेलेपन का स्वर मुखरित हुआ है। इस उपन्यास का हर पात्र अकेलेपन व अजनबीपन की पीड़ा से व्यथित है। हरबंस नीलिमा, मधुसूदन, सुषमा ठकुराइन, शुक्ला आदि एक दूसरे में जुड़े रहने पर भी अकेले हैं। मधुसूदन अपनी जिन्दगी से टूटा हुआ है। उपन्यास का हर पात्र एक दूसरे के द्वारा दी गई त्रासदियों को झेलते-हुए हताश हो गया है, वह अकेला है। इसलिये एक अस्त-व्यस्त यांत्रिक जीवन जीने के लिये वह विवश होता है। परिचितों के बीच भी उसे अपरिचय एवं अजनबीपन महसूस होता है। कॉफी हाऊस में हरबंस के परिवार सदस्यों के बीच बैठते समय उसे अजनबीपन का एहसास होता है। "वह बिल्कुल फालतु आदमी की तरह उनके बीच आ बैठा है।"<sup>30</sup> जीवन की जटिलता ऊब, विवशता, अजनबीपन, बेबसी एवं बेगानापन को उपन्यासकार ने मधुसूदन के द्वारा उभारा है।

बर्टन पब्लिक स्कूल के परिवेश के साथ मनोज का व्यक्तिगत जीवन सम्बद्ध है। नौकरी से त्यागपत्र देने का निर्णय उस परिवेश को लेकर पैदा हुई वितृष्णा और अलगाव-बोध का परिणाम है। वह शोभा से विवाह करता है। शोभा नयी शुरुआत की कोशिश भी करती है किन्तु स्वयं को बदले बिना। परिणामतः असफल होती है। इस प्रकार पति-पत्नी का जीवन तनावपूर्ण है उसमें औपचारिकता बढ़ती जाती है ये ही औपचारिकता दोनों को एक दूसरे के प्रति अजनबी बनाते बनाते एक दूसरे के लिये व्यर्थ हो जाने का भाव उत्पन्न कर देती है।

मनोज अपनी नौकरी से त्यागपत्र दे देता है। उसके त्यागपत्र से स्कूल में कई तरह की प्रतिक्रियाएं होती हैं। मनोज की ड्यूटी का अंतिम दिन होता है उसी दिन उसे शोभा का पत्र मिलता है जो शोभा के जीवन में छाया हुई व्यथा, घुटन अकेलेपन को अभिव्यक्त करता है। “सोचती रहती हूँ कि अपनी जिन्दगी का क्या कर लिया है.... पर अब जीने के लिये मेरे पास कुछ नहीं है न साधन, न सम्बन्ध, न मान। तुम्हारे साथ अपने को जोड़कर मैंने हर चीज को अपने से वंचित कर लिया है। कभी मैं अपने को दोष देती हूँ कि शायद मैं इस लायक ही नहीं रही कि किसी और से कुछ पा सकूँ या उसे कुछ दे सकूँ। इसके बाद कहने को इतना ही रह जाता है कि एक ऐसे आदमी के साथ मैंने अपनी जिन्दगी को उलझ जाने दिया है जिसके पास मुझे दे सकने के लिये कुछ नहीं था। अकेलेपन की जिन्दगी ही तुम्हारे लिये एकमात्र जिन्दगी हो सकती है।”<sup>31</sup>

ऐसी ही व्यथा से मनोज भी पीड़ित है। “उसकी समस्या इतनी ही थी कि वह छुटकारा पाना चाहता था, परन्तु किससे, नौकरी से, पत्नी से, या किसी ओर चीज से? जिसे की वह स्वयं भी नहीं जानता था।”<sup>32</sup> मनोज का जीवन वैसा ही निरर्थक नीरस और अकेलेपन से युक्त है। वह सब से मुक्त होना चाहता है। यह मुक्ति और सब कुछ छोड़ देने की इच्छा ही मानव नियति को अनिश्चितता से जोड़ देती है जो उसे व्यर्थता बोध के खड्डे में धकेल देती है। ‘वे दिन’ की रायना भी इसी व्यर्थता बोध को प्रकट करती है जो उसके जीवन में समा गया है— युद्ध के कारण उसकी संवेदनाएँ मर चुकी हैं। जब रायना और उसका पति जाक कान्सपनट्रेशन कैम्प में रह रहे थे एक ही घर में। रायना याद करती है “उसके बाहर जाक.... वह जीवित नहीं था.... मैं भी नहीं। हम सिर्फ उसमें रहकर जी सकते थे... लेकिन मैं नहीं रह सकी। एक दिन मैं बाहर आ गई... यह जानते हुए भी कि बाहर मैं किसी काबिल नहीं रह गई हूँ... ‘नोट इवन फॉर लव’। पीस किल्ड इट...।” रायना के मुख से व्यक्त ये भयानक सत्य उस व्यर्थ हो जाने के भाव को स्पष्ट करता है जो रायना अनुभव करती है।<sup>33</sup>

इनके उपन्यास ‘अंधेरे बंद कमरे’ में इसी अकेलेपन का चित्रण पत्रों के माध्यम से किया गया है “एक तरफ देखता हूँ, तो हम लोगों के सहजीवन की यंत्रणा और प्रताड़ना नज़र आती है और दूसरी तरफ यह निगलता हुआ सूनापन है—भीड़ से लदी हुई दुनिया के बीच अपना अकेलापन। मेरा दिमाग बिल्कुल खाली हो गया है और स्नायु बिल्कुल जड़ हो रहे हैं। यहां आकर मैं पहले से भी अधिक अस्थिर हो उठा हूँ।.....”<sup>34</sup> यह पंक्तियाँ हरबंस के भीतर चल रहे द्वन्द और अकेलेपन की पीड़ा को व्यक्त करती हैं। पारिवारिक जीवन से मुक्ति पाने के लिए हरबंस लंदन जाता है। आधुनिक माहौल में रहने के बाद भी उसे जिस घुटन और अकेलेपन का अहसास होता है वही उपन्यास में व्यक्त किया गया है। डॉ. मीना पिंपलापुरे के अनुसार “इन लम्बे पत्रों से गुज़रने पर हरबंस का आधुनिक यंग के शहरी व्यक्ति का अकेलापन, खालीपन, अजनबीपन स्पष्ट झलकता है।”<sup>35</sup> इस आधुनिकता में हरबंस और नीलिमा ऊब चुके थे

लेकिन साथ रहने की मजबूरी थी। हरबंस और नीलिमा दोनों एक दूसरे को अपने अनुसार बदलना चाहते थे और यही कारण था कि वह साथ-साथ रहते हुए भी आत्मनिर्वासित स्थिति को झेल रहे थे। उपन्यास में हरबंस, नीलिमा, मधुसूदन, सुषमा ठकुराइन, शुक्ला आदि सभी एक-दूसरे से जुड़े रहने पर भी पराएपन की भावना से दुखी हैं। “हरबंस उपन्यास का एक ऐसा अभिशप्त, व्यथाकुल, विवश, अधूरा और सहअस्तित्व की पीड़ा से ग्रस्त पात्र है जो अपनी छटपटाहट और कुंठाओं के कारण अर्थहीन और शून्य जिन्दगी का भार ढोता फिरता है। उसकी सारी समस्या अधूरेपन और अलगाव की है।”<sup>36</sup> हरबंस अपनी पत्नी पर पूरा अधिकार चाहता है जबकि उसकी पत्नी बंधनों में बंधना नहीं चाहती। वह एक-दूसरे के भिन्न दृष्टिकोणों के कारण एक नहीं हो पाते।

अतः स्पष्ट है कि शहर की आधुनिकता ने सभ्यता और मानव जीवन को पूरी तरह बदल दिया है। मनुष्य का उद्देश्य सिर्फ धनप्राप्ति ही रह गया है। महानगरीय परिवेश में रहने वाले पति-पत्नी यांत्रिक बन चुके हैं। नगरीय जीवन की व्यस्तता भी पति-पत्नी के सम्बन्धों में वैधता और अवैधता का भेद मिटा देती है। नगर जीवन के प्रेम रहित और स्वार्थी व्यवहार ने मनुष्य के जीवन में अनेक विसंगतियों को जन्म दिया है। समकालीन उपन्यासों में महानगरीय जीवन में व्याप्त विषमता और स्त्री-पुरुष सम्बन्ध की कटुता को प्रस्तुत किया गया है। वहां के जीवन की गतिविधियों और कृत्रिम परिस्थितियों को लेखनीबद्ध किया गया है। उपन्यास में चित्रित है कि किस प्रकार व्यक्ति एकसाथ रहते हुए भी अलग रह रहे हैं, प्रत्येक व्यक्ति अपने अंदर एक रिक्तता महसूस कर रहा है जिसका कोई किनारा या लक्ष्य नहीं है। परिचितों और मित्रों के होते हुए भी वह अजनबी बनकर रहता है।

## सन्दर्भ ग्रन्थ

---

- 1 सिंघी डॉ. नरेन्द्र कुमार : समाजशास्त्र का विवेचन, पृ. 389
- 2 राकेश मोहन : न आने वाला कल, पृ. 191
- 3 राकेश मोहन : न आने वाला कल, पृ. 199
- 4 आनन्द डॉ. खेलचन्द : हिन्दी के श्रेष्ठ उपन्यासकार डा. शान्तिस्वरूप गुप्त के लेख से उद्धृत, पृ. 212-213
- 5 आनन्द डॉ. खेलचन्द : हिन्दी के श्रेष्ठ उपन्यासकार डा. शान्तिस्वरूप गुप्त के लेख से उद्धृत पृ. 205
- 6 राकेश मोहन : अंधेरे बन्द कमरे, पृ. 5
- 7 राकेश मोहन – अंधेरे बंद कमरे, पृ. 97-98
- 8 राकेश मोहन – अंधेरे बंद कमरे, पृ. 149
- 9 राकेश मोहन : अन्धेरे बंद कमरे पृ. 156
- 10 पिंपलापुरे डॉ. मीना : मोहन राकेश का नारी संसार, पृ. 106-107
- 11 राकेश मोहन : अन्धेरे बंद कमरे, पृ. 215
- 12 राकेश मोहन : अन्धेरे बंद कमरे, पृ. 285
- 13 यादव राजेन्द्र : उखड़े हुए लोग, पृ. 374
- 14 बोहरा आशारानी : भारतीय नारी : अस्मिता और अधिकार, पृ. 116
- 15 बोहरा आशारानी : भारतीय नारी : अस्मिता और अधिकार, पृ. 117
- 16 बक्षी रमेश : चलता हुआ लावा, पृ. 50
- 17 राकेश मोहन : न आने वाला कल, पृ. 147
- 18 यादव राजेन्द्र : उखड़े हुए लोग, पृ. 208-209
- 19 बक्षी रमेश : चलता हुआ लावा, पृ. 68
- 20 राकेश मोहन : अन्धेरे बन्द कमरे, पृ. 128
- 21 सिंह डॉ. बच्चन : आधुनिक हिन्दी उपन्यास उद्भव एवं विकास, पृ. 262
- 22 राकेश मोहन : अन्धेरे बन्द कमरे, पृ. 97-98
- 23 वर्मा निर्मल : लालटीन की छत, पृ. 12
- 24 वर्मा निर्मल : लाल टीन की छत, पृ. 35
- 25 वर्मा निर्मल : लाल टीन की छत, पृ. 51
- 26 वर्मा निर्मल : लाल टीन की छत, पृ. 52
- 27 वर्मा निर्मल : लाल टीन की छत, पृ. 60
- 28 वर्मा निर्मल : लाल टीन की छत, पृ. 82
- 29 वर्मा निर्मल : लाल टीन की छत, पृ. 92
- 30 राकेश मोहन : अन्धेरे बंद कमरे, पृ. 37
- 31 राकेश मोहन : न आने वाला कल, पृ. 126
- 32 राय डॉ. विद्याशंकर : आधुनिक हिन्दी उपन्यास और अजनबीपन, पृ. 142
- 33 वर्मा निर्मल : वे दिन, पृ. 21
- 34 राकेश मोहन : अन्धेरे बन्द कमरे, पृ. 146
- 35 पिंपलापुरे डॉ. मीना : मोहन राकेश का नारी संसार, पृ. 106-107
- 36 अग्रवाल डॉ. सुषमा : मोहन राकेश व्यक्तित्व एवं कृतित्व, पृ. 306

पंचम  
अध्याय

## पंचम अध्याय

### समकालीन उपन्यासों का अभिव्यंजना शिल्प

---

समकालीन जीवन के यथार्थ को कथा साहित्य में एक त्रिकोण की भाँति प्रस्तुत किया गया है। कथा साहित्य में यह त्रिकोण कथानक, पात्र और भाषा की भुजाओं के मिलने से बना है। समकालीन हिन्दी उपन्यासों के बीच जो कृतियाँ अत्यधिक चर्चित रही हैं, उनका कथानक गठन, पात्र व चरित्र संरचना और भाषा अनेक अन्तर्वर्ती सम्बन्धों में ऐसे गुँथे हुए हैं कि कहीं कथानक भाषा बन जाता है, भाषा चरित्र और चरित्र कथानक की तलस्पर्शी व्याख्या। उपन्यासों में समकालीन जीवन के जो सन्दर्भ उठाए गए हैं, वे भी कथानक, पात्र और भाषा के साथ इन्हीं समीकरणों में घूमते रहते हैं। उपन्यासों में उभरे इस त्रिकोण ने समकालीन हिन्दी कथा के परे परिदृश्य को रचना भूमियों से जोड़ा है और लेखकों ने इन्हीं के सहारे बार-बार लेखन के लिये नई जमीन खोजी है, क्योंकि उनका उद्देश्य समकालीन जीवन की परत-दर-परत व्याख्या करना और समाज के सच को सामने लाना था। यदि अनुभूति/भाव कथानक का प्राण है तो शिल्प को गात्र कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी। साहित्य में शिल्प वह है, जिसके भीतर किसी कथा को सुव्यवस्थित ढंग से संवार लिया जाता है।

साहित्यकार साहित्य सृजन की प्रक्रिया में मानवीय जीवन के बिखरे सूत्रों को विशिष्ट प्रकार से संजोता है। साहित्य असीम है अतः उसे सुविधाजनक बनाने के लिए अनेक विधाओं में वर्गीकृत किया गया है उन्हीं में से एक है उपन्यास। उपन्यास एक ऐसी स्वच्छन्द विधा है जिसमें लेखक अपने विचारों को नया आयाम देता है। जीवन का जितना जीवन्त और गहन चित्रण इस विधा में सम्भव है उतना किसी अन्य में नहीं है। मनुष्य के जीवन की झांकी और चरित्र के विभिन्न पक्षों को विभिन्न परिस्थितियों में कथावस्तु के अनुसार उभारना लेखक की सिद्धहस्तता पर निर्भर है। उपन्यास वैज्ञानिक दृष्टिकोण का परिणाम है। जिसमें लेखक अपने मत को कथानक के माध्यम से पाठक तक पहुंचाता है। लेखक यथार्थवादी दृष्टिकोण लेकर कथासूत्र का चुनाव करता है।

#### 1. कथावस्तु

कथावस्तु कहानी का ऐसा अनिवार्य तत्व होता है जिस पर सम्पूर्ण कहानी का ढांचा आधारित होता है। वस्तुतः कथावस्तु कहानी का वह भाग होता है जिसमें मूल कथा भाग या इतिवृत्त के साथ सम्बद्ध वे समस्त घटनाएं आती हैं जिनसे मिलकर कथात्मक साहित्य विशेष की विषयवस्तु बनती है। निर्मल वर्मा अपनी कहानियों की वस्तु कहीं से भी प्राप्त कर लेते हैं वे कहते हैं “यूरोप के पार्को में, रेस्तराओं में, आपको अकेलापन भोगते कई लोग मिल जाएंगे।

निर्मल वर्मा की अधिकांश कहानियों की कथावस्तु दाम्पत्य जीवन के तनाव, विवाहेत्तर सम्बन्धों, नई और पुरानी पीढ़ी के संघर्ष की त्रासदी, प्रेम की असफलता, बेरोजगारी से जूझते युवक, अकेलेपन और आत्मनिर्वासन को अपने जीवन का अंग बना चुके लोगों या फिर स्मृति में जीते लोगों पर आधृत है। इन विसंगतियों को उद्घाटित करने के लिए निर्मल वर्मा ने मध्यवर्गीय एवं निम्नमध्यवर्गीय वर्ग की विशिष्ट स्थितियों को चुना। उनकी कहानियों का परिवेश विश्व के महानगर हैं जहां जीवन की भयावहता, रिशतों का कटाव, भावनाओं की शून्यता आदि के माहौल में मानवीय रिशतों का बदलाव दिखलाया गया है। कहीं आत्मनिर्वासन है तो कुछ कहानियों में स्व से समूह की ओर आने छटपटाहट है। निर्मल की अधिकांश कथावस्तु व्यक्ति के अकेलेपन पर आधृत हैं। यह अकेलापन कभी प्रेम में उभरकर सामने आता है तो कभी दाम्पत्य में। उपन्यास 'वे दिन' की कथाभूमि चैकोस्लोवाकिया है। वैसे तो यह लेखक के लिए विदेशी भूमि है किन्तु लेखक वहां रहा है इसलिए उसके साथ उसका अनुभवात्मक सम्बन्ध जुड़ा हुआ है और वहां की स्थितियां, चरित्र, दृश्य सभी प्रामाणिक रूप में आए हैं। यह उपन्यास द्वितीय समरोत्तर यूरोप के जीवन में उत्पन्न होने वाले अकेलेपन, निरर्थकता और विसंगति की पहचान कराता है। इसके लिए लेखक ने रायना जैसी पति परित्यक्ता नारी को केन्द्र में रखा है। कथाप्रवक्ता और रायना के साहचर्य से लेखक एक ऐसी कथा बुनता है जो अवसाद और अजनबीपन की परतें खोलती चली जाती है। पहले के सारे मूल्यों और मान्यताओं की टूटन और निरर्थकता को पात्रों की मानसिकता में अन्तर्भूत करके चित्रित करता है, ऊपर से आरोपित नहीं करता। निर्मल की बात कहने की अपनी कलात्मक शैली है। वे मुखर हुए बिना ही धीरे-धीरे संकेतों से बहुत कुछ कह देते हैं किन्तु शराब और संभोग के प्रसंग निर्मल जैसे लेखकों के लिए रूढ़ि बन गए हैं। निरर्थक जिन्दगी की सार्थकता की खोज इन्हीं दो प्रसंगों में हो सकती हो या न हो सकती हो किन्तु 'वे दिन' में जरूर हैं।

इतिहास निर्मल वर्मा के कथा-शिल्प में उसी तरह मौजूद रहता है जैसे हमारे जीवन में—लगातार मौजूद लेकिन अदृश्य। उससे हमारे दुःख और सुख तय होते हैं वैसे ही जैसे उनके कथा-पात्रों के। कहानी का विस्तार उसमें बस यह करता है कि इतिहास के उन मूक और भीड़ में अनचीन्हे 'विषयों' को एक आलोक-वृत्त से घेरकर नुमायाँ कर देता है, ताकि वे दिखने लगे, ताकि उनकी पीड़ा की सूचना एक जवाबी संदेश की तरह इतिहास और उसकी नियंता शक्तियों तक पहुँच सके। इस प्रक्रिया में अगर उनकी कथा कुछ ऐसे व्यक्तियों को रच देती है कि जिनकी वैयक्तिकता की आभा हमारे लिए ईर्ष्या का कारण हो उठे, तो यह उनका व्यक्तिवाद नहीं है, व्यक्ति के स्तर पर एक वैकल्पिक मनुष्य का खाका तैयार करने की कोशिश है। इस उपन्यास के पात्र, निर्मलजी के अन्य कथा-चरित्रों की ही तरह सबसे पहले व्यक्ति है, लेकिन मनुष्य के तौर पर वे कहीं भी कम नहीं हैं बल्कि बढ़कर हैं, किसी भी मानवीय समाज के लिए उनकी मौजूदगी अपेक्षित मानी जायगी उनकी पीड़ा और उस पीड़ा को पहचानने, अंगीकार

करने की उनकी इच्छा और क्षमता उन्हें हमारे मौजूद असहिष्णु समाज के लिए मूल्यवान बनाती है। वह चाहे रायना हो, इंदी हो, फ्रांज हो या मारिया, उनमें से कोई भी अपने दुख का हिसाब हर किसी से नहीं माँगता फिरता। चेकोस्लोवाकिया की बर्फ-भरी सड़कों पर अपने लगभग अपरिभाषित-से-प्रेम के साथ घूमते हुए ये पात्र जब पन्नों पर उद्घाटित होते हैं तो हमें एक टीसती हुई-सी सांत्वना प्राप्त होती है, कि मनुष्य होने का जोखिम लेने के दिन अभी लद नहीं गए।

अज्ञेय का उपन्यास 'शेखर : एक जीवनी' एक जीवनी होकर उपन्यास है एक उपन्यास होकर एक जीवनी भी है। यह आत्मचरित है। यह सब कुछ चार खण्डों में अखण्डित लंबी कविता के रूप में है जो वस्तुतः बारह खण्डों में संभावित थी और उस सम्भावना तक नहीं पहुंच पाने के कारण या नहीं पहुंचाई जाने के कारण खण्डित है। इसके साथ ही अपने समय के कुछ बहुचर्चित वैचारिक द्वन्दों जैसे हिंसा और अहिंसा, व्यक्ति और समाज, स्त्री और पुरुष, पश्चिमी और भारतीय वगैरह के दस्तावेज के रूप में उसके अलावा जो है सो है। इन सबमें से किसी एक के रूप में किसी को यह असफल कृति लगती है और किसी को यह सफल कृति लगती है। इस उपन्यास ने सर्व विधागत चरित्र को स्पष्ट किया है। यह स्त्रीविमर्श विशेषतः कथाकृतियों पर आधारित स्त्रीविमर्श के मामले में विशेष है। जो भी स्त्रियां उपन्यास में हैं वे लेखक की ज्ञात स्त्रियां नहीं हैं, ज्ञातव्य स्त्रियां हैं। वे कैसी हैं, यह नहीं हैं, वे कैसी लगती है, यह हैं। यह एक ऐसे व्यक्ति का जीवनीमूलक उपन्यास है जो कि बेहद ईमानदार है। बालसुलभ जिज्ञासा जो भी उसके मन में आती है वह उसका समाधान चाहता है। जब उसका समाधान नहीं हो पाता तो वह कुंठित हो जाता है और यही कुंठा की भावना उसे विद्रोही बना देती है। वह समझौतावादी नहीं है बल्कि क्रान्तिकारी और विद्रोही नायक है। उपन्यास के शीर्ष से स्पष्ट है कि शेखर कथानायक है जिसके चरित्र का विश्लेषण करना उपन्यासकार का लक्ष्य है। शेखर निरन्तर अग्रसर है। वह अहंवादी है लेकिन वह यातनाओं को भोगता है। इस दर्द और यातना के सन्दर्भ और आलोक में ही शेखर की सघन दृष्टि का निर्माण होता है। इसके निर्माण के आधार में वेदना का प्रयोग किया गया है।

अज्ञेय के उपन्यास 'अपने-अपने अजनबी' का कथानक तीन खण्डों में विभक्त है। इसमें स्त्री पात्रों की अन्तर्द्वन्दात्मक स्थिति का चित्रण किया गया है। सेल्मा वृद्ध और कैंसर से पीड़ित है इसलिए वह चिड़चिड़ी और कंजूस प्रकृति की है। दूसरे खण्ड में सेल्मा के पूर्व जीवन का चित्रण है और अंतिम खण्ड में योके के जीवन के अंत का मार्मिक वर्णन है। यह उपन्यास मृत्यु के साक्षात्कार में जीवन दर्शन चित्रित करता है। इसका कथानक चरित्रप्रधान, बहुल विचारवादी और घटनाओं तक सीमित है। कथा के पहले और दूसरे खण्ड को जोड़ने वाली कोई कड़ी नहीं है। इसमें भिन्न जीवन दृष्टियों के मध्य संघर्ष दिखलाया गया है।



नरेश जी का बहुचर्चित उपन्यास है 'यह पथबंधु था'। इस उपन्यास में लेखक ने साधारण व्यक्ति को व्यक्तित्व देने का प्रयास किया है। लेखक के अनुसार इस उपन्यास के प्रमुख पात्र श्रीधर ठाकुर, सरो आदि साधारण मानवता के अज्ञात, अनाम यवांकुर हैं। यह अज्ञात व्यक्ति नहीं होते इसलिए अनजाने में ही समाज का प्रतिनिधित्व करते हैं जबकि बड़े से बड़ा युगपुरुष भी निराव्यक्ति होता है। वह साधारण नहीं, महापुरुष होता है। इस उपन्यास के संदर्भ में डॉ. नेमीचन्द्र जैन का कथन है कि " इस उपन्यास में एक युग के सामाजिक और राजनीतिक जीवन के मूल्यों और मान्यताओं की पृष्ठभूमि में वैयक्तिक जीवन का संवेदनशीलता और आत्मीयतापूर्ण चित्र है जो भाव संकुल और तीखा भी है और संयत भी। बीसवीं शती के पूर्वार्द्ध के भारतीय जनजीवन में व्याप्त सामाजिक चेतना के सन्दर्भ में एक मध्ययुगीन युवक के संघर्षरत जीवन की विफलताओं को इस उपन्यास में वाणी दी गई है और लेखक ने उन मूल्यों और मान्यताओं पर आधारित जीवन का मार्मिक चित्रण किया है"। इस उपन्यास का नायक श्रीधर ठाकुर आदर्श को लेकर जीवन में संघर्ष करता है। उपन्यास की कहानी श्रीधर के संघर्ष की कहानी है। प्रो. गोपाल राय का कहना है कि "यह पथ बंधु था" दरिन्दगी से भरी व्यवस्था से टूटी हुई तलवार लेकर लड़ने वाले एक ईमानदार, आदर्शवादी, भावुक और स्वाभिमानी युवक की पराजय, थकान और टूटन की कहानी है। इसमें परिवार की कहानी के सन्दर्भ में आदर्श और यथार्थ को नहीं बल्कि भारतीय परिवार व्यवस्था की प्राचीनता और स्थिति को एक नितांत नए सन्दर्भ में रख दिया गया है। यह एक महाकाव्यात्मक उपन्यास है। इसमें जीवन की विशालता के विविध पहलुओं को प्रस्तुत किया गया है। इनके उपन्यास में जीवन के विराट चित्रफलक और वैविध्यपूर्ण पहलुओं को प्रस्तुत करने के साथ-साथ लेखक मानव मन की परतों और बौद्धिक गहराइयों में भी उतरा है। भारतीयता की गरिमा एवं विशेषता को ही ध्यान में रखकर लेखक ने इस उपन्यास को रचा है। यथार्थ की बाह्यता और देशकाल की वास्तविकता इस भारतीय यथार्थ को गहराई प्रदान करती है। श्रीधर को उसका सारा पुरुषार्थ और उसकी कामना हार के बाद भी हताशा पैदा करके निष्क्रिय नहीं बनाती बल्कि मानवता का इतिहास लिखने की प्रेरणा देती है। "यह पथबंधु था" उपन्यास का पथ अनुभव का है इसलिए वही बंधु है। अनुभव ही बंधु हो सकता है सुख और दुख दोनों का।

रमेश बख्शी के "चलता हुआ लावा" में घटनाएं बहुत कम हैं जो थोड़ी बहुत हैं वे भी उपन्यास में पूर्वदीप्ति या पूर्वावलोकन पद्धति के द्वारा ही आई हैं। समूचा उपन्यास तर्क और यांत्रिक पद्धति के खिलाफ एक दूसरा प्रयोग है। इस उपन्यास में कथातत्व की स्थूलता का निराकरण करने की चेष्टा दिखलाई देती है। उपन्यास में कथावक्ता जो अपनी अतीतकालीन घटनाओं को स्मृति में उभारता है। स्वयंमेव अपनी रस्सियां खोल बंधनमुक्त हो अर्थी से उठ चल पड़ता है। ऐसा लगता है मानो मुक्ति ही उसका लक्ष्य था। इस प्रकार उपन्यास के अंत में इस फैंटेसी कथा का प्रतीकार्थ हमारे समक्ष विद्युतधारा की भांति कौंध उठता है कि व्यक्ति इस

समाज और संसार में अनेक बाह्य दबावों से आक्रान्त है और उन्हीं से मुक्त होने के लिए आमरण छटपटाते हैं। चिंतन के क्रम में अज्ञेय अपने अपने अजनबी में एक आस्था का नन्हा बिरवा रोपते हैं उसे अपने परिस्थितिजन्य तर्कों से गोंड़ सींच कर बड़ा भी बनाते हैं। “अपने अपने अजनबी” में लेखक की आस्था का रूप निखरता और थिरता दिखाई देता है। ...ईश्वर का प्रमाण उसकी रचना की विराटता है, जो आगे के मानवीय सृजनात्मक संचरण को संभव बनाती है। लेखक की आस्था के इस नवीन आयाम के पीछे उसकी यूरोप यात्रा विशेषतः पिएर-क्वि-वीर मठ में निवास और जापान की जैन पद्धति का भी सूक्ष्म प्रभाव देखा जा सकता है। अपने अपने अजनबी में ईसाई आस्था और सहिष्णुता का अस्तित्व रूप वर्णन के स्तर पर तो है ही, सृजन के स्तर पर भी झलकता जान पड़ता है – एक प्रेरक शक्ति के रूप में लेखक की निजी आस्था को और गहरा करता हुआ। इस प्रकार मृत्यु के सामीप्य के द्वारा जीवन को और बेहतर ढंग से समझने का उपक्रम है अपने अपने अजनबी और इसमें भारतीय जीवनदृष्टि के (हिंदू, बौद्ध) के साथ क्रिश्चयनिटी के धार्मिक हविष्यों की सुगंध गलकर मृत्यु-गंध को उदात्त बनाया गया है।<sup>1</sup> अपने विचार मंथन में इस विकट ऊहापोह में रचनाकार ने कुछ अद्भुत विचार पुष्प खिलाए हैं जिनमें से कुछ को हम उद्धृत करते हैं – “क्यों उसे तकलीफ होती देखकर मुझे संतोष होता है? लेकिन तकलीफ तो शायद उसे बराबर रहती है – क्योंकि उसे तकलीफ से टूटते हुए देखकर मुझे तसल्ली होती है? कितना कमीना है यह संतोष, जो दूसरों को हारते और टूटते हुए देख कर संतुष्ट होता है – क्या यह एक अत्यन्त विकृत ढंग की जिजीविषा नहीं है?”<sup>2</sup> यहाँ पर भी अज्ञेय की सारी छटपटाहट दूसरों के लिए स्वयं के समर्पण की भारतीय दृष्टि में प्रतिफलित है। “बर्फ के नीचे दब कर मर जाना भी मर जाना है, लेकिन वह दबकर मरना तो है। उसमें कार्य कारण की संगति तो है, लेकिन यह बिना दबे, बिना बर्फ को छुए भी मर जाना – मानो हमारे जीवन के अनुभव का अपमान करना है और हम मरने पर भी अनुभव का खंडन सहने को तैयार नहीं हैं।”<sup>3</sup> यह उद्धरण भी अहं को मारने की भारतीय अवधारणा को ही स्थापित करने वाला ही है।

“समय नापने के कई तरीके हैं। एक घड़ी का है, जो शायद सबसे घटिया तरीका है, क्योंकि उसका अनुभव से कम से कम सम्बन्ध है। दूसरा तरीका दिन और रात का है, सूर्योदय और सूर्यास्त का, प्रकाश और अँधेरे का और इन से बँधी हुई अपनी भूख प्यास, निद्रास्फूर्ति का है। यह यंत्र के समय को नहीं, अनुभव के समय को नापने का तरीका, इसलिए कुछ अधिक सच्चा और यथार्थ है। फिर एक तरीका है, घरघराते पानी में बहते हुए भँवरों को गिन कर और उनके ताल पर बहती हुई साँसों को गिन कर समय को नापने का तरीका। यह और भी गहरे अनुभव का तरीका है, क्योंकि यह समय के अनुभव को जीवन के अनुभव के निकटतर लाता है।”<sup>4</sup> यहाँ पर अज्ञेय का रचनाकार अनुभव की प्रामाणिकता के प्रति अपनी अडिग आस्था ही प्रकट करता है। यह भी उसकी व्यक्तिगत नहीं, भारतीय पारम्परिक उपलब्धि है लेकिन दृश्य

उसकी आँखों के आगे थोड़े ही था, जो परदा खींचने से हट जाता। “वह जिधर मुड़ा उधर भी वही दृश्य था, क्योंकि वह उस की आँखों के सामने नहीं, आँखों के भीतर था।”<sup>5</sup> भारत में एक प्रचलित दार्शनिक अवधारणा है कि बुद्धि के गुण का आरोप वह वस्तु पर कर लेते हैं। (बुद्धिगुणं वस्तुनि कल्पमंति) इसे ही उस काव्यात्मकता के साथ उपस्थित करते हैं। “काले, गोरे, और भूरे चेहरे, काले, लाल, पीले, भूरे, गेहुँ, सुनहले और धुले बाल, रंग पुते और रूखे खुङ्गे चेहरे। चुन्टदार, इस्तरी किए हुए और सलवट पड़े हुए कपड़े, चमकीले और कीचड़ सने चरमराते या फटफटाते या घिसराते हुए जूते। और चेहरों में, आँखों में, कपड़ों में, सिर से पैर तक हर अंग की क्रिया में निर्मम जीवेषणा का भाव मानो वह दुकान सौदे सुलुफ या रसद की दुकान नहीं है बल्कि मानो जीवन की ही दुकान है।”<sup>6</sup> इस उद्धरण में जीवन का दुकान के रूप में अवमूल्यन करके केवल इस जीवन को अपमानित किया गया है, जो केवल जीवन संसाधनों की खोज में रिरियाता रहता है। अज्ञेय की वह शैली विशुद्ध भारतीय है और यह जीवन दृष्टि भी विशुद्ध भारतीय है किंतु है यह अमुखर, प्रच्छन्न और ठंड से जकड़ देने वाले हिमनद जैसी है।

उषा प्रियंवदा की गणना हिन्दी के उन कथाकारों में होती है जिन्होंने आधुनिक जीवन की ऊब, छटपटाहट, संत्रास और अकेलेपन की स्थिति को अनुभूति के स्तर पर पहचाना और व्यक्त किया है। यही कारण है कि उनकी रचनाओं में एक ओर आधुनिकता का प्रबल स्वर मिलता है तो दूसरी ओर उसमें विचित्र प्रसंगों तथा संवेदनाओं के साथ हर वर्ग का पाठक तादात्म्य का अनुभव करता है यहाँ तक कि पुराने संस्कारवाले पाठकों को भी किसी तरह के अटपटेपन का एहसास नहीं होता। “पचपन खंभे लाल दीवारें” उषा प्रियंवदा का पहला उपन्यास है, जिसमें एक भारतीय नारी की सामाजिक-आर्थिक विवशताओं से जन्मी मानसिक यंत्रणा का बड़ा ही मार्मिक चित्रण हुआ है। छात्रावास के पचपन खंभे और लाल दीवारें उन परिस्थितियों के प्रतीक हैं जिनमें रहकर सुषमा को ऊब तथा घुटन का तीखा एहसास होता है, लेकिन फिर भी वह उससे मुक्त नहीं हो पाती, शायद होना नहीं चाहती, उन परिस्थितियों के बीच जीना ही उसकी नियति है। लेखिका ने इस स्थिति को बड़े ही कलात्मक ढंग से प्रस्तुत उपन्यास में चित्रित किया है “सुषमा को लगा कि नील आकर सिरहाने खड़ा हो गया है, फिर उसने झुककर, धीरे-से उसके बाल छुए हैं। सुषमा चौंककर उठ बैठी, चारों ओर घुप्प अँधेरा था। उसने काँपते हुए कंठ से पुकारा “नील !”<sup>7</sup> बरामदे में सोई हुई भौरी ख़ाँसी, सुषमा ने पाया कि वह अपनी चारपाई पर उठकर बैठी हुई है और नील कहीं नहीं है। सब ओर सन्नाटा है, भयावह, अकेला सन्नाटा। वह अकुलाकर खड़ी हुई और उसने खिड़की पूरी खोल दी। बाहर से प्रकाश की एक फाँक आकर उसके पैरों पर लोटने लगी और सुषमा छड़ो का ठंडा स्पर्श अनुभव करती हुई, अनझिप आँखों से बाहर ताकने लगी। आधुनिक जीवन की यह एक बड़ी विडंबना है कि जो हम नहीं चाहते वही करने को विवश हैं।

## 2. चरित्र चित्रण

चारित्रिक उपन्यासों का जन्म व्यक्ति और परिस्थितियों के संघर्ष के कारण आरम्भ हुआ। प्रेमचंद के बाद साहित्य में दर्शन, मनोविज्ञान और साम्यवादी धारा का समावेश हो जाने के कारण चरित्र चित्रण की परिस्थितियां उत्पन्न होने लगी और उनमें व्यापकता का समावेश हुआ। प्राचीन परम्पराओं को त्याग कर युवा वर्ग ने नई विचारधाराओं को जन्म दिया। इन परिस्थितियों ने उपन्यासों में नितनवीन चरित्रों को जन्म दिया। इस युग के उपन्यासकारों यथा जैनेन्द्र, अज्ञेय, अशक आदि ने सामाजिक यथार्थ को केन्द्र बिन्दु बनाकर पात्रों की रचना की। नवीन चेतना से प्रेरित होकर इन नवीन पात्रों का चरित्र चित्रण किया गया। समकालीन उपन्यासों में विभिन्न पात्र उभरकर सामने आए जो वर्ग और वर्ग संघर्ष, परिवार और व्यक्ति के रूप में चित्रित हुए। उपन्यासकारों ने चारित्रिक विशेषताओं पर ध्यान केन्द्रित कर व्यक्ति चरित्र का निर्माण किया। समकालीन उपन्यासों में उपन्यासकार स्वयं की खोज में तल्लीन हो गए इससे चरित्र चित्रण जटिलतर होता गया। इन उपन्यासों के पात्रों का चरित्र मनोवैज्ञानिक होता गया। यह पात्र अपने मन के प्रेम और घृणा को व्यक्त नहीं कर पाते लेकिन उनकी पीड़ा का अनुभव करते हैं। चरित्र वे कारक हैं जिनके द्वारा कथा की घटनाएं घटती हैं अथवा जो उन घटनाओं से प्रभावित होते हैं।

अज्ञेय कृत शेखर: एक जीवनी मूलतः एक रूमानी कृति है। छायावादी चेतना का पूरा विस्तार शेखर के जीवन में देखा जा सकता है—वह जिज्ञासु है और जिज्ञासा ही उसके आरम्भिक जीवन की पारिवारिक स्थितियों में उसे परिवार से अलग बनाए रखती है मगर यह जिज्ञासा व्यक्ति—केंद्रित है, वस्तु—केंद्रित नहीं, ठीक वैसी है जैसी कि छायावादियों की जिज्ञासा है। सारी कृति देखने के बाद अगर कोई एक सत्य उभरकर आता है, या उभारकर रखा गया प्रतीत होता है तो वह है—शेखर का जीवन। शेखर का पूरा जीवन नहीं, उसका आन्तरिक जीवन, या उसकी रूमानी संवेदना जिसमें सभी पात्र धीरे—धीरे ढल जाते हैं और उस संवेदना कोरूप भी दे जाते हैं। वह छायावादियों के समान ही जगह—जगह दर्द की महिमा बखानने लगता है—“दुःख संसर्गजन्य है, वह उदात्त और शोधक भी है। दुख का संसर्ग परिवर्ती को भी शुद्ध और उदात्त बनाता है। कुछ ऐसा ही ज्ञान वहाँ रहते हुए शेखर के भीतर से प्रस्फुटित हो रहा था, तभी उसने निश्चय किया कि वह वहाँ से न जाकर वहीं दुख के आंचल में विश्राम करेगा...।”<sup>8</sup> शेखर की आस्था का विषय समाज नहीं है, युग नहीं है, वरन उसके भीतर का सत्य है। मगर अपने भीतर का सत्य तो विशाल और विराट भी हो सकता है क्योंकि उसमें बहुत कुछ समा सकता है, वह बहुत कुछ से बनाया जा सकता है, मगर यहाँ ऐसा नहीं है। भीतर का सत्य है दर्द और यह दर्द भी समाज का नहीं है, व्यक्ति का है, निजी और एकाकी है। वही छायावादी चेतना का विस्तार! जानी—पहचानी रूमानी चेतना जो दर्द, सौन्दर्य, प्रणय

और वासना के नामों से अलग-अलग जगह याद की गई है। पात्रों की स्थिति को, घटनाओं की संरचना को देखें तो शेखर की चेतना का यह मूल स्वर और भी स्पष्ट हो जाता है। “यहाँ कोई पात्र अपने लिए नहीं जीता, किसी का अपना व्यक्तित्व नहीं है, सभी शेखर के लिए आते हैं, शेखर के लिए छिप जाते हैं या मर जाते हैं। लगता है शेखर किसी समाज में नहीं रहता, उसके आसपास क्या हो रहा है, कैसा हो रहा है, वह नहीं जानता, वह जानना नहीं चाहता।”<sup>9</sup> माता से वह घृणा करता है, पिता के प्रति आकर्षित है मगर मुख्य बात यह है कि उपन्यास में आनेवाली माँ पात्रों के अलावा वह सभी नारी-पात्रों के प्रति आकर्षित होता है, उन्हें अपनी ओर आकर्षित करना चाहता है—चाहे वह उसकी बहन हो या नौकरानी, असाध्य रोग से पीड़ित है या किसी दूसरे की पत्नी। और वह अपनी इस उच्छृंखलता को फिलास्फाइज करता है एक ऐसे गम्भीर कोण पर कि कृति की रचनात्मकता संदिग्ध हो उठती है।

“दम्भ शेखर की प्रधान चारित्रिक विशेषता है। वह जो है, उसे स्वीकार नहीं करना चाहता। वह अपनी असलियत सभी से छिपाना चाहता है। प्रेम करता है, करना चाहता है, मगर यह व्यवस्था करता है कि प्रेमिका खुद उसके पास आ जाए। अहिंसावादी है मगर जीवन में हिंसा उसे प्रभावित नहीं करती। यहाँ हिंसा का प्रयोग एक व्यापक अर्थ में है। एक ओर तो शशि, जो विवाहिता नारी है पति के साथ रहती है, जो उसके पास आकर रात भर रह जाती है तो उसे एक बार भी यह चिंता नहीं होती कि उसके घरवाले क्या सोचते होंगे और जब शशि को उसका पति तथा सास-ससुर निकाल देते हैं तो वह उसके पति के पास सफाई देने जाता है। दुनिया भर के दर्शन की बातें बघारनेवाला व्यक्ति इतना नहीं जानता कि ऐसा होने पर पति पत्नी को ग्रहण नहीं कर सकता। शेखर को शशि के पति और उसके सास-ससुर के सामने पश्चाताप नहीं होता वरन वह यह आभास देता है जैसे कि कुछ हुआ ही नहीं। इतना ही नहीं इस पूरी घटना में उपन्यासकार पूरी कोशिश करता है कि पाठक की सहानुभूति शशि के पति और ससुरालवालों के साथ न हो, शशि और शेखर के साथ हो। रचनात्मकता की दृष्टि से यह अंश अत्यन्त दुर्बल है क्योंकि उपन्यासकार शेखर एवं शशि से तादात्म्य का अनुभव करता हुआ पाठक की सहज प्रत्याशा की प्रतिक्रिया की उपेक्षा कर एक गलत प्रभाव पैदा करने की कोशिश करता है।”<sup>10</sup>

शेखर की माँ उसकी दुखती रग पर हाथ रख देती है, उसके दम्भ को पहचान लेती है, इसीलिए शेखर उससे घृणा करता है और यह बात छिपाता नहीं, बार-बार कहता है क्योंकि उसकी चोटी उसकी माँ ही पकड़ती है और इसीलिए वह जिन्दगी भर उससे समझौता नहीं कर सका, उसके मरने की खबर पाकर भी उदासीन-सा बना रहता है। यह बातें विश्वसनीय लग सकती थीं अगर शेखर एक अस्तित्ववादी नायक होता, सार्त्र के दर्शन का अनुसरण करता। मगर ऐसा नहीं है, वह जीवन में एक व्यापक अर्थ की तलाश करने को व्याकुल नजर आता है मगर सक्रिय नहीं। यही उसके दम्भ का मूल है। वह क्रांतिकारी बनना चाहता है, बन भी जाता

है मगर क्रांति में आस्था होने के कारण नहीं वरन मजबूरी में। वह पकड़ा जाता है मगर निर्दोष है, वह अहिंसावादी है। इसलिए विद्रोह की क्रांति उसे दर्शन के रूप में ग्राह्य नहीं है। इसलिए वह अपने आपको विद्रोह के प्रति समर्पित भी नहीं कर पाता। शशि के साथ रहता है और क्रांतिकारियों का साथ देता है, इसलिए कि ऐसा करने पर उसकी रोटी-रोजी की समस्या हल हो जाती है। इतना ही नहीं, वह शशि के साथ रहते हुए भी ईमानदार नहीं है, वह उसे बहुत देर तक बहन समझता है या बहन समझने का नाटक करता है। क्योंकि उसमें साहस नहीं है। वह जो चाहता है वह करने की हिम्मत नहीं है। “यदि वह स्पष्ट रूप से कहे कि वह संसार के किसी मूल्य को, किसी परम्परा को, किसी बंधन को स्वीकार नहीं करता, यदि वह एक स्वतंत्रता निरपेक्ष व्यक्ति के रूप में जीवित रहने की पद्धति अपनाता तो कृति में यह दुर्बलता नहीं रहती। लेखक किसी निर्णय पर नहीं पहुँचा। जो वह लिखता है, घटनाओं, विचारों आदि का ताना-बाना बुनता है, उसमें सर्वत्र यही अनिश्चय दिखाई देता है। यह अनिश्चय तर्क की सीमा के कारण नहीं है, रोमांटिक प्रवृत्ति के कारण है, खुलकर रोमांटिक प्रवृत्ति को स्वीकार करने की दिक्कत न होने के कारण है। उसकी मूल चेतना रोमांटिक है मगर वह यह छिपाना नहीं चाहता, इस सत्य को दिखाना चाहता है मगर वह इस सत्य को छिपा नहीं पाता।”<sup>11</sup>

अज्ञेय ने ‘शेखर : एक जीवनी’ की शशि के चरित्र में निष्काम समर्पण और प्रेम के प्रति तन्मयता को प्रदर्शित किया है। “शशि के मन में बचपन से अपने मौसेरे भाई शेखर के प्रति अनुराग होता है। शेखर एक विलक्षण प्रतिभा वाला व्यक्तित्व है। एक दिन जब शेखर क्रुद्ध होकर शशि के सिर पर लोटा मार देता है तो भी शशि उसे बचाने के लिए झूठ का सहारा लेती है। शशि के सामने विवाह का प्रश्न आने पर भी वह शेखर का ही स्मरण करती है। शशि की भावना इतनी उदात्त हो जाती है कि वह सब कुछ भूलकर शेखर को बनाने का प्रयास करती है। अपने सुख-दुख की भी उपेक्षा कर निरन्तर शेखर के भविष्य के प्रति चिंताशील रहती है।”<sup>12</sup>

आधुनिक हिन्दी साहित्य में ही नहीं भारतीय साहित्य में भी अपनी अमिट छाप छोड़ने वाले रचनाकारों में अन्यतम हैं अज्ञेय। प्रचलित कथात्मकता-प्रधान परम्परा के विपरीत छोटी छोटी घटनाओं परिस्थितियों और वैयक्तिक संघटनाओं के बीच एक अवकाश निकालकर बृहदाकार वैचारिकता को ला खड़ी करना अज्ञेय की कोई बड़ी उपलब्धि नहीं है। उपलब्धि तो है इस बृहदाकार वैचारिकता की छाया से पाठक को दुष्प्रभावित न होने देना। “शेखर एक जीवनी’, ‘नदी के द्वीप’, और ‘अपने अपने अजनबी’ जैसे उपन्यासों के सृजन में अज्ञेय ने अपने ही ढंग से वैचारिकता की इस प्रवृत्ति को स्थापित करने के साथ उसे आगे बढ़ाने का कार्य किया है। वह चाह कर भी अपने विचार रस से सिक्त लगभग घटना निरपेक्ष किंतु पारिस्थितिक बुद्धि प्रवाह से अपने को अलग नहीं कर पाते। वहाँ वेदना में पुनः पुनः जन्मता है लेखक। अपने अपने अजनबी इसी प्रकार का एक उपन्यास है।”<sup>13</sup>

निर्मल वर्मा की कहानियों में चरित्रों की दुनिया आन्तरिक, एकान्त, स्थिर और गतिहीन है। इस कारण उनके चरित्र ठहरे हुए से लगते हैं। उनकी कहानियों में यथार्थ के नए दृष्टिकोण को अपनाया गया है। इनके चरित्र चाहे वे स्त्री हो या पुरुष अपने भीतर एक निर्वासित जीवन जीते हैं। स्वाधीनता के बाद के उपन्यासों का सर्वेक्षण करने से ज्ञात होता है कि आलोच्यकालीन उपन्यासों के पात्र अन्तर्मुखी व्यक्ति हैं। इनके नायक अव्यावहारिक और भावुक किस्म के व्यक्ति हैं। निर्मल की संवेदनशील लेखनी ने जिन मानवीय अहसासों को सबसे ज्यादा उकेरा, उनमें प्रेम की जगह केंद्रीय है। यह कहा जा सकता है कि वह प्रेम के अद्भुत चितरे हैं। लेकिन उनके पात्रों में प्रेम लिजलिजी भावुकता से पैदा नहीं होता, जैसा कि 'गुनाहों का देवता' की सुधा का प्रेम था, बल्कि वह एक ऐसा प्रेम है जो अभाव की गरिमा समझता है और उसमें दुख को बिना गाए जीने का सयानापन भी है। निर्मल की क्लासिक कहानी 'परिदे' की लतिका और ह्यूबर्ट इसकी बानगी हैं और कुछ बरस बाद लिखा गया उनका पहला उपन्यास 'वे दिन' (1964) इसी सिलसिले की कड़ी है। 'वे दिन' के पात्र भारतीय निगाह में आधे देसी और आधे यूरोपियन हैं, क्योंकि उसका परिवेश चेकोस्लोवाकिया है और प्रमुख पात्र जर्मन महिला। जिस भारतीय दुभाषिण की तरफ से यह कहानी कही गई है, वह उसकी जिंदगी के तीन दिनों तक उस जर्मन महिला के संग-साथ है जो आखिर में एक इंटेंस रिलेशनशिप में तब्दील हो जाता है। छोटे-छोटे ब्योरों में निर्मल जिस नाजुकी के साथ दो लोगों के बीच एक सम्बन्धके पनपने और अंततः उसके खत्म होने की दास्तान कहते हैं, वह लिखे जाने के 55 बरस बाद भी पाठकों के जहन में ताजा है।

यह उपन्यास प्रेम के आख्यान के अलावा दूसरे विश्व युद्ध के बाद तत्कालीन यूरोप की स्थिति और लोगों की मानसिकता से भी हमारा बहुत गहरा परिचय कराता है। —“यह विचार ही बहुत रुआंसा लगता है कि कोई खाली-खाली-सा होकर तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा हो। यह असम्भव-सा लगता है कि जिस घड़ी तुम सो रहे हो, उस घड़ी कोई तुम्हारी बाट जोह रहा हो। तुम्हें अचानक पहली बार अपनी अनिवार्यता का पता चलता है और उस कातर से डर का जिसमें पहली बार तुम्हारे मां-बाप साझा नहीं करते, तुम्हारे मित्र भी नहीं!— तुम अलग रहते हो और प्रतीक्षा करते हो। किसी खास चीज की नहीं, क्योंकि तुम किसी भी चीज को पूरी तरह खो नहीं सकते। वह फिर शुरू हो सकती है, जैसे शुरू में हुई थी। ...कुछ ऐसा है जो हमसे बाहर है, लेकिन इतना बाहर नहीं कि हमें अकेला छोड़ सके।”<sup>14</sup> इन मायनों में यह उपन्यास हिन्दी उपन्यासों की उस परम्परा में है जिसे साहित्य के जरिए लोगों में आधुनिक बोध लाने का श्रेय जाता है। निर्मल के गद्य की यह खूबी है कि उसमें कविता जैसा प्रभाव बहुत सहजता से आता रहा है, जिससे पढ़नेवाले बंधे रहते हैं। —“तुम बहुत से दरवाजों को खटखटाते हो, खोलते हो और उनके परे कुछ नहीं होता...फिर अकस्मात् कोई तुम्हारा हाथ खींच लेता है, उस दरवाजे के भीतर जिसे तुमने खटखटाया नहीं था। वह तुम्हें पकड़ लेता है और तुम उसे छोड़ नहीं सकते।

— जब वह क्षण आता है, जिसे हम अन्तिम कहते हैं, तब वह अन्तिम बिलकुल नहीं लगता। लगता है, जैसे कोई पुरानी पहचानी—सी घड़ी वापस लौट आई है। एक जिए हुए क्षण की बासी छाया—सी, जिसे हम न छोड़ सकते हैं, न दुबारा पकड़ सकते हैं। लेकिन इस कवि—दृष्टि का फायदा उनके उपन्यासकार को सबसे ज्यादा मिला है क्योंकि उपन्यास जैसी खुली विधा में कौन—सा विवरण लिखना है, से ज्यादा जरूरी यह फैसला होता है कि, किसे छोड़ देना है। निर्मल इस मामले में बेहद सजग हैं और अपने इस पहले उपन्यास से ही इसका पता भी देते हैं।<sup>15</sup> इस उपन्यास के पात्र निर्मलजी के अन्य कथा चरित्रों की ही तरह सबसे पहले व्यक्ति हैं लेकिन मनुष्य के तौर पर वे कहीं भी कम नहीं हैं बल्कि बढ़कर हैं। किसी भी मानवीय समाज के लिए उनकी मौजूदगी अपेक्षित मानी जाएगी। उनकी पीड़ा और उस पीड़ा को पहचानने, अंगीकार करने की उनकी इच्छा और क्षमता उन्हें हमारे मौजूद असहिष्णु समाज के लिए मूल्यवान बनाती है।

निर्मल वर्मा कृत 'लालटीन की छत' एक किशोरी के युवती बनने की कहानी है। किशोरी और युवती बनने के बीच का जो समय है, वह एक ओर अकेलेपन, भोलेपन, आतंकमय और भ्रम से भरा हुआ है, दूसरी ओर उसमें आगत यौवन का आकर्षण भी है। काया इस आकर्षण को छूना भी चाहती है और इससे पूर्व की प्रक्रिया के भय से आतंकित भी है। यही द्वन्द उसके चरित्र को महत्ता प्रदान करता है। काया उपन्यास का केन्द्रीय पात्र है। उसका चरित्र पूरे उपन्यास पर छाया हुआ है। काया के पात्र में अकेलेपन की अनुभूति है जिसे लेखक ने अन्य पात्रों के अकेलेपन से मिलाकर पूरे उपन्यास में घने और गहरे अकेलेपन का वातावरण बना दिया है। यह अकेलापन उपन्यास के चरित्रों पर ही नहीं पाठक के मन पर भी प्रभाव छोड़ता है।

इस अजनबीपन एवं अलगाव की पीड़ा से बचने के लिए काया बुआ के साथ चाचा के घर जाती है। चाचा के घर जाकर भी वह इस अकेलेपन की बैचेनी से मुक्ति नहीं पा सकी। चाचा के घर में भी अजनबी मकानों के बन्द कमरे उसे हमेशा आतंकित कर देते थे। चाचा के बेटे बीरू से बात करते समय वहाँ उसे ज़रा तसल्ली मिलती थी। फिर भी "बीरू के तटस्थ, शान्त, निर्विकार चेहरे को देखकर उसे लगता है कि वह बहुत दूर है। काया की दुनिया से बाहर"<sup>16</sup> चाचा बरसों पहले आर्मी से रिटायर्ड हो चुके थे। अपनी पत्नी की मृत्यु के बाद वह बीरू के साथ रहते थे। लेकिन वे दोनों भी अकेलेपन से संत्रस्त होकर रहते थे। इसलिए उस घर पर एक अजीब सन्नाटा छा जाता था। काया को यह घर मानों पराया घर लगता था। "पहली बार उसे छोटे का न होना एक पाप—सा जान पड़ा शायद पहले—पहल "पाप" का सामना भी अपने अकेलेपन में होता है"। पहाड़ के निर्जन प्रदेश में जब वह नथवाली औरत से मिलती है, तब उसे अकेलापन की पीड़ा से क्षण भर के लिए मुक्ति मिलती। पहले वह घर जाने के दिन गिनती थी — अब वह छूट गया। फिर भी हर क्षण कुछ—न—कुछ दुर्घटना होने की



आशंका से वह मुक्त नहीं थी। “एक नहीं थी, और यह ख्याल आते ही वह अपने पर भयभीत सी हो जाती। उसे लगता, उसे कुछ हो रहा है, जो उसे खुद नहीं मालूम – जैसे कोई पीछे से आकर आँखे भींच लेता है – और देर तक पता नहीं चलता कौन है, किसके हाथ है – हालांकि उम्मीद और आशंका में दिल धड़कने लगता है।”<sup>17</sup>

काया अक्सर लम्बी शामें उसके कमरे में गुज़ार देती – उन्हें मदद देने के लिए नहीं बल्कि खुद अपनी सुरक्षा ढूँढने के लिए, क्योंकि उनके कमरे में वह सबसे बचकर रह सकती थी।<sup>18</sup> मिस जोसुआ धीरे-धीरे सबसे अलग हो रही थी। उसके आसपास मृत्यु की छाया मँडराती रहती थी। काया ने एक दिन देखा कि पलंग पर लेटी मिस जोसुआ – अब मरी हुई मिस जोसुआ है। काया घर से छुटकारा पाना चाहती थी। वह बाहर निकल जाती और परायेपन की विचित्र मनःस्थिति में सोचने लगी – “सब चले गए थे – लामा अपनी राह पर, मिस जोसुआ ने अपना हल ढूँढ निकाला था। मैं किससे चिपटी बैठी हूँ किसकी राह देख रही हूँ... मैं हमेशा छुटकारा पाने के लिए तड़पती थी, भय से, दूसरे के आतंक से ...लेकिन फरवरी की उस दोपहर को सुरंग पर बैठे हुए मैंने सोचा था – असल में मैं अपने पर बोझ हूँ, मुझे जब तक उससे, उस “अपने” से छुटकारा नहीं मिलेगा, मैं अपने को एक लोथ की तरह घसीटती रहूँगी ...।”<sup>19</sup> काया रेल की लाइन पर खड़ी रही थी। उस क्षण उसके भीतर कुछ नहीं था – न कोई पछतावा, न उनकी पीड़ा। वह ईश्वर के पास पहुँचकर उसके परे निकल गयी थी। स्वयं से मुक्त होने की चरम अवस्था पर निकल पड़ी।

‘अंधेरे बंद कमरे’ का हरबंस और मधुसूदन अन्तर्मुखी हैं। अन्तर्मुखी व्यक्ति स्वयं में सीमित रहता है वह दूसरों से मिलना जुलना पसंद नहीं करता। यही अन्तर्मुखी स्वभाव अन्तर्द्वन्द का कारण बन जाता है और व्यक्ति दो विरोधी परिस्थितियों के बीच टूटता रहता है। ऐसे मनुष्य किसी भी निष्कर्ष पर नहीं पहुंच पाते हैं और विवशता और आत्मनिर्वासन की स्थिति में पहुंच जाते हैं। ‘अंधेरे बंद कमरे’ का हरबंस भी एक अव्यवहारिक व्यक्ति ही दिखलाया गया है। वह स्वयं की उलझनों में इस तरह उलझ जाता है कि उसके पास कोई रास्ता नहीं रहता। यह उसके चरित्र द्वैध विकल्प हैं। वह एक अस्थिर पात्र है। अपनी असफलताओं और अस्थिरता के कारण वह भीतर ही भीतर बहुत खीज, घबराहट और टूटा हुआ महसूस करता है। इसी उपन्यास का अन्य पात्र मधुसूदन भी अन्तर्मुखी, भावुक और कुंठित व्यक्ति के रूप में दिखलाया गया है। वह अपनी अन्तर्मुखता एवं हीनता के कारण अकेलेपन और बेगानेपन को महसूस करता है। कॉफी हाउस में परिवार के सदस्यों के बीच बैठने पर भी उसे सस्तेपन का आभास होता है। उसे लगता है कि वह बिल्कुल फालतू आदमी की तरह उनके बीच आ बैठा है। वह हरबंस और नीलिमा के साथ भी आत्मीयता का अनुभव नहीं कर पाता जिससे स्पष्ट होता है कि वह भीतर से एकाकी और कुंठाग्रस्त महसूस करता है। उपन्यास की गति प्रखर होती है और इसके पात्र मनुष्य जैसे होते हुए भी विलक्षण होते हैं। “साधारण बोलचाल में किसी को देखकर हम कह

उठते हैं कि क्या कैरेक्टर है। उस समय हमारे मन में रहता है कि यह आदमी जीवन कला का अनुकरण कर रहा है। इसमें कथा जैसी कोई विलक्षणता है तभी यह औरों से अलग दिख रहा है। उपन्यासकार किन्हीं विशिष्ट परिस्थितियों में रहकर पात्र के रूप में देखता और दिखाता है। पात्र में एक ऐसी तराश होती है जो उसके द्रष्टव्य पक्ष को कुछ तीखेपन के साथ उभारती है। उसमें पारदर्शिता होती है। वह अपनी सहज कल्पना से उसके मन की गहराई में उतर जाता है। यहां मनुष्य (पात्र) अच्छा है या बुरा है यह बताने की अपेक्षा इस बात पर ध्यान दिया जाता है कि वह वास्तव में है क्या। फिर उसके मन में जो कुछ है वह क्यों है, किसलिए है? उपन्यासकार मनुष्य पर कोई निर्णय देने की अपेक्षा उसकी रचना और विकास प्रक्रिया के अध्ययन में अधिक रूचि लेता है।<sup>20</sup>

हरबंस उपन्यास का नायक और प्रमुख पात्र है। इतिहास का अध्यापक होने के साथ-साथ साहित्यिक चर्चाओं में अधिक रूचि रखता है। वह स्वयं को अभिशप्त समझता है। एक तरफ तो पत्नी निलिमा को आगे बढ़ाना चाहता है दूसरी तरफ खीझ, विक्षोभ, तनाव जैसी भावनाओं से भर उठता है। यह दोहरी मानसिकता ही उसके जीवन को अभिशप्त बना देती है। हरबंस का व्यक्तित्व सामान्यतः कायरता, कमजोरी, अनिश्चय और दबूपन से मिलकर बना है। निलिमा का अधिकाधिक सामाजिक होना, उसमें हीनग्रन्थि उत्पन्न करता है। वह बाहर से जितना प्रगतिशील होने का दिखावा करता है भीतर से उतना ही पिछड़ा हुआ है। और इसीलिये वह निलिमा पर शासन करना चाहता है। सर्वस्व अधिकृत की भावना उसमें भरपूर है। वह चाहता है निलिमा कठपुतली की भांति उसके इशारों पर नाचें, जब वह चाहे निलिमा कला गोष्ठियों में सम्मिलित हो, नृत्य और पेंटिंग में प्रवृत्त हो और जब वह नहीं चाहे तो निलिमा उसी क्षण सब छोड़ दे। यह स्थिति सही नहीं है। वस्तुतः हरबंस अधूरा और अतृप्त व्यक्ति है वह अपने अधूरेपन को निलिमा का सबकुछ पाकर भरना चाहता है। वह सबकुछ पाना चाहता है पर देना कुछ नहीं चाहता। उसमें पुरुषोचित अहं चरम सीमा पर है। इसी कारण वह निरन्तर टूटता बिखरता हुआ कहीं का भी नहीं रहता। वास्तव में हरबंस एक ओर सहजीवन की यन्त्रणा से अभिशप्त है दूसरी ओर उसके जीवन में व्याप्त शून्यता उसे खाये जा रही है। इसलिये वह अपनी पत्नी के साथ होते हुए भी अकेला है। अस्तित्ववादी सहअस्तित्व को नरक तुल्य मानते हैं। और इसी तरह के नरक को हरबंस और निलिमा भोग रहे हैं। हरबंस के जीवन की विडम्बना यह है कि वह जो भी बनना चाहता है नहीं बन पाता। उसकी महत्वकांक्षाएँ तो बड़ी हैं किन्तु उसकी पूर्ति के लिये अपनाए गए साधन अधूरे हैं। फलतः वह स्वयं एक अधूरा चरित्र बनकर रह जाता है। जिसमें सिर्फ घुटन, ऊब, अकेलापन और अजनबीपन है।

निलिमा उपन्यास की दूसरी प्रमुख पात्र है यह उपन्यास की नायिका है। निलिमा का व्यक्तित्व आधुनिक सभ्यता के रंग में रंगा हुआ है। उसके संस्कारों में विदेशीपन है। एक तरफ तो वह शौकीन फेशनबल नारी है तो दूसरी तरफ उसकी पति के प्रति निर्भरता भी स्पष्ट

झलकती है। वह हरबंस के साथ रहना भी चाहती है और नहीं भी। एक और वह अपने ढंग से जीवन जीना चाहती है दूसरी और हरबंस के पदचिन्हों के साथ-साथ चलना भी चाहती है। वास्तव में निलिमा वह मध्यमवर्गीय नारी है जो कभी इस किनारे खड़ी नजर आती है कभी उस किनारे। विडम्बना यह है कि दोनों किनारों के बीच कोई भी ऐसा सेतु नहीं है जो इस ओर से उस ओर जाने में सहायता करे। नीलीमा महत्वकांक्षी नारी है। नृत्य की शौकिन है। नृत्य शो के आयोजन की असफलता के लिये वह हरबंस को उत्तरदायी मानती है। उसी के कहने पर पेंटिंग शुरू करती है। नीलिमा के अन्तस में संस्कार और पुराने विचार भरे पड़े हैं। जिसके कारण उसे अन्तर्विरोध का सामना करना पड़ता है।

उपन्यास 'चलता हुआ लावा' एक नायक प्रधान उपन्यास है जिसमें कथावक्ता ही नायक है। इस प्रकार से उसका निजी चरित्र भी स्पष्ट हो गया है। वह एक भयावह अनुभव के बीच गुजरते हुए अपने अतीत के प्रति बेहद आत्मीय है। वह एक ऐसा विरोधाभास है जो अनुभव की विलक्षणता को मंद कर देता है। नायक मस्तिष्क की विक्षिप्तावस्था में पाकर मृत घोषित किया जाता है लेकिन फिर भी वह मस्तिष्क से ही अपने अतीत के बारे में सोचता है। उपन्यास में स्थान-स्थान पर लोगों के वार्तालाप द्वारा उसके चरित्र का प्रकाशन किया गया है। अपने जीवन में व्यथित रहने का ज्ञान किसी कथन से होता है "जीते जी तो उठकर खड़ा नहीं हो सका, मर कर क्या खड़ा होगा।" इसी प्रकार उसे अर्थी पर लेटे मुस्कराते देख किसी अन्य व्यक्ति के यह वाक्य भी उसके चरित्र को स्पष्ट करते हैं "यह साला जिन्दगीभर यही करता रहा कौन जाने ऊपर दिखती इस हवेली के नीचे तलघर भी है ऊपर से मुस्करा रहे हैं और अन्दर लावा सुलग रहा है। अगर मुस्कान तोड़कर अन्दर की आग जरा भी बाहर आती तो यह उस पर लतीफा फँक देता.....इसकी सारी शक्ति उस तलघर का मुंह बंद करने में लगी रही।"<sup>21</sup> नायक के अतिरिक्त उपन्यास में उसके माता-पिता के चरित्रों पर भी प्रकाश प्रक्षेपण हुआ है लेकिन फिर भी उनका चरित्र नगण्य नहीं है। वह स्वयं अपने माता-पिता को एक घाघ किस्म का षड्यंत्री कहता है। उपन्यास में पात्रों का चरित्र-चित्रण परम्परागत शैली का न होते हुए भी मनोविश्लेषणात्मक उपन्यासों के चरित्र चित्रण के सर्वथा अनुकूल है।

'पचपन खंभे लाल दीवारें' उषा प्रियंवदा का पहला उपन्यास है। यह प्रसिद्ध एवं बहुचर्चित उपन्यास है जिसमें एक भारतीय नारी की सामाजिक एवं आर्थिक विवशताओं से उत्पन्न कुंठा एवं यंत्रणा का सजीव अंकन किया गया है। यह एक नायिका प्रधान उपन्यास है। सुषमा, इस उपन्यास की नायिका 33 वर्षीय सुशिक्षित महिला है। वह अपने कर्तव्य के प्रति सजग है और अपनी भलाई-बुराई भी बखूबी समझती है। वह बचपन से ही बुद्धिमान और पढ़ने-लिखने में होशियार थी। एम.ए. करने के पश्चात् वह एक कॉलेज के इतिहास विभाग में प्राध्यापिका के पद पर नियुक्त हो जाती है। वह बहुत परिश्रमी और ईमानदार है। प्रिंसिपल उस

पर बहुत भरोसा करती है। अपने काम और व्यवहार की वजह से उसने अपने कॉलेज के हॉस्टल में वार्डन का पद भी प्राप्त कर लिया है।

सुषमा एक मध्यवर्गीय परिवार से सम्बन्ध रखती है। जिसकी आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं है। उसके परिवार में उसके माता-पिता के अतिरिक्त चार छोटे भाई-बहन भी हैं। पिता रिटायर एवं पक्षाघात की बीमारी से पीड़ित हैं। घर में माँ का ही शासन चलता है। पिता को काफी कम पेंशन मिलती है इसलिए घर की मुख्य आय का स्रोत सुषमा का वेतन है। भाई-बहनों की जिम्मेदारी सुषमा के कंधों पर है इसलिए घर से दूर हॉस्टल में रहते हुए वह कॉलेज में नौकरी करती है। सुषमा सुंदर एवं आकर्षक व्यक्तित्व की धनी है। वह अपनी उम्र से काफी कम उम्र की दिखाई देती है। नील जब पहली बार सुषमा से मिलता है तो उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहता – “खुलता हुआ ऐसा रंग, जिस पर उसकी पतली, स्वाभाविक वक्र भौंहें और बड़ी-बड़ी दीप्त आँखें बहुत खिलती थीं। लम्बी नाक और सुघड़ पतले होंठ, आधे कान बालों से ढँके थे और उनकी लबों में मोतियों के कर्णफूल, बिना बाँहों का ब्लाउज और बिल्कुल उसी रंग की फीरोजी साड़ी।”<sup>22</sup>

सुषमा हल्के-फुल्के मनोरंजक उपन्यास पढ़ने की शौकीन है। मीनाक्षी सदैव सुषमा की पठनीय सामग्री के निम्न स्तर का मजाक उड़ाया करती थी किन्तु सुषमा कभी भी उसका बुरा नहीं मानती। सारा दिन की माथा-पच्ची के बाद सुषमा को हल्के-फुल्के रौमेंटिक उपन्यास पढ़ना ही अच्छा लगता था। सुषमा को प्रकृति से अत्यधिक प्रेम है। वह अपने एकांत क्षणों में पेड़-पौधों, फूल-पत्तों और आसमान को अपलक निहारती रहती है। “चहारदीवारी पर चढ़ी हुई मधुमाधवी की सुगन्ध कैफे तक जा रही थी। सुषमा को याद आया कि उसने माली से बंगले में गुलाब लगाने को अभी तक नहीं कहा। बरसात बीत जाएगी तो मुश्किल होगी।”<sup>23</sup> सुषमा की अभिरुचियाँ अत्यन्त कलात्मक हैं। घर की साज-सज्जा, परदे, मेजपोश सबमें कलात्मकता दिखाई देती है। इसी को लक्ष्य कर मीनाक्षी सुषमा के बारे में सोचती है – “सुषमा ने अपना कमरा बहुत सुरुचि से सजाया था। सफाई से सिले हुए खिडकी के फूलदार परदे रह-रहकर हिल उठते थे। उसके पलंग पर झालरदार पलंगपोश बिछा था, मीनाक्षी को लगा कि सुषमा का यह कला कौशल सब व्यर्थ जा रहा है। सुषमा के गोल-मटोल बच्चे हों, जिन्हें वह कढ़ी हुई फ्राकें पहनाए, अवसर आने पर वह बहुत स्नेहपूर्ण और कुशल माँ बनेगी, इसमें मीनाक्षी को सन्देह न था।”<sup>24</sup> सुषमा अपने काम के प्रति ईमानदार एवं कर्तव्यनिष्ठ है। वह अपना सारा काम लगन एवं ईमानदारी से करती है। कॉलेज में अध्यापन से लेकर वार्डन तक की जिम्मेदारी का निर्वाह बखूबी करती है – “हॉस्टल की सारी बेतरतीबी में व्यवस्था लाने में ही उसका सारा समय निकल जाता। नौकरों के आपसी झगड़े, लड़कियों की विविध समस्याएँ, मेट्रन की परेशानियाँ, यह सब उसका अधिकांश समय ले लेती। उधर कॉलेज में नए एडमिशन, लड़कियों के लिए ट्यूटोरियल तय करना भी कुछ कम झंझट न था।”<sup>25</sup>

कॉलेज के काम में जिम्मेदार होने के साथ-साथ सुषमा अपने परिवार के प्रति अपनी जिम्मेदारी को भी खूब समझती है। माता-पिता के साथ-साथ अपने छोटे भाई-बहनों के प्रति अपने कर्तव्य को बड़ी संवेदनशीलता के साथ निभाती है। सुषमा की अपनी अभिलाषाएँ भी हैं। वह विवाह कर अपना घर बसाना चाहती है किन्तु भाई-बहनों की जिम्मेदारी के कारण वह विवाह नहीं कर सकती। उसकी जिंदगी में अकेलापन कुंठा की सीमा तक पहुँच गया है। यह कुण्ठा कभी-कभी बाहर भी निकलती है किन्तु सुषमा तुरन्त अपने आपको सम्भाल लेती है। उसको पता है कि अपने भाई-बहनों की जिम्मेदारी अगर वह नहीं उठाएगी तो कौन उठाएगा और फिर उनके भविष्य का क्या होगा? इसलिए कृष्णा मौसी के बार-बार यह कहने पर भी कि भाई-बहन कोई किसी के नहीं होते, वक्त के साथ सब साथ छोड़ देते हैं, तुम्हें कुछ अपने बारे में भी सोचना चाहिए। सुषमा फिर भी अपनी पारिवारिक जिम्मेदारी को नहीं नकारती।

सुषमा अपने भाई-बहनों से प्यार करती है, उनके प्रति अपनी जिम्मेदारी निभाती है। माता-पिता उसका विवाह नहीं कर पाए तब भी वह अपने पिता के प्रति कृतज्ञता का भाव रखती है – “अगर मैं सबसे बड़ा लड़का होती, तो क्या न करती? उसी तरह मैं अब भी करती हूँ। इन लोगों के लिए कुछ करके मन में बड़ा सन्तोष-सा होता है। अपने लिए तो सभी करते हैं, छोटे भाई-बहनों का कुछ कर सकूँ, उस योग्य भी तो पिताजी ने ही बनाया है।”<sup>26</sup> माँ के प्रति सुषमा को कभी-कभी गुस्सा आ जाता है क्योंकि विवाह न होने का ठीकरा वह कभी तो सुषमा के सिर पर फोड़ देती हैं और कभी भाग्य पर दोष डालकर स्वयं को बरी कर लेती हैं – “तुम जानो कृष्णा, सुषमा की शादी तो अब हमारे बस की बात रही नहीं। इतना पढ़-लिख गई, अच्छी नौकरी है और अब तो, क्या कहने हैं, हॉस्टल में वार्डन भी बनने वाली है। बंगला और चपरासी अलग से मिलेगा, बताओ, इसके जोड़ का लड़का मिलना तो मुश्किल ही है। तुम्हारे जीजा जी कहते हैं कि लड़की स्यानी है, जिससे मन मिले, उसी से कर ले। हम खुशी-खुशी शादी में शामिल हो जाएंगे।”<sup>27</sup>

सुषमा के मन में इसी बात का दुख है कि अम्मा सब कुछ समझते हुए भी नासमझ बनी रहती हैं और ऊपरी तौर पर यह दिखावा करती हैं कि सुषमा ही विवाह के लिए कभी तैयार नहीं होती। लेकिन वास्तविकता सुषमा और अम्मा दोनों ही जानती हैं। इसलिए ऐसे अवसरों पर एक दूसरे से आँखें चुरा जाती हैं – “ऐसे अवसरों पर अम्मा प्रायः दोष सुषमा के ही सिर डालकर बरी हो जाती थी – अब मैं क्या करूँ? स्यानी लड़की है, कोई बच्चा तो है नहीं जो समझाने-बुझाने से मान जाएगी। वह शादी करने को राजी ही नहीं होती तो मैं क्या करूँ?”<sup>28</sup> किन्तु सुषमा अपनी माँ की मजबूरी भी समझती है इसलिए अन्दर से क्रोधित होते हुए भी वह अपनी माँ के कहे हुए समस्त कार्य करती चली जाती है। सुषमा के पास अच्छी नौकरी है, परिवार है लेकिन उसके बावजूद वह अकेली है। वह अविवाहित है। उसे लगता है कि उसके जीवन में आए बिखराव को समझने वाला कोई नहीं है। अपना कॉलेज उसे कारागार

सा प्रतीत होता है। आरम्भ से अन्त तक पूरे उपन्यास में सुषमा के अकेलेपन की घुटन और पीड़ा का वर्णन मिलता है। वह अपने एकरस जीवन से ऊब चुकी है। एकांत क्षणों में वह जिस मानसिक पीड़ा से गुजरती है उस पर नियंत्रण रखना अत्यन्त कठिन हो जाता है। सुषमा का विवाह समय पर नहीं हो पाया, इस विषय में जब वह गहराई से सोचती तो अपने माता-पिता को ही दोषी पाती है।

सुषमा घर से दूर हॉस्टल में रहते हुए नौकरी करती है। जब भी उसे एकांत मिलता, उसे अकेलापन घेर लेता और वह गहन मानसिक यंत्रणा से गुजरती। उसे लगता कि कोई उसका अपना होता जो उसके जीवन में आए बिखराव को समेटता। सुषमा के विवाह की उम्र बीत चुकी है। अपनी उम्र को लेकर सुषमा में अत्यधिक हीन भावना है। विवाह और उम्र ये दोनों बातें एक-दूसरे से जुड़ी हुई हैं। सुषमा को जब भी विवाह न होने का दुख होता है तो अपनी उम्र की अधिकता उसे खटकने लगती है। नील से मिलने के बाद तो उसे अपनी उम्र को लेकर और भी अधिक हीन भावना होने लगती है – “जीवन में पहली बार उसे उन खोए हुए वर्षों का दुख था। जीवन की भाग-दौड़ और आजीविका के प्रश्नों में चुपचाप विलीन हो गए वे वर्ष-और अब तो उसके चारों ओर दीवारें खिंच गई थीं, दायित्व की, कुंठाओं की, अपने पद की गरिमा और परिवार की।”<sup>29</sup> सुषमा के व्यक्तित्व में आधुनिक जीवन का अकेलापन घुटन, ऊब और भविष्य के प्रति अनिश्चितता की भावना दिखाई देती है। उसके जीवन की परिस्थितियाँ एक ऐसा चक्रव्यूह है जिसमें से वह चाहकर भी बाहर नहीं निकल सकती। नील ने ही सुषमा के नीरस जीवन में सौन्दर्य, प्रेम, पारस्परिक आकर्षण और संतुष्टि का बोध कराया था। नील के जीवन में आ जाने से सुषमा अपने मन में बहुत अधिक बदलाव महसूस करती थी। सामाजिक और आर्थिक विवशता के कारण सुषमा को नील से सम्बन्ध विच्छेद करना पड़ रहा था किन्तु वह अन्दर तक टूट गई थी। इस प्रकार ‘पचपन खंभे लाल दीवारें’ उपन्यास एक संवेदनशील नारी की पारिवारिक प्रतिबद्धता जनित मानसिक यंत्रणा की करुण कहानी है।

मोहन राकेश के उपन्यास ‘न आने वाला कल’ में अन्तर्द्वन्द्व मनोज के व्यक्तित्व का अभिन्न अंग है। अन्तर्द्वन्द्व की यह स्थिति न केवल मनोज की आन्तरिक घुटन व व्याकुलता को व्यक्त करती है बल्कि उसके अस्तित्ववादी रूप को भी स्पष्ट करती है। इसी स्थिति में मनोज अनिर्णय, अपरिचय, अकेलापन और ऊब से भी जूझता दिखाई देता है। वास्तव में यह रिक्तता का अनुभव करने वाला पात्र है। शोभा के खुर्जा चले जाने पर उसका अकेलापन और अधिक स्पष्ट हो जाता है। परिणामस्वरूप अपने अकेलेपन को भरने के लिये बानी का सहारा लेता है। जो उसके व्याकुलता ऊब, स्वार्थीपन, कामी और रिक्त चरित्र को स्पष्ट करता है। शोभा कथानायक मनोज की पत्नी है। पहले पति की मृत्यु के पश्चात् एक नये सुखद जीवन की अभिलाषा में वह मनोज से विवाह करती है। ‘घर कैसा होना चाहिए, खाना कैसा बनना चाहिए, दोस्ती कैसे लोगों से करनी चाहिए, इन सबके उसके अपने बने हुए मापदण्ड हैं, जिनसे अलग

हटकर कुछ भी करना उसे बुनियादी तौर पर गलत जान पड़ता था।<sup>30</sup> शोभा का चेतना बोध पर्याप्त विकसित है। इसी से वह आत्म विश्लेषण भी करती है और अपने दाम्पत्य जीवन की निरर्थकता को भी स्पष्ट करती है। वह कहती है – “मुझे घर की जिन्दगी बगैर अपने आप बहुत अधूरा लगता था। इसलिये मैंने निश्चय के साथ ये कदम उठाया था। मगर तुम्हारे पास मुझे देने के लिये घर नहीं था। सिर्फ अपना आप बिना घर-बार की कल्पना के।”<sup>31</sup> इस तरह शोभा के माध्यम से मनोज का खण्डित व्यक्तित्व और अधिक स्पष्ट हो जाता है।

निर्मल वर्मा के उपन्यास ‘वे दिन’ में द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के अकेलेपन व अजनबीपन की पीड़ा को झेलने के लिए अभिशप्त हुए चरित्रों का चित्रण बखूबी हुआ है। अकेलेपन से मुक्त होने की छटपटाहट उपन्यास के सभी पात्रों में देखने को मिलती है। रायना इंदी से कहती भी है कि वह ज्यादा दिन तक अकेली नहीं रह सकती। ‘वे दिन’ के पात्र क्षणों में जीते हैं। वे क्षणों का सुख ढूँढ रहे हैं। इसी कारण यह जानते हुए भी कि उनका अकेलापन सनातन है रायना और इंदी कुछ क्षणों के लिए अपने-अपने अकेलेपन से मुक्त होते हैं। इन मुक्त क्षणों का अनुभव उन दोनों के लिए अपने पूर्ववर्ती अनुभवों से विशिष्ट हो जाता है। अकेलेपन के अलावा युद्ध की छाया पूरे उपन्यास पर छाई हुई है। रायना पर इस छाया का असर इतना गहरा है कि वह युद्ध के काफी समय बाद भी इसके प्रभाव से निकल नहीं पाती। युद्ध की काली छाया दूर तक रायना का पीछा करती है। वह इंदी से कहती भी है “तुम्हें अपना बचपन लड़ाई में नहीं गुजारना चाहिए, वह जिंदगीभर पीछा नहीं छोड़ती।”<sup>32</sup>

रायना उपन्यास का प्रमुख चरित्र है। रायना नितान्त अकेली है। इसी अकेलेपन को बांटने के लिए वह शहर-दर-शहर भटकने के लिए विवश है। लेखक ने रायना और अन्य पात्रों की विवशता के माध्यम से मानव की नियति पर प्रश्नचिन्ह लगाकर छोड़ दिया है। रायना के चरित्र में जो पीड़ा है वह युद्धोत्तरकालीन दुनिया के आम आदमी की पीड़ा है। युद्ध ने व्यक्ति के मन के सारे भावों, सारी संवेदनाओं को खत्म कर दिया। इस संवेदनहीनता की पीड़ा रायना व्यक्त करती है। “एक दिन में बाहर आ गयी..... यह जानते हुए भी कि बाहर मैं किसी काबिल नहीं रह गई हूँ.....नॉट ईवन फार लव। पीस किल्ड इट.....।”<sup>33</sup> पूरे उपन्यास में रायना के चरित्र की प्रधानता है। रायना महायुद्ध की विभीषिका को देख चुकी पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करती है जिसकी संवेदनाएं पूरी तरह जड़ हो चुकी हैं। उसका चरित्र तटस्थ है और वह अपने अकेलेपन की पीड़ा से कुछ क्षण के लिए मुक्त होने के लिए इंदी के पास आती है। हांलाकि वह इंदी से भावनात्मक रूप से नहीं जुड़ी होती फिर भी उसके साथ दैहिक सम्बन्धस्थापित करती है। उपन्यास में रायना उस व्यक्ति का प्रतीक है जिसका महायुद्ध के बाद जीवन के प्रति विश्वास कम हो चुका है और उस पर मृत्यु का भय हरदम छाया रहता है। रायना में अपनी वेदना और मौन पीड़ा है जिसे लेखक से संकेतों और प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त किया है। रायना का पुत्र ‘मीता’ उपन्यास का वह किशोर पात्र है जिसे परिस्थितियों ने

समय से पूर्व ही वयस्क बना दिया है। इस तरह समकालीन उपन्यासों के पात्र साधारण है किन्तु उनका चरित्र, उनके जीवन में घटित घटनाएँ उन्हें सामान्य से विशेष बना देते हैं।

### 3. वातावरण

किसी भी कथानक को अग्रिम गति देने के लिये वातावरण की अहम भूमिका होती है। यह एक पृष्ठभूमि के रूप में चित्रित होता है, क्योंकि वातावरण के अंक में ही कथानक का निर्माण एवं विकास होता है। “कथानक की गतिविधि पात्रों का व्यक्तित्व, कहानी का देशकाल (अर्थात् वह जिस स्थान पर और जिस समय घटना होती हुई बताई गई है), कहानी की भाषा शैली तथा कहानीकार के उद्देश्य को पाठक तत्कालिक रूप में अर्थात् कहानी पढ़ते-पढ़ते जिस प्रक्रिया द्वारा ग्रहण करने की चेष्टा करता है उस प्रक्रिया का नाम वातावरण है।”<sup>34</sup>

देशकाल या वातावरण का चित्रण उपन्यास की वास्तविकता में वृद्धि करता है। मनुष्य बहुधा वातावरण की उपज होता है। स्वतन्त्रता से पूर्व भारतीय समाज एवं संस्कृति का चरम लक्ष्य सत्यम् शिवम् सुन्दरम् युक्त मानवीय विचारधारा से युक्त था। जिसका प्रभाव मनुष्य के व्यक्तित्व उसकी क्रियाओं और विचारधाराओं में साफ झलकता था तथा इसी का प्रतिबिम्ब साहित्य में दिखता था। स्वतन्त्रता प्राप्ति भारतीय जीवन की एक ऐसी महान् ऐतिहासिक घटना है, जिसने न केवल राजनैतिक क्षेत्र में ही महत्वपूर्ण मोड़ ला दिया है; बल्कि सामाजिक, आर्थिक, दार्शनिक, धार्मिक, साहित्यिक एवं कलात्मक आदि सभी क्षेत्रों में नयी परिस्थितियों एवं नयी समस्याओं के द्वन्द को जन्म दिया है। स्वतन्त्र भारत के पास एक ओर सपने, आशाएं और आकांक्षाएं रही है तो दूसरी ओर उभरती हुई आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक समस्याएं भी रही हैं। एक ओर सेकड़ों वर्षों से स्वीकृत गौरवमयी संस्कार और दूसरी ओर पाश्चात्य संस्कृति की चमक-दमक में डूब जाने का मोह भी रहा है। एक ओर गरीब जनता की समृद्ध नैतिकता रही है तो दूसरी ओर नैतिक अनैतिक दृष्टि की उपेक्षा एवं येन केन प्रकारेण समृद्ध बनने की लालसा भी रही है। स्वातन्त्रयोत्तर भारतीय समाज में इन्हीं द्वन्दात्मक स्थितियों और लक्ष्यों का दोहन-मन्थन हुआ है।

इसी द्वन्द का परिणाम समकालीन व्यक्तित्व पर साफ-साफ दिखाई देता है। और उतना ही साफ एवं सपाट अभिव्यक्ति के साथ समकालीन उपन्यासों में वर्णित भी हुआ है। समकालीन जीवन की अत्यधिक व्यस्तता, कृत्रिमता और एकरसता ने अनेक विषमताओं को भी जन्म दिया है। जिनके कारण अजनबीपन, अकेलापन, संवादहीनता, तनाव, संत्रास, कुण्ठा, व्यर्थता और मृत्युबोध जैसी स्थितियों ने समकालीन व्यक्ति के जीवन को चारों ओर से ढक लिया है। ‘वे दिन’ उपन्यास निर्मल वर्मा द्वारा लिखा गया महत्वपूर्ण उपन्यास है। इस उपन्यास में दूसरे विश्वयुद्ध के बाद उत्पन्न परिवेशगत वास्तविकताओं को आधारभूमि बनाया गया है। जीवन की व्यर्थता का बोध, अजनबीपन तथा अकेलेपन का अहसास इसकी मूल संवेदना



मानी जा सकती है। इस उपन्यास में द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद मनुष्य की बदलती संवेदना, परिवर्तित होते मानवीय सम्बन्ध तथा परिवर्तित जीवन परिस्थितियों की सशक्त अभिव्यक्ति की गई है। उपन्यास में दो कथाएं हैं 'मैं' और रायना की कथा तथा फ्रांज और मारिया की कथा। इस उपन्यास में कुल तीन दिन की कथा को आधार बनाया गया है। उपन्यास का मुख्य पात्र इन्दी है जो कि टूरिस्ट गाइड है। भारतीय छात्र इन्दी प्राग के एक हॉस्टल में रहता है। छुट्टियों के दिनों में जब स्कॉलरशिप के पैसे नहीं मिलते, तबवह धन अर्जन के लिए टूरिस्ट गाइड का काम करता है। वह क्रिसमस की छुट्टियों में प्राग घूमने आई एक आस्ट्रियन टूरिस्ट रायना रैमान का गाइड बनकर उसे शहर घुमाता है। रायना विवाहिता है और अपने पति से अलग रहती है। उसके साथ उसका बेटा भी प्राग आया है। रायना इन्दी को बताती है कि वह बिल्कुल अकेली है और वह ज्यादा दिन तक अकेली नहीं रह सकती। उसके जॉक से शादी भी की लेकिन वह उसके साथ एक घर में नहीं रह सकी क्योंकि जॉक के साथ वहां रहते हुए उसे यही महसूस होता था कि जैसे वह कॉन्सेन्ट्रेशन कैम्प में रह रही है इसलिए वह घर छोड़कर जॉक से अलग हो गई। रायना के मन-मस्तिष्क पर वर्षों बाद भी युद्ध का आतंक छाया हुआ है तथा घर की शान्ति से उसे अजीब सा डर लगता है।

इन्दी और रायना की मुख्य कथा के साथ-साथ फ्रांज और मारिया की कथा भी चलती है। फ्रांज बर्लिन से आया है। उसकी प्रेमिका मारिया चेक है। मारिया फ्रांज के साथ रहती है और उससे विवाह करना चाहती है पर उसे फ्रांज के साथ जर्मनी जाने के लिए वीजा नहीं मिल रहा इसलिए वह उससे विवाह नहीं कर सकती है। इधर टूरिस्ट और गाइड के रूप में रायना और इन्दी के सम्बन्धधीरे-धीरे विकसित होते हैं तथा वे एक-दूसरे की ओर आकर्षित होते हैं। वे दोनों देश व भाषा की सीमाओं का अतिक्रमण करते हुए कुछ क्षणों के लिए एक हो जाते हैं। इनका मिलन न तो आत्मिक प्रेम है और न ही दैहिक आकर्षण बल्कि अपने-अपने अजनबीपन को बांटने के लिए उबरी पीड़ा से मुक्ति पाने का एक सहज प्रयास है। तीन दिन साथ बिताने के बाद यद्यपि इन्दी रायना के प्रति भावुक हो जाता है तथापि रायना तटस्थ बनी रहती है। वह प्राग से जाते वक्त इन्दी को स्टेशन आने के लिए भी मना करती है। रायना अपने शहर के लिए रवाना हो जाती है। इन्दी और रायना बीते तीन दिनों की स्मृतियों के साथ पुनः अपने-अपने अकेलेपन में लौट जाते हैं। इस तरह इस उपन्यास में प्रत्येक पात्र की अपनी त्रासदी है। इसके पात्र ऐसी सीमा पर है, जहां कोई किसी के लिए कुछ भी मदद नहीं कर सकता। यहां प्रत्येक व्यक्ति अपना दुख स्वयं झेलने के लिए बाध्य है।

उपन्यास का मूल स्वर अकेलेपन का बोध करवाता है। युद्ध न केवल मानव की सम्पदा व शान्ति को ही खत्म करता है वरन् लोगों के सोचने-समझने की शक्ति, मानवीय संवेदनशीलता तथा उनके जीवन के रहन-सहन पर भी विपरीत प्रभाव डालता है। युद्ध सम्पूर्ण सांस्कृतिक विनाश की ओर ले जाता है। इस उपन्यास में रायना को ऐसी पात्र के रूप में

चित्रित किया गया है जो कि महायुद्ध की विभीषिका को देख चुकी है। यह उस पीढ़ी का प्रतिनिधित्व भी करती है, जिसकी सारी संवेदनाओं को युद्ध ने खत्म कर दिया है। रायना मृत्युबोध, अकेलेपन व अजनबीपन को झेल रही प्रमुख चरित्र के रूप में प्रकट हुई है। उपन्यासकार ने उपन्यास में सीमित घटनाओं के माध्यम से प्रभावपूर्ण परिवेश का चित्रण करके युद्ध के प्रभावों का सफल रेखांकन किया है।

नरेश मेहता के उपन्यास 'यह पथ बंधु था' का रचनाकाल भारतीय इतिहास का वह काल था जब मुख्यतः महात्मा गांधी और कांग्रेस के नेतृत्व में आजादी की लड़ाई लड़ी जा रही थी और क्रान्तिकारी भी सक्रिय थे। श्रीधर दोनों प्रकार के आंदोलनों से जुड़ता है पर कहीं भी उसकी कोई सक्रिय भूमिका नहीं। इस उपन्यास में राजनीतिक हलचल के चित्र अधिक विस्तृत रूप में हैं। हालांकि वे भी केवल पृष्ठभूमि का ही कार्य करते हैं। ब्रिटिश शासित प्रदेशों की राजनीतिक हलचल, असहयोग आंदोलन, रोलट एक्ट, विराट सभाएं और उनमें होने वाले भाषण, अंग्रेजी दमनचक्र, तलाशियां, धरपकड़, मारपीट आदि स्वतंत्रता से पूर्व की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति के परिप्रेक्ष्य में खींचतान आदि के वर्णन बड़े यथार्थ हैं जो कि तत्कालीन राजनीतिक जीवन को साकार कर देते हैं। उस समय की अवसरवादी, स्वार्थ-परायण, दूसरों को धक्का देकर स्वयं सत्ता प्राप्त आदि को चित्रित किया गया है। श्रीधर के साथ यह सब होते हुए तत्कालीन राजनीति जीवन की सम्पूर्ण तस्वीर हमारे सामने रखी है। लेखक ने इस उपन्यास के विविध पात्रों एवं चित्रों को समाज के विविध वर्गों, स्तरों एवं प्रदेशों से लिया है। इस उपन्यास को पढ़ने पर समग्र भारत का दर्शन होता है। इस उपन्यास की रचना के पीछे लेखक का भी यही आशय है। लेखक ने स्वयं कहा है " यह न किसी अंचल विशेष की गाथा है बल्कि समग्र भारतीय घरों की दीपगाथा है। यदि अपने भारतीय समाज, कुल-कुटुम्ब, परिवार तथा व्यक्ति का जीवन एवं रसात्मक परिचय यह उपन्यास छात्रों को करवाता है तो इस रचना की सार्थकता होगी। निःसंदेह यह कृति भारतीयता की कृति है और भारत के जन-जीवन एवं संस्कृति का परिचायक है। मालवी, महाराष्ट्री, बनारसी और बंगाली संस्कृति के चित्र प्रस्तुत कर लेखक ने समग्र भारतीय संस्कृति का चित्र प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। विवाह के रीति-रस्म और संस्कार, पुरोहित का चौबीस घड़ी सावधान रहना, तांबे की कोठियों से बरातियों को अपने-अपने पैर धोना, अगरबत्तियों से सुवासित वातावरण में पत्तल परोसे जाने के बाद चांदी के कटोरे में धुले केसर-चंदन में सोने की चैन से माथों पर तिलक लगाया जाना आदि के विवरण से महाराष्ट्रीय जीवन का परिचय मिलता है। भक्तिपूर्ण वातावरण का चित्रण काशी के घाटों, गलियों, मंदिरों और वहां के बंगाली और महाराष्ट्रीय मोहल्लों के चित्र, काशी के सांस्कृतिक सामाजिक जीवन का परिचय देते हैं। कीर्तनिया, जलघड़िया आदि मंदिर के कार्यकर्ता, राजभोग, मंगला, शृंगार, आरती आदि मालवा की मंदिर व्यवस्था का चित्र उकेरते हैं। बनारस की गंगा उसके विभिन्न घाटों, दशाश्वमेघ, मणिकर्णिका, केदारघाट, तुलसीघाट, वहां स्नान करने वाले

साधुओं, बंगाली विधवाओं, बजरी पर काशी के रईसों के आमोद-प्रमोद, हण्डों की रोशनी में मुजरों के चित्र बनारस के जनजीवन का चित्र साकार कर देते हैं।

इस उपन्यास के विविध पात्रों में महाराष्ट्रीय सामन्त, सामन्त पुत्र बाला साहब, दिघे और वामनराव है। मालवा के समाज का प्रतिनिधित्व करने वालों में हेडमास्टर गाडगील, श्रीमोहन, घोड़ा डॉक्टर श्रीवल्लभ, रतना, सामन्तीय परिवार की महिला इन्दु। काशी के नागरिक शिवनाथ त्रिपाठी, प्रकाशक रामखेलावन। बनारस में रहने वाले बंगाली समाज का परिचय देने के लिए सुधांशुराय, रतना और उसकी माशीमां हैं। यह पात्र अपने व्यक्तित्व, स्वभाव एवं आचरण से अपने वर्ग का प्रतिनिधित्व तो करते ही हैं सम्पूर्ण भारत की झांकी भी प्रस्तुत करते हैं।

‘चलता हुआ लावा’ उपन्यास वर्तमान युग के परिवेश से भंली-भांति जुड़ा हुआ है। यह समकालीन दुनिया की एक बहुत बड़ी सच्चाई से बंधा हुआ उपन्यास है। वह यह कि हम सब अपनी वर्तमान दुनिया के दबावों से ठीक ऐसे बंधे हुए हैं जैसे एक जीवित आदमी रस्सियों से बंधा शवदाह के लिए ले जाया जा रहा हो और सब उन रस्सियों से मुक्त होकर भागने की छटपटाहट में हो। उपन्यास में जहां धार्मिक परिस्थितियों का प्रश्न है प्रसंगानुसार कथावक्ता धर्म और संस्कृति के सम्बन्धमें अपनी प्रतिक्रियाएं अभिव्यक्त करता रहता है। उदाहरणतया एक स्थल पर वह देखता है कि घाट पर एक ब्राह्मण पिण्डदान करवा रहा है और लोक पूर्ववत् उस धार्मिक कृत्य से उदासीन होकर नहा रहे हैं जैसे किसी को जला फूंक देने के बाद नहाया जाता है। यहां एक ओर धार्मिक संस्कारों की औपचारिकता पर व्यंग्य किया गया है वहां दूसरी ओर अन्य लोगों की तटस्थता और उदासीनता पर कटाक्ष भी किया गया है। इसी प्रकार कथावक्ता की माँ के मरने पर कलकत्ता की पवित्र श्मशान घाट केवड़तल्ला पर जलाए जाने की इच्छा प्रकट करने पर कथावक्ता का मन ही मन में दुखी अनुभव करना कि घाट के निकट होने से माँ की अन्त्येष्टि में तकलीफ होगी आदि से भी लेखक के व्यंग्य को समझा जा सकता है। इस प्रकार समकालीन उपन्यासों में हमारे आस-पास घटित होने वाली घटनाएँ एवं दिनचर्या का वातावरण है। सामान्यतः यह वातावरण स्वस्थ और विकासशील दृष्टिगत होता है, किन्तु इसमें छिपी संत्रास, तनाव एक लेखक की अन्तर्दृष्टि ही देख सकती है।

#### 4. भाषा सौष्ठव

उपन्यासकार का माध्यम भाषा है, वह उपन्यासकार की हैसियत से जो कुछ करता है, भाषा के माध्यम से ही कर सकता है इसलिए यह कहा जा सकता है कि उपन्यास को अर्थ प्रदान करने का माध्यम भाषा ही होती है। उपन्यास को भाषा से पृथक करना नामुमकिन है। यह भाषा समाज और उसमें रहने वाले व्यक्तियों से सम्बन्धित होती है। भाषा अपने अमूर्त और कल्पित रूप में एक व्यवस्था और व्याकरण की धारणा प्रस्तुत करती है। उपन्यास साहित्य की भाषा का सामाजिक संदर्भों के अनुसार परिवर्तित होना स्वाभाविक होता है। उपन्यास की भाषा

का विकास समाज की भाषा के विकास से सम्बन्धित होता है क्योंकि उपन्यास समाज और उसके जीवन से अत्यधिक निकटता रखता है। अन्य साहित्यिक विधाओं की तुलना में उपन्यास जीवन के चित्रण के लिए अधिक विस्तृत होता है। उपन्यास में आधुनिक संसार का आलोचनात्मक चित्र खींचा जाता है और यह तभी संभव है जबकि उसमें भाषा की सृजनात्मकता हो। हिन्दी के आरम्भिक उपन्यासकारों ने गद्य भाषा को अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। प्रेमचंद के पूर्व के उपन्यासों में हिन्दी का स्वरूप अपनी प्रारम्भिक अवस्था में था। प्रेमचंदोत्तर उपन्यासों में सामाजिक जागरूकता के स्तर पर जो अंतर मिलता है वही अंतर भाषा के स्तर पर भी पाया जाता है। हिन्दी उपन्यास का उदय यथार्थवादी आग्रह से प्रेरित होकर ही हुआ था लेकिन निजी परिस्थितियों के कारण उपन्यास में सुधार और आदर्श की झलक मिलती है। इस युग के बाद उपन्यासों में भाषा का भी संवर्धन दिखलाई देता है। औपन्यासिक भाषा के विविध एवं नवीन प्रयोगों के प्रति आग्रह उत्तरोत्तर बढ़ता गया। कालान्तर में उपन्यास में सामाजिक चित्रण के साथ मानवीय संवेदनाओं को सम्बद्ध किया जाने लगा तब से भाषागत नवीन प्रयोगों को भी स्वीकार किया जाने लगा। नगरीय युग के सामाजिक जीवन, यांत्रिक जटिलताओं, जीवन मूल्यों के विघटन और जीवन में व्याप्त होने वाले अकेलेपन की गहन वेदना को भाषा के माध्यम से व्यक्त किया गया। उपन्यासकार द्वारा आलोच्यकालीन उपन्यासों में इन समस्याओं, उनकी अनुभूतियों, गहनता के क्षणों का चित्रण भाषा के द्वारा किया गया। जीवन के प्रति उत्तरोत्तर होने वाले पाठक को संतुष्ट करने के लिए भाषा का प्रयोग संवेदनात्मक धरातल पर संप्रेषण करने का रहा। उपन्यासकार को इसमें गुणात्मक परिवर्तन भी करने पड़े। हिन्दी उपन्यास में इस प्रकार की भाषा का प्रयोग जैनेन्द्र और अज्ञेय द्वारा सर्वप्रथम किया गया।

आन्तरिक भावों को अर्थ प्रदान करने के लिए साहित्य में प्रतीक के माध्यम से बातें करने का विधान है। साहित्य में प्रतीकवाद अभिव्यक्ति का एक रूप है जिसके द्वारा चेतन के धरातल पर अप्रत्यक्ष को अधिकाधिक रूप में प्रस्तुत किया जाता है। अज्ञेय ने 'अपनेअपने अजनबी' में वर्तमान अकेलेपन और अजनबीपन की सभ्यता का चित्रण एक राशन की दुकान एवं उसमें सौदा खरीदती भीड़ के बिम्ब के माध्यम से किया है। उपन्यास के अन्तिम अंशों में यह चित्रण है— "भीड़ बहुत थी लेकिन प्रतियोगी भाव के अलावा भीड़ में सब अकेले थे। बुझे हुए चेहरे, मानो घर की खिड़कियां ही बंद न कर ली गई हों बल्कि परदे भी खींच दिए गए हो। .....काले, गोरे और भूरे चेहरे, काले, लाल, पीले, भूरे गेहूँ, सुनहरे .....। सिर से पैर तक हर अंक हर क्रिया में निर्मम जीवेषणा का भाव मानो वह दुकान सौदे-सुलुक या रसद की दुकान नहीं बल्कि जीवन की ही दुकान है।"<sup>35</sup> अज्ञेय ने भावों की तीव्रता को और अधिक गहराई से व्यक्त करने के लिए हिन्दी, बंगाली, अंग्रेजी की अनेक कविताएं उद्धृत की हैं। 'शेखर एक जीवनी' में इन कविताओं के उद्धरणों की प्रचुरता दिखलाई देती है। भाव तीव्रता के साथ काव्यात्मकता के प्रयोग की महत्ता को नकारा नहीं जा सकता लेकिन यह गद्य में संभव नहीं है।

कालान्तर में अज्ञेय ने अपने उपन्यास अपने-अपने अजनबी में भाषा कविता के उद्धरणों से मुक्त होकर भाषिक सृजनात्मकता के पक्ष पर अधिक ध्यान दिया है।

‘शेखर : एक जीवनी’ एक मनोवैज्ञानिक उपन्यास है। इस उपन्यास के केन्द्र में शेखर है जिसके जीवन की कथा इस उपन्यास में लिखी है। शेखर के ही इर्द-गिर्द घूमती परिस्थितियों तथा उसका शेखर पर पड़ते प्रभाव को एवं इन्हीं के मध्य शेखर के उभरते व्यक्तित्व को अज्ञेय ने उपन्यास में अभिव्यक्त किया है। शेखर क्या सोचता है, कैसे परिस्थितियों का सामना करते वक्त उसके मन से विद्रोह की भावना उठती है या किसी के प्रति वह झुकता है सबकुछ इसमें व्यक्त हुआ है। सबसे अधिक अपने आपको समझने एवं उसी में खोने की बात भी इसमें स्पष्ट दिखायी देती है। शेखर केन्द्रीय पात्र है परन्तु उसके साथ-साथ अन्य पात्रों को भी लिया गया है एवं उनकी भी भूमिका दिखायी गयी है ताकि शेखर का व्यक्तित्व स्पष्ट हो जाए। इस समस्त पक्षों को उजागर करने के लिए अज्ञेय जी कभी शेखर के मुख से तो कभी अपनी तरफ से, संवाद के माध्यम से भी शेखर के विचारों, चिन्ताधारा, अंतःचेतना में होती हलचलें सबको सरल भाषा में ही प्रस्तुत किया है। परन्तु यह मनोवैज्ञानिक उपन्यास है अतः व्यक्ति का मनोविज्ञान सब समय स्थिर या एक ही जैसा रहे ऐसा नहीं होता बल्कि परिस्थिति अनुसार मनःस्थिति बदलती भी है। इसी कारण इस उपन्यास की भाषा भी औपन्यासिक मोड़ों पर बदलती जाती है। भाषा के बदलाव के साथ-साथ हमें शेखर के विचार एवं बदलाव का भी आभास होता जाता है जिससे पाठक समाज कभी शेखर से जुड़ता है तो कभी उसके संवाद या हरकत से चकित भी होता है। कुल मिलाकर पूरे उपन्यास से शेखर के जीवन के विविध आयामों के दर्शन हो जाते हैं और इसके लिए इस उपन्यास की भाषा को ही सराहा जा सकता है जिसके कारण यह उपन्यास पाठक के मन में स्थान बना गया है। आमतौर पर कहा जाता है कि किसी के मनोविज्ञान को समझना इतना आसान नहीं होता है, उसी तरह एक मनोवैज्ञानिक उपन्यास को भी पढ़कर उसके धरातल तक जाकर उसे समझना भी उतना आसान नहीं है। परन्तु ‘शेखर : एक जीवनी’ के साथ यह कठिनता नहीं है। तभी तो इसकी कितनी बार आलोचना हो चुकी है तथा कितने ही लेख इस उपन्यास को लेकर प्रकाशित हो चुके हैं। इस उपन्यास की भाषा है ही इतनी सुन्दर और सरल।

‘शेखर: एक जीवनी’ के प्रथम भाग में अज्ञेय जी ने शेखर के बचपन का चित्रण किया है। कहीं-कहीं पर शेखर के रूप में अज्ञेय स्वयं बोल उठते हैं तो कहीं-कहीं पर वे वर्णन करते हुए नजर आते हैं। जैसे कि प्रथम खण्ड में शेखर के स्कूल की एक घटना वर्णित की है जिसमें शेखर तथा उसके साथियों के बीच किन्हीं दो लड़कों में लड़ाई हो जाती है। तब उस लड़ाई को रोकने के लिए आयी हुई टीचर शेखर की कमीज के बटन में एक नोट चिपका देती है और उसे डाँटती है कि उसने बहुत शरारत की है। तब शेखर के मन के भाव को अज्ञेय जी ने इसी प्रकार से व्यक्त किया है —“उस दिन लगभग चार बजे शेखर घर की ओर चला जा रहा था।

धीरे-धीरे किसी विचार में लीन।.....वह इतना गम्भीर इसलिए था कि वह किसी निश्चय पर पहुँचना चाहता था। उसने सिस्टर के शब्दों में 'शरारत' की थी अवश्य, किन्तु यह कोई कारण नहीं था कि वह घर जाकर पिटे। उसकी न्याय-बुद्धि कह रही थी, मैंने दूसरों को मारा, स्वयं भी मार खा ली, अब घर पहुँचकर दुबारा दण्ड क्यों पाऊँ?"<sup>36</sup> यहाँ अज्ञेय जी ने जैसा वर्णन किया है उससे पाठकों को घटना भी समझमें आती है तथा हँसी भी क्योंकि यह बचपन के समय का चित्रण है। यहाँ भाषा बिल्कुल सरल किन्तु विद्रोहात्मक तेवर लिए हुए है। शेखर के मन में उठ रहे विद्रोही विचार को एक 'क्यों' शब्द ने प्रकट कर दिया है। यह एक बालक के मन में उठ रहे विचार है। इसी प्रकार की शरारत भरी एक और घटना जो कि शेखर के बचपन में ही बीती थी तथा जिसका कारण भी शेखर ही था उसे भी अज्ञेय जी ने बहुत ही सुन्दरता से उभारा है। इसमें अज्ञेय जी ने वर्णनात्मक तरीका अपनाया है परन्तु ऐसे वर्णन किया है जैसे की वह स्वयं उस घटना को प्रत्यक्ष देख रहे हो। शेखर ने अपने पिता से प्रभावित होकर एक किताब लिखने की सोची थी तथा इसमें वह कामयाब भी हो गया था अपनी बहन की मदद से। एकाएक वह किताब शेखर के पिता के हाथ लग जाती है तथा उसे देखकर एवं पढ़कर शेखर के माता-पिता दोनों हँसने लगते हैं। हँसने का कारण शेखर द्वारा जो बातें उस पुस्तक में लिखी गयी थी उसे अज्ञेय जी ने इस प्रकार लिखा है :-

"Fushia Vylet flower with fore red small leeves vary pretty Kashmiri girls put it in there hare nurse zinnia puts it in her ears to dance in the kichen."

'Habitat, Shalimar gardens and chashma Shahi'

“फूशिया – छोटी लाल पत्तियोंवाला बैंगनी रंग का बहुत सुन्दर फूल, जो काश्मीरी लड़कियाँ बालों में लगाती हैं, जिनिया आया इसे कानों में लगाकर रसोईघर में नाचती है। (उद्धृत : शालीमार बाग और चश्माशाही)“

"Iris very butiful some are bloo some red and some white there is a yellow stik inside the flower-"

"Habitat, Mr- Chatterjis house near gupkar the best were in our house but the flud took them away-2"

इस प्रसंग से स्पष्ट हो जाता है कि अज्ञेय जी को अंग्रेजी भाषा का भी बहुत अच्छा ज्ञान था। तभी वह अंग्रेजी का इस तरह का प्रयोग कर सके जिससे की शेखर के बचपन की बालपन वाली बेवकूफी भी झलकती है तथा पाठकों में हँसी की लहर भी दौड़ जाती है। अज्ञेय जी को बंगला भाषा का भी ज्ञान था तभी उनके प्रथम खण्ड से पहले के प्रसंग में एक बंगला गीत भी लिखा हुआ मिलता है जो कि शेखर अपने मन में गाता है। अज्ञेय जी का इस तरह का प्रयास अपने समय में अनोखा है। यहाँ अलग-अलग शब्द ही प्रयुक्त हुए हैं जिनसे वाक्य तो

बना है परन्तु अर्थ नहीं है। फिर भी प्रसंग को समझने में किसी को कठिनाई नहीं होगी क्योंकि यदि इन सबका शाब्दिक अर्थ निकाला जाए तो प्रसंग वास्तव में ही हास्यास्पद दिखता है।

उपन्यास में व्यंजना होती है। साधारण तरीके से ही सही, परन्तु उपन्यास में लिखित वाक्यों का शाब्दिक अर्थ कुछ और कहता है तथा पूरा अनुच्छेद पढ़ने पर कुछ और ही अर्थ नजर आता है। यही उपन्यासकार की भाषा वाली कला है। चक्रधर नलिन जी ने अज्ञेय जी की भाषा के कलात्मक प्रयोग को लेकर कहा है कि अज्ञेय भाषा की कोमलता के बल पर मानवीय चिंतन तथा चेतना के अंतिम आयाम का सहज स्पर्श करते हैं। उन्होंने काव्य-वस्तु को ही नहीं वरन् भाषा और उसके उपकरणों के प्रयोगों से भाषाई क्रांति की। उनके कथ्य सूक्ष्म अंतर्दृष्टि का प्रतिफलन हैं तथा भाषा कृष्णा-सी प्रवाहमान है। यद्यपि उन्होंने यह बात अज्ञेय जी की कविताओं को लेकर कही है परन्तु अज्ञेय जी द्वारा लिखित गद्य रचनाओं में भी यही विशेषताएँ नजर आती हैं। शशि तथा शान्ति, शारदा सभी को लेकर जो शेखर के मन में भावनाएँ उठती हैं उन सबका जो वर्णन अज्ञेय जी ने किया है उन प्रसंगों में तथा ऐसे कुछ प्रसंगों में जहाँ शेखर के मन में विद्रोहात्मक तेवर या क्रान्ति के विचार उठते हैं उनमें यह बातें लागू होती हैं। शेखर बचपन से ही शरारती तथा जिद्दी हुआ करता था जिस कारण घर में उसे माता-पिता के अलावा अपनी बहिन से भी कभी-कभार पिटायी खानी पड़ती थी। फिर भी शेखर का अपनी बहिन सरस्वती से अधिक दोस्ताना था क्योंकि अक्सर सरस्वती ही उसकी हर काम में मदद कर दिया करती थी तथा उसे लाड़-प्यार भी करती थी। शेखर के मन में सरस्वती को लेकर जो भावनाएँ थीं उन्हें अज्ञेय जी ने ऐसे चित्रित किया है—“तो सरस्वती और शेखर साथ खेलते थे, लेकिन उनके खेल में उनके साथ की अपेक्षा सरस्वती के हाथ और शेखर के गालों का साथ अधिक रहता था। और जब से शेखर के पिता ने सरस्वती को आज्ञा दी थी कि वह शेखर को पढ़ाया करे, तब से तो शेखर ने समझ लिया था कि ‘बहिन’ उस जन्तु का नाम है, जो खेल में झगड़ा करे, अपनी गलती होने पर भी पीट डाले, तंग करे, सीधे अक्षर पढ़ाकर संयुक्ताक्षर (यद्यपि शेखर तब उन्हें ‘संयुक्ताक्षर’ नहीं कहता था) पढ़ाये, न पढ़ने पर पिता से कहे, और कभी किसी बात में विरोध होने पर माँ से यह फतवा प्राप्त कर ले कि वह बड़ी है इसलिए शेखर को उसका कहना मानना चाहिए।

जब वे कश्मीर गये, तब शेखर को इस बात में बड़ा मजा आता था कि कभी वर्षा के दिनों वह रात में चुपचाप खिड़की खोल दे, ताकि खिड़की के पास सोयी हुई सरस्वती भीग जाय। (शेखर ने आग्रह किया था कि खिड़की के पास वह सोयेगा क्योंकि वहाँ से चाँद दिखता था, पर माँ का आज्ञा हुई कि वह नहीं सो सकता, उसे ठण्ड लग जायगी, क्योंकि वह छोटा है। लेकिन वहीं कश्मीर में, उन्हीं वर्षा के दिनों, एक दिन सरस्वती उसके मन में एकाएक ‘सरस्वती’ से ‘बहिन’ और बहिन से ‘सरस’ हो गई थी – यद्यपि इस अन्तिम अंतरंग नाम का उसने कभी उच्चारण नहीं किया, इसे मन में ही छिपा रखा। यहाँ अज्ञेय जी ने भाषा का मनोवैज्ञानिक

पद्धति से प्रयोग किया है। पहले शेखर के मन में अपनी बहिन के प्रति बालपन वाली ईर्ष्या तथा द्वेष, फिर उसी के प्रति झुकाव को यहाँ अज्ञेय जी ने बहुत स्पष्ट किन्तु सुन्दर ढंग से प्रयोग किया है। इसी प्रकार अज्ञेय जी ने शेखर के जिदीपन को भी कई जगहों पर इसी प्रकार से व्यक्त किया है। जैसे शेखर का भवानी मंदिर में जाकर कह उठना कि 'मैं ईश्वर को नहीं मानता। मैं प्रार्थना भी नहीं मानता।' एक प्रकार से यह कथन शेखर के भीतर के विद्रोह का सूचक बनकर नजर आता है।

अज्ञेय जी ने अपने इस उपन्यास में सबसे अधिक शेखर के जीवन की अनुभूतियों का चित्रण किया है। दोनों ही भागों में हमें इसके कई उदाहरण मिलेंगे। लेकिन इसके साथ ही उन्होंने अनुभूतियों के चित्रण में छायावादी कवि की जो विशेषता है अर्थात् प्रकृति के साथ मनोभावों के ताल-मेल को भी चित्रित किया है। जिससे न केवल शेखर के मनोभाव स्पष्ट होने लगते हैं, बल्कि भाषा के माध्यम से यह भी विदित होता है कि प्रकृति हमारे मनोभावों के कितने अनुकूल एवं प्रतिकूल लग सकती है। जब-जब हम जैसा सोचते होंगे प्रकृति वैसा ही रूप दिखाती होगी। शेखर जब धीरे-धीरे बड़ा होने लगता है तो उसका मन नए विचारों से भरने लगता है, उसकी आँखें कुछ नया देखना पसन्द करती है। अज्ञेय जी ने शेखर के मनोभावों को तथा उसके अनुभवों को पूरी तरह से चित्रित करने के लिए अंग्रेजी के कई रोमांटिक कवियों की कविताएँ भी बीच-बीच में उद्धृत की हैं। जैसे:-

Ah me my mountain shepherd, that my arms  
Were wound about thee, and my hot lips prest  
Close close to thine in that quick & falling dew  
Of fruitful kisses, thick as autumn rains  
Flash in the pools of whirling Simois...-5

इसी तरह एक और जगह शेखर के मन में उठते कुछ इसी प्रकार के विचारों को प्रकृति के एक और रूप के साथ पेश किया है- शेखर के पिता का बंगला बबूल के वृक्षों और झाड़ियों से घिरे हुए एक पहाड़ के अंचल में है। उनके घर के सामने, तलहटी के पार के पहाड़ के शिखर पर एक छोटा-सा पेड़ है, जिसकी शाखाएँ और पत्तियाँ मिलकर आकाश की पृष्ठ-भूमि पर अंग्रेजी 'एस' (s) अक्षर का आकार बना देती हैं। शिखर से कुछ उतरकर चारों ओर यह पहाड़ देवदारु, चीड़ और युकलिप्टस वृक्षों के वन से घिरा हुआ है। यही सुदूर चित्र शेखर की चंचल आँखों का एकमात्र खाद्य है, आँखें जो किसी नूतनता की, किसी परिवर्तन की भूखी हैं, और जो अपने सब ओर परिव्याप्त एकस्वरता से उकताई हुई हैं। यही 'एस' शेखर शारदा से मिलने के बाद भी देखता है। यहाँ अज्ञेय जी ने 'एस' का प्रयोग प्रतीकात्मक तौर पर दिखाया है जो शेखर के मन में अलग-अलग समय पर उठते विचारों का प्रतीक है। अज्ञेय जी



भाषा के क्रान्तिकारी एवं प्रतीकात्मक प्रयोगों को लेकर उपन्यास में अनुभूतियों को लिखने वाले हिन्दी के पहले गद्य लेखक हैं।

इस गद्य की काव्यात्मकता छायावादियों के गद्य की काव्यात्मकता से भिन्न है, जो भावात्मकता से भरा हुआ ढीला-ढाला गद्य होता था और कल्पना के कुहासे में अनुभूतियों को धुँधला कर देने वाला होता था।.....अज्ञेय दृश्य और भाव की प्रत्येक सिलवट को सटीक ढंग से व्यक्त कर देने वाले शब्दों का प्रयोग करते हैं और दृश्य को उसकी संपूर्ण वस्तुपरकता के साथ चित्रित करने के लिए अद्भुत शब्द-बिम्बों का निर्माण कर लेते हैं।.....वस्तुतः अज्ञेय की इस भाषा की पृष्ठभूमि में छायावाद या रौमैटिसिज्म से पृथक् फ्रेंच प्रतीकवादी आंदोलन था और जिसकी भाषा में संगीत और काव्य के तत्त्व संयुक्त थे। विजयमोहन सिंह जी ने प्रसिद्ध विद्वान एडमंड विल्सन जी के कथन का उदाहरण देते हुए 'शेखर : एक जीवनी' की भाषा के प्रतीकात्मक प्रयोग तथा शिल्प की प्रशंसा करते हुए आगे कहते हैं कि अज्ञेय की भाषा में इसी प्रकार के प्रतीकवादी उपकरण मिलते हैं। इस प्रकार उन्होंने एक ओर शेखर की प्रविधि मनोवैज्ञानिक 'फ्री एसोसिएशन ऑफ आइडियाज' वाले शिल्प से ली और दूसरी ओर उसमें प्रतीकवादियों वाली भाषा को अनुस्यूत कर एक अनोखे औपन्यासिक शिल्प का निर्माण किया। इस भाषा में विभिन्न इंद्रियों की संवेदनाओं के संश्लेषण से एक ऐसी प्रभावात्मकता उत्पन्न होती है जो अभी तक औपन्यासिक स्तर पर उपलब्ध नहीं थी। उपन्यास के द्वितीय भाग के अन्तिम खण्ड में भी हम यह देख सकते हैं जब शेखर अपनी मौसेरी बहन शशि के साथ रह रहा था तथा उन दोनों के बीच की आत्मीयता बढ़ रही थी। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि अज्ञेय जी ने शेखर के जीवन और उसमें घटने वाली घटनाओं का न केवल वर्णन ही किया है, बल्कि शेखर स्वयं क्या सोचता है, उसकी अपने जीवन में घटी घटनाओं को लेकर क्या अनुभूतियाँ हैं उन सबको भी अज्ञेय जी ने स्वयं शेखर बनकर सोचा और उन्हें व्यक्त किया। व्यक्त करने के लिए उन्होंने जैसी भाषा का प्रयोग किया है, उसे और सजीव ढंग से चित्रित करने के लिए शेखर के आस-पास की प्रकृति, सामान या व्यक्ति को व्यवहार तक को भी प्रयोग किया है। साथ ही अज्ञेय जी को कई भाषाओं का ज्ञान था जिनका प्रयोग उन्होंने शेखर के मनोविज्ञान को दर्शाने के लिए प्रयोग किया। बँगला गीत से लेकर अंग्रेजी के रोमांटिक कविताओं को उन्होंने जगह-जगह पर सटीक ढंग से प्रयोग किया है।

'शेखर: एक जीवनी' के प्रथम भाग में जिस तरह से शेखर का मनोविज्ञान पूरी तरह से चित्रित हुआ है उसी तरह दूसरे भाग में शेखर के वास्तविक जीवन में जिसमें उसे अनुभव से अधिक कार्यरत रहना पड़ा है वहाँ भी अज्ञेय जी ने अपनी भाषा के कलात्मकता से शेखर के मनोभावों को प्रकट करने में सफलता पायी है। फिर वह चाहे शेखर के कॉलेज का प्रसंग हो या पंजाब में जाकर कांग्रेस से जुड़कर देश-सेवा तथा जेल जाने का प्रसंग हो। सभी प्रसंग पाठकों को इसीलिए रुचिकर लगे क्योंकि एक तो उन प्रसंगों को अज्ञेय जी ने प्रस्तुत किया ही

इतने रोचक ढंग से, साथ ही भाषा की सरलता तथा छायावादी दृष्टिकोण के कारण वह अधिक सुपाठ्य हो गयी। द्वितीय भाग के अंतिम चरण में शशि और शेखर के साथ-साथ चलती जिन्दगी और उनके बीच के करीबी को भी बहुत ही संजीदगी से प्रस्तुत किया गया है। यह मनोवैज्ञानिक उपन्यास है अतः भाषा को मनोविज्ञान की दृष्टि से एक भाव से दूसरे भाव ले जाते हुए तथा घटनाओं से प्रभावित होते अनुभवों को व्यक्त करने हुए कहीं भी भाषा की कृत्रिमता नहीं झलकती है और न ही कहीं पर साथ ही छूटता है। इस दृष्टि से देखा जाए तो कहा जा सकता है कि अज्ञेय जी की औपन्यासिक भाषा में काफी मजबूत पकड़ थी जिसके कारण उनका यह उपन्यास हिन्दी साहित्य जगत् में उत्तम स्थान प्राप्त कर सका है।

अज्ञेय ने अपने अपने अजनबी की भाषा को तत्सम बहुल शब्दों की अपेक्षा तद्भव बहुल और देशज शब्दों वाली बना कर अपनी पूर्व परिचित भाषा को अपने आभिजात्य के क्षितिज से उतार कर जन सामान्य के बीच पहुँचाया है। इसीलिए यह भाषा सपाटबयानी और खुलेपन का अनुसरण करती है। बोलचाल के सहज और ठेठ देशज शब्द भी इसमें उपस्थित हैं। एक ढंग से यह रचना लेखक को एक अभिनव सृजनात्मकता से समृद्ध बना देती है, क्योंकि वह असहजता से सहज की अभिव्यक्ति का रास्ता इस रचना के क्षेत्र में पा लेता है। विचार जितने अपरिचित और चौंकाने वाले हैं, भाषा उतनी ही परिचित और आश्वस्तिकर है। राजेन्द्र यादव की भाषा सहज, सुबोध, व्यावहारिक तथा मुहावरायुक्त है। उनकी भाषा आम-जन की भाषा है। उनके भाषा प्रयोग और निर्वाह में कहीं भी शिथिलता नहीं दिखाई देती है। उनकी भाषा में तद्भव, तत्सम, देशज, अरबी-फारसी तथा अंग्रेजी शब्दावली की भरमार है।

निर्मल वर्मा के उपन्यास 'वे दिन' में भाषिक सृजनात्मकता दिखलाई देती है। अकेलेपन की पीड़ा को लेखक ने इस प्रकार भाषा प्रदान की है "अकेलापन जो दुख पीड़ा आंसुओं से बाहर है—जो महज जीने के नंगे बनैले आतंक से जुड़ा है...जिसे कोई दूसरा व्यक्ति निचोड़कर बहा नहीं सकता।"<sup>37</sup> अकेलेपन के लिए नंगे बनैले का आतंक बोध उसकी तीखी चुभन को गहराई से अभिव्यक्त करता है। नामवर सिंह ने निर्मल वर्मा की भाषा से प्रभावित होकर उनके लिए लिखा है "सजीव बिम्बों के द्वारा ही निर्मल की कहानियां मन में वे संवेदनाएं जगा देती हैं जिन तक दूसरे कथाकारों के चरित्र और कथानक भी कभी-कभी नहीं पहुंच पाते।"<sup>38</sup> उपन्यासकारों ने संवेदना के स्तर के लिए, वर्णन के लिए, काव्यात्मकता आदि के लिए भाषा को अतिरंजित करने का प्रयास किया है। भावपूर्ण प्रसंगों के समय व्यंजना प्रधान होकर एक विशेष प्रभावोत्पादकता के गुण को धारण किया जाने लगा। उपन्यास का यथार्थ नितांत ही प्रतिरूपित यथार्थ होता है। वह समाज के यथार्थ को भोगकर उसे अपने अनुभवों से अतिरंजित करके अपनी रचना में प्रस्तुत करते हैं। इस प्रक्रिया में भाषा स्थान्तरित होकर व्युत्पन्न होती रहती है। आधुनिक जीवन के यथार्थ को संवेदना के स्तर पर प्रस्तुत करने के लिए वाक्य की साधारण बाह्य रचना पर्याप्त नहीं थी अतः नवीन वाक्य संरचना का आरंभ हुआ। अल्प विराम, अंतराल

चिह्न, क्रियापदों के द्वारा विशिष्ट संरचना का निर्माण किया गया। उपन्यासों में विशिष्ट स्थलों को छोड़कर बड़े और जटिल वाक्यों के स्थान पर सरल और लघु वाक्यों का प्रचलन अधिक बढ़ गया। अपने-अपने अजनबी में बुढ़िया और योके के वार्तालाप के वाक्य सरल और छोटे हैं किन्तु वे गहन अर्थ लिए हुए हैं “बुढ़िया ने पूछा” योके, तुम्हारा ध्यान हमेशा मृत्यु की ओर क्यों रहता है? मुझको हटात् गुस्सा आ गया मैंने रूखाई से कहा : क्योंकि वही एक मात्र सच्चाई है—क्योंकि हम सबको मरना है।”<sup>39</sup>

वाक्यों के ऐसे प्रयोग गहन मानसिक स्थिति के साथ मानव की गहन क्रियाओं को स्पष्ट करते हैं। वाक्यों के मध्य अंतराल चिह्नों का प्रयोग पात्रों की तनावग्रस्तता का द्योतक है। वाक्य में पदों का क्रम परिवर्तन भी उपन्यासों की भाषागत विशेषता रही। हिन्दी उपन्यास अंग्रेजी से प्रभावित वाक्य रचना भी देखने को मिलती है। कहीं-कहीं वाक्य में क्रिया पदों के प्रयोग के बिना ही भाव पूरा किया गया है। उपन्यास में वाक्यों की शृंखला लयबद्ध चलती है यह विन्यास कथानक, चरित्र, वातावरण आदि द्वारा उत्पन्न प्रभाव से समृद्ध होता है। निर्मल वर्मा के ‘वे दिन’ में वाक्यों का लयबद्ध आरोह और अवरोह पात्रों की मानसिक अवस्था और उनके आसपास के वातावरण को व्यक्त करता है—“यह विचित्र है कि आज जब मैं उस क्षण दुबारा लौटने की कोशिश करता हूँ तो कुछ याद नहीं आता— न अंधेरे में डूबा स्टेज, न पियानो। जो चीज वापस लौटती है, वह सफेद से नीरज आलोक।”<sup>40</sup>

काया भी मृत्यु-संत्रांस से पीड़ित है। गिन्नी की मृत्यु के बारे में सोचने से उसके मन में मृत्यु संत्रांस गहराने लगता है। वह छोटे से पूछती है —

“छोटे, तुमने किसी को मरते देखा है?”

“काया, तुमने देखा है?”

“नहीं छोटे—मैंने देखा नहीं है।” काया ने सधे, शान्त स्वर में कहा...

“लेकिन... मैंने उसे आते हुए सुना था।”<sup>41</sup>

काया के उपर्युक्त कथन से विदित होता है कि वह मृत्यु-बोध से पीड़ित रहती थी। छोटे अभी “उस चीज को नहीं जानते थे, जिसे बड़ों की दुनिया में मृत्यु कहा जाता है, किन्तु जिस उम्र में वह थे, वहाँ किसी का अभाव, किसी का चले जाना, किसी का न होना, मृत्यु के कम नहीं था।”<sup>42</sup> उपन्यास में सामाजिक चित्रण के समय उपन्यासकार की भाषा व्यंग्यात्मक रूप धारण कर लेती है। भाषा में व्यंग्य के प्रयोग ने उपन्यास को इतना सक्षम बना दिया है कि वे परिस्थितियों को उधेड़कर उनमें छिपी वास्तविकता को प्रस्तुत करते हैं। उपन्यासों में जीवन से सम्बन्धित प्रश्नों पर विवेचन, अवसरवादिता और यांत्रिकता आदि कारणों से भाषा में बौद्धिकता का गुण प्रस्तुत होता है। साहित्यिक उपन्यासों के पाठक शिक्षित मध्यवर्ग होने के कारण पात्रों का चयन भी शिक्षित वर्ग से किया गया है। समाज के आदर्श के साथ, आधुनिक विरोधी परिवारों व व्यक्तियों के समायोजन के संकट को व्यक्त करते हुए भाषा दार्शनिकता का पुट ले

लेती है। अपने-अपने अजनबी में 'क्षण' के महत्व पर चिंतन करते समय योके दार्शनिक भाषा में कहती है "समय मात्र अनुभव है, इतिहास है। इस संदर्भ में 'क्षण' वही है जिसमें अनुभव भी है लेकिन जिसका इतिहास नहीं है, जिसका भूत-भविष्य कुछ नहीं है, जो शुद्ध वर्तमान है, इतिहास से परे, स्मृति के संसर्ग से कलुषित, संसार से मुक्त।"<sup>43</sup> भाषा स्वयं को वैज्ञानिक और वैचारिक शब्दावली से सम्पन्न बनाती जा रही है। हिन्दी उपन्यासों में प्रसंग जब आधुनिक ज्ञान-विज्ञान, तकनीकी अथवा प्रशासनिक संदर्भों से जुड़ता है तो उसमें अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग भी देखने को मिलता है। उपन्यास लोकवादी और अन्तर्राष्ट्रीयतावादी प्रवृत्ति से जुड़े लगते हैं। यही नहीं भाषा में विचारधाराओं, मनोविश्लेषणात्मक, साम्यवाद, अस्तित्ववाद और गांधीवाद आदि की छाप भी दिखलाई देती है। जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय आदि ने इनका गहन अध्ययन किया है। अज्ञेय के अपने-अपने अजनबी में अस्तित्ववाद परिलक्षित हुआ है। मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव आदि उपन्यासकारों के शिक्षित पात्र द्विभाषा को अपनाते दिखाई देते हैं। सामाजिक स्तर, सामाजिक परिस्थितियों और सामाजिक भूमिका के कारण भाषा निरन्तर परिवर्तनशील रही है। नगरीय समाज में औपचारिक-अनौपचारिक, घरेलू और शिष्ट भाषा का प्रयोग शैली की अभिव्यक्ति हैं। नगरीय युग के संदर्भ में उपन्यास साहित्य में भाषा सम्बन्धी तथ्यों का विवेचन महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

कथ्य और शिल्प के क्षेत्रों में नए-नए प्रयोग करने में नरेश मेहता सफल हुए हैं। उनके उपन्यासों में संवेदनशीलता लक्षित होती है जिसमें पाठकों को अपनी ओर आकर्षित करने की क्षमता है और द्रवित करने की सामर्थ्यता होती है। भाषा सम्बन्धी प्रयोग उन्होंने जिस रूप में किए हैं, हिन्दी उपन्यास की समूची परम्परा में किसी भी उपन्यासकार ने नहीं किए। उपन्यास की भूमिका में लेखक ने स्पष्ट लिखा है "किसी अंचल विशेष की कथा कहना मेरा प्रतिपाद्य नहीं रहा है फिर भी मालवा अंचल की पृष्ठभूमि में लिखा होने से इसमें आंचलिक तत्व का समावेश हुआ है। लेखक ने विभिन्न स्थानों का चित्रात्मक शैली में ब्यौरेवार वर्णन कर उपन्यास को महाकाव्यात्मक विस्तार दिया है। कहीं-कहीं पूर्वावलोकन शैली का प्रयोग भी किया है। इसकी भाषा अत्यन्त काव्यात्मक हो उठी है। इसकी भाषा में कहीं-कहीं नई कविता की प्रयोगशीलता है। 'यह पथ बंधु' था की भाषा में निःसंदेह एक प्रकार का स्वरूप और सौष्टव है। नई कविता की प्रयोगशीलता का उदाहरण है "रविवार का दिन जैसे एक शेव बढ़ा मुख हो। सब होता है फिर भी जैसे कुछ नहीं होता है और जाड़ों का रविवार तो पिकनिक के टिफिन कैरियर-सा बस होता है।" छायावादी कविता की मसृणता, मूर्तता और अछूतापन इस प्रकार से चित्रित है-बिना कागज अंजी आंख का संध्याकाश और उसमें आंसू सी टिकी संध्या।" आंचलिक भाषा के प्रयोग में उपन्यास को एक अतिरिक्त कलात्मकता प्रदान की है- आता काही काम नहीं आहे। तुमी जाऊ शकत (मराठी), पानी पीऽऽव पनवा लाऽऽ हो। (बनारसी) और तुमि आमार शामि (बंगला) कहीं-कहीं लोकगीतों का प्रयोग भी हुआ है। गुणी के विवाह पर मराठी

का और सुशीला के विवाह पर उत्तर प्रदेश का लोकगीत बरेली के बाजार में झुमका गिरा रे।” कहीं-कहीं सूत्र वाक्यों का प्रयोग भी दिखाई पड़ता है जैसे लोकमुख की आंखें नहीं होतीं, मात्र जिह्वा होती है। मुहावरों, कहावतों और लोकोक्तियों का प्रयोग भी यत्र-तत्र देखने को मिलता है जैसे चूहे को चिन्दी क्या मिली, बजाज बनने चला, राम बुलाय रामपद दीजे, हाथी भले ही निकल जाए मगर उसकी पूंछ नहीं निकलने देंगे, है न? औरतों की बातें, भंवर का पानी होता है। अंगुली पकड़ते पहुँचा पकड़ने लगे आदि।

‘चलता हुआ लावा’ उपन्यास में कथावक्ता चेतना प्रवाह पद्धति के माध्यम से अपनी प्रतिक्रियाएं अभिव्यक्त करने में तल्लीन रहता है इसलिए संवाद बहुत कम हैं। जो हैं वे प्रत्यक्ष न होकर परोक्ष रूप में हैं। इस संवादों में भी अनेक शैलियां पाई जाती हैं। कथावक्ता एक चारपाई पर रस्सियों से बंधा बंधनमुक्त होने के लिए छटपटा रहा है। उसका प्रत्यक्षतः किसी से वार्तालाप नहीं होता केवल अतीतकालीन जीवन के संवाद स्मृतियों में उभरते हैं। ये संवाद प्रायः संक्षिप्त हैं और उनके टुकड़े उपन्यास में अत्यन्त विपर्यस्त हैं। **स्वगत संवाद**— इसके अतिरिक्त स्वगत भाषण और अन्तर्संवाद भी हैं जो लम्बे होकर भी नीरस नहीं हैं। **अन्तर्संवाद**— पढ़ते समय बीच-बीच में कथावक्ता अपनी प्रेमिका गुड्डम के सम्बन्ध में मानसिक रूप से चिंतन करते हुए अन्तर्मुखी हो जाता है और अन्तर्संवादों की एक दूसरी शैली देखने को मिलती है। संवादों में उन्मुक्त रूप से अंग्रेजी भाषा का व्यवहार हुआ है जो कि लेखक की प्रयोगशील अभिरूचियों का परिचायक है। जैसे— “बड़ा खूबसूरत एक्सक्यूज है यह क्यों नहीं कहती कि पैरेलिसिस निर्णय को हुआ है तुम्हें नहीं।”

उपन्यास के कथोपकथन परम्परागत शैली के नहीं है, अपितु पूर्वदीप्ति या पूर्वावलोकन पद्धति के माध्यम से कथावक्ता के मस्तिष्क पटल पर उभरते हैं। संवाद नामक तत्व की दृष्टि से यह उपन्यास अन्य उपन्यासों की तुलना में पृथक दिखाई देता है। रमेश बक्शी ने औपन्यासिक तत्वों में सर्वाधिक प्रयोग भाषाशैली के अन्तर्गत किए हैं। उपन्यास में जहां एक ओर अंग्रेजी शब्दों की भरमार है वहां दूसरी ओर हास्य और व्यंग्य के पुट स्थल-स्थल पर मिलते हैं। कहीं भी लेखन ने जीवन व जगत की व्याख्या के लिए कटाक्ष का प्रबलतम शस्त्र अपने हाथ से नहीं जाने दिया। “व्यंग्य का जीवन्त एहसास ‘चलता हुआ लावा’ की भाषा को कोरी साहित्यिक भाषा बनाने से रोकता है लेकिन आखिर भाषा का जो औजार बक्शी ने इस्तेमाल किया है वह जो साहित्यिक भाषा-सरकारी अन्त्येष्टि बड़ी औपचारिक होती है। दाग देने वाला कोई चाहे तो चिता पर आग लगाते कोई फिल्मी गाना भी गा सकता है। उपन्यास में लेखक ने अनेक दृष्टि बिन्दुओं से भाषा शैलीगत प्रयोग किए हैं। उपन्यास में यहां मुमानियत, हरकत, मातमपुरसी, मजमा, तैश, संगीन आदि उर्दू शब्दों का प्रयोग है वहां चुन्नी, कहर जैसी पंजाबी शब्द भी मिल जाते हैं। अंग्रेजी शब्दों की भी उपन्यास में भरमार है यथा— गार्जियन,

टेक्नीकली, डिस्टर्ब, प्रोग्रेसिव, न्यूओन, विदर्डा, सिनोनिम और हार्न आदि। फरक्का, परिनिर्वाण, हूलाहूप जैसे नवशब्दों का प्रयोग भी हुआ है। कतिपय प्रिय शब्द इस प्रकार हैं गठान, पगथलियां, तलघर, नीम आदि। देशज शब्दों का प्रयोग भी पर्याप्त मात्रा में किया गया है यथा – आलता, इते, कित्ता, कुल्लड़, गठनों, घज, पुवाल, फुचके, मटकैया, हाराकीरी इत्यादि।

नवसंज्ञा शब्द भी प्राप्य हैं— गुस्सैल, गंडागोल, फांक, लड़कियाना आदि। कतिपय नव विशेषण भी अवलोकनीय हैं— अलफलिया, आग, घुलनशील, जानलेवा, धंसक जाना आदि क्रियाओं सम्बन्धी प्रयोग भी है। प्रायः लेखक ने पुल्लिंग शब्दों का प्रयोग किया है यथा – चमकता बुशर्ट और सारा बर्फ आदि टॉर्च शब्द का प्रयोग भी पुल्लिंग के रूप में हुआ है।

‘टॉर्च मेरे हाथ में था। ‘तलाबी, बुशर्ट की कालर और अपनी सार्मथ्य आदि स्त्रीलिंग सम्बन्धी प्रयोग है।

ये बहुवचन शब्द का एकवचन में भी प्रयोग हुआ है जैसे— ये (एन्सीफेलोग्राफ) दिमाग को नापने का यंत्र है। नए समास भी प्रयोग किए गए हैं— रात—रातों, पांचेक। संस्कृत शब्दों के साथ कुछ शब्द विकारों का भी समावेश किया गया है। नवीन उपमाओं का भी प्रयोग है जैसे – तेज हवा में पत्तों की तरह परेशानी का चेहरे से झड़ जाना, दूल्हे से बंधी दुल्हिनों का पंचर हुए कार की बम्फर की तरह लगना, खत का ऐसे रुकना जैसे फिल्म की रील का कट जाना। मुहावरे और नवभाषा के प्रयोग भी उपन्यास में पर्याप्त हैं—आंखों से एक माला धागा टूटने से बिखर गई। मेरी उदासियां कहीं छुट्टी पर चली गई थी। हवा से बिखरती जलती चिता की लपट के एक लाल रंग में रूपगत बिम्ब और इतना घूम लेने पर पैरों का वजनदार और मन का भीगे कम्बल—सा भारी हो जाना में स्पर्शगत बिम्ब माना जा सकता है। इस प्रकार समकालीन हिन्दी उपन्यासों की भाषा, पात्रों की अन्तर्व्यथा को व्यक्त करने में पूर्णतः सक्षम है।

## 5. प्रतीक विधान

समकालीन हिन्दी उपन्यासों में जहां कथानक के चयन में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए वहीं उसकी अभिव्यक्ति के लिये भाषा—शैली के नये—नये रूप—रंग प्रयोग किया गया। प्रतीक का सम्बन्ध मनुष्य की चिन्तन प्रणाली से है। प्रतीक का शाब्दिक अर्थ है अव्यव या चिन्ह। उपन्यास में यह हमारी भाव सत्ता को प्रकट करता है तथा उसे सूक्ष्म अर्थ में व्यंजित करता है। प्रतीकों के माध्यम से उन भावों को स्वाभाविक ढंग से प्रकट किया जाता है जिन्हें प्रकट करने में सामान्यतः व्यक्ति या उपन्यासकार कठिनाई अनुभव करता है। प्रतीक के कुछ मौलिक गुण धर्म हैं जैसे सांकेतिकता, संक्षिप्तता, रहस्यात्मकता, बौद्धिकता, भावप्रकाशयनता आदि। इन्हीं गुणों के कारण समकालीन उपन्यासों में इनका प्रयोग बहुयातन होने लगा है। समकालीन व्यक्ति का जीवन जटिल परिस्थितियों से घिरा हुआ है और इन जटिलताओं को सीधे—सपाट शब्दों में अभिव्यक्त कर पाना कठिन है।

उपन्यासकारों द्वारा शिल्प रचना में अपने भावों और विचारों को बिना ऊहापोह में उलझाए एकाग्रचित्त होकर भिन्न-भिन्न संकेतों के माध्यम से अभिव्यक्ति प्रदान की गई। इस प्रतीकात्मक शैली के निर्वहन 'नदी के द्वीप' की शिल्पगत विशेषता रही है। अज्ञेय ने गहन अनुभूति के द्वारा जीवन को एक रूपक में आबद्ध किया है। यौन वर्जनाओं, यौन विकृतियों, यौन कुंठाओं का मनोवैज्ञानिक अध्ययन भी विभिन्न पात्रों के प्रतीकात्मक विश्लेषण के द्वारा प्रस्तुत किया गया है। 'शेखर एक जीवनी' में शेखर की काम कुंठा और दमित यौन भावना का परिणाम है जो संयम, ब्रह्मचर्य और नारी से दूर रहने के थोथे आदर्श में स्थानान्तरित होने पर भी तृप्त नहीं होती। मोहन राकेश के 'अंधेरे बंद कमरे' में मानवीय जीवन की विसंगतियों एवं विवशताओं का चित्रण आधुनिकता के धरातल पर प्रस्तुत किया गया है। भारतीय समाज के अभिजात्यवर्ग दो भागों में विभाजित है एक पश्चिमी आधुनिकतावाद तो दूसरा वंशानुगत संस्कारवाद। इन दोनों वर्गों के मध्य जो द्वन्द उत्पन्न होता है उससे पूर्णता के मध्य रिक्तता और स्वच्छंदता के मध्य अवरोध, प्रकाश के मध्य अंधकार आ जाता है। यही कारण होता है कि व्यक्ति भीतर ही भीतर क्रोध, ईर्ष्या और सन्देहों में जकड़ जाता है परिणामतः वह स्वयं के लिए भी अजनबी हो जाता है। इस उपन्यास का केन्द्रीय पात्र हरबंस है। हरबंस और नीलिमा के माध्यम से ईमानदारी, भावनात्मक लगाव और मानसिक समदृष्टि से रिक्त दाम्पत्य का चित्रण किया गया है। भारतीय अभिजात्यवर्ग की भौतिक, बौद्धिक और सांस्कृतिक महत्वाकांक्षाओं के अंधेरे बंद कमरों को खोलनेवाला यह उपन्यास हिन्दी की गिनी चुनी कथाकृतियों में स्थान रखता है। नीलिमा और हरबंस पारिवारिक जीवन के अंधेरे कमरे में बंद हैं और इस दृष्टि से उपन्यास का शीर्षक प्रतीकात्मक शैली में है। उपन्यास का शीर्षक "अंधेरे बंद कमरे" मध्यवर्गीय पात्रों की नियति को रेखांकित करता है, क्योंकि ये पात्र अपने ही अचेतन के अंधेरे बंद कमरों में कैद हैं और उनसे निकलने का कोई उपाय इन्हें नहीं सूझ रहा है। इस प्रकार 'अंधेरे बंद कमरे' की कथा का केन्द्र बिन्दु हरबंस और नीलिमा की जिन्दगी का बंद कमरा है।

निर्मल वर्मा का उपन्यास 'वे दिन' में इतिहास अदृश्य रूप में मौजूद है जिस प्रकार हमारे जीवन में रहता है। इसी से हमारे सुख-दुख तय होते हैं। कहानी का विस्तार उसमें इतिहास के उन मूक और भीड़ के अचिन्हित विषयों को एक कर ऐसा संजोता है कि वह हमें दिखाई देने लगते हैं। उनकी पीड़ा हम तक संदेश की तरह पहुँचती है। यह कथा कुछ ऐसे व्यक्तियों की रचना करती है जिनकी वैयक्तिक आभा से हम ईर्ष्या का अनुभव करते हैं। यह व्यक्ति या पात्र वैकल्पिक होते हैं। इस उपन्यास में भी पात्र कथा चरित्रों की तरह पहले व्यक्ति हैं। उनकी पीड़ा और क्षमता उन्हें समाज के लिए मूल्यवान बनाती है। निर्मल वर्मा के 'वे दिन' की शैली आत्मकथात्मक है। उपन्यास की नायिका रायना अपने प्रेमी और पति के साथ गुजारे दिनों की याद करती है। यह संस्मरणात्मक शैली का उपन्यास है जिसका आरम्भ स्मृति के आलोक में होता है - "मैं सोचता हूँ अगर मैं कोशिश करूँ तो याद कर सकता हूँ। सब कुछ

नहीं, सब कुछ नहीं।”<sup>44</sup>नए उपमानों एवं प्रतीकों के प्रयोग से उपन्यास की भाषा में ताजगी आ गई है— “रोशनदान में फंसा पुराना अखबार बार-बार कांपने लगता था जैसे कोई पक्षी उड़ने के लिए बार-बार पंख फड़फड़ाता हो और फिर असहाय सा बैठ जाता हो।” तथा “उसका चेहरा किसी मैगज़ीन के कवर सा लग रहा था—कोरा सफ़ेद अस्वाभाविक रूप से उज्ज्वल।” इस प्रकार उपन्यास में ऐसे असंख्य उपमानों का प्रयोग किया गया है जिससे लेखक की कल्पना, काव्यात्मकता और कुशल शब्द चयन का बोध होता है। यही नहीं उपन्यास में पात्रों के शारीरिक और मानसिक अवसाद को व्यक्त करने के लिए अनेक बिम्बों, प्रतीकों और संकेतों का प्रयोग भी किया गया है— रिसीवर की आतुर अकेली पुकार, टिमकती आँखें, सर्दी की गरीब रात, बासी सा अंधेरा जैसे वाक्यों के द्वारा आधुनिक जीवन की निरर्थकता को अभिव्यक्ति प्रदान की गई है। यही नहीं कहीं-कहीं पात्रों में वैयक्तिकता की झलक भी नज़र आती है —“वह हमेशा ही कुछ खोजता रहता था—अगर कागज़ नहीं तो पेपर वेट। इस उपन्यास में प्रयुक्त शब्द सूक्ष्म संवेदना से ओतप्रोत नज़र आते हैं। कविता की लय, चित्रकला की चित्रमयता और संगीत के माधुर्य ने इसे अतिरिक्त सौष्ठव प्रदान किया है। रायना के जीवन के सुखपूर्ण और दुखपूर्ण क्षणों का चित्रण काव्यात्मक शैली में किया गया है।

उपेन्द्र नाथ अशक के उपन्यास ‘शहर में घूमता आईना’ में मृत्यु से साक्षात्कार को विषय बनाकर मानव के जीवन और उसकी नियति का कम शब्दों में मार्मिक और भव्य विवेचन प्रस्तुत किया गया है। मृत्यु को सामने देखने पर प्रियजन भी अजनबी हो जाते हैं और अजनबी पहचाने हुए लगते हैं। इस स्थिति में मानव का चरित्र उभरकर आता है। उसका अदम्य साहस, अलौकिक प्रेम और उसकी प्रवृत्तियाँ। उपन्यास में आईना का प्रतीक है चेतन जिसके माध्यम से जालंधर का प्रतिबिम्ब दिखाया गया है। आईना हीनता और कामग्रन्थियों से ग्रसित है, जो इन दृश्यों को असामान्य मनोदशा के क्षणों में ग्रहण करता है। चेतन अमुक्त कामवासना और पतनोन्मुख बुद्धिवाद का प्रतीक है। चेतन न रोमांटिक है, न ऐंटी रोमांटिक है और न बुद्धिवादी, वह केवल लेखक की डायल प्लेट है, जिसको घुमाने वाली मशीन लेखक है। सभी पात्र निम्न-मध्यमवर्गीय समाज का प्रतिनिधित्व करते दिखलाई देते हैं। चेतन की कुंठा और भटकन समूचे निम्नमध्यवर्ग की कुंठा और भटकन को अभिव्यक्त करती है। इन पात्रों में केवल चेतन उभरता है और वह भी लेखक का सांचा बनकर। इस उपन्यास का उद्देश्य अशक ने स्वयं कहा है, “यदि कहानी ने अपने कलेवर में संस्मरण, यात्रा विवरण और निबन्ध तक को समा लिया है जो उपन्यास क्यों न वैसा करे।” अशक जी मिसेज डेलोजे से प्रभावित नज़र आते हैं जो कि अपनी कृति में पूर्व प्रेमी और लंदन शहर के खास हिस्से को चित्रित करती हैं। उसी प्रकार अशक जी ने चेतन को प्रेमिका नीला की याद में जालंधर शहर में घुमाया है। इस उपन्यास में लेखक की दृष्टि में व्यक्ति का चित्रण प्रमुख रहा है या समाज का यह कहना मुश्किल है लेकिन चेतन के माध्यम से निम्नमध्यवर्गीय जीवन के चित्रण में व्यक्ति भी उभरता है और



समाज भी अतः यह कहना गलत नहीं होगा कि समाज के पार्श्व में व्यक्ति की अनुभूतियों, दुर्बलताओं और अभावों की अभिव्यक्ति अशक ने उपन्यास में की है।

नरेश मेहता के 'यह पथ बंधु था' में उन्होंने भावभूमि, संस्कार को प्रस्तुत किया है। यह उपन्यास बीसवीं शती के पूर्वार्द्ध के सामाजिक जीवन एवं राजनीतिक मूल्यों एवं मान्यताओं पर आधारित है। श्रीधर बाबू एक व्यक्ति न होकर प्रतीक बन गए हैं, उन सब अज्ञात छोटे-छोटे लोगों के जो उस काल के राष्ट्रीय संघर्ष, परम्परागत निष्ठा तथा वैष्णव मूल्यों के लिए चुपचाप होम हो गए। उपन्यासकार द्वारा इस साधारणजन को महत्व दिया गया है। मेहता अपनी भाषा, संस्कार और शिल्प के लिए विशिष्ट माने जाते हैं।

रमेश बक्शी का उपन्यास 'चलता हुआ लावा' प्रतीकात्मक उपन्यास है। कथावक्ता अर्थात् नायक स्वयं दुनिया के दबावों से मुक्ति इच्छा का और आधुनिक विश्व की समस्याओं का प्रतीक है। तलधर मृत्यु का प्रतीक है और डाकू दुनिया वालों के प्रतीक हैं। कथावक्ता की अपनी पत्नी के साथ राजाराम की तरह न पटना, रोरव नरक, कुम्भीपाक नरक और शाल्मलि नरक आदि का उल्लेख है और अन्य स्थल पर आत्महत्या के कारण प्रेतयोनि का मिलना और आत्मा का छटपटाते रहना आदि विश्वासों में मिथकीय प्रतीकों की सुंदर अभिव्यक्ति हुई है। उपन्यास का मुख्य उद्देश्य जीवन और जगत के बाह्य दबावों की प्रतीकात्मक रूप से अभिव्यक्ति करता है। बंधनों से मुक्ति की यह कामना उपन्यास में अनेक स्थलों पर अभिव्यक्त हुई है। रमेश बक्शी ने अनेक मानवीय अनुभूतियों को विविध बिम्बों, रूपकों और उपमाओं के माध्यम से चक्षुर्मूर्त करने का प्रयास किया है। यह नई अनुभूतियां अपनी कलात्मक विधियों के साथ उपन्यास में पृष्ठ-पृष्ठ पर बिखरी हुई हैं और शिल्पगत वैशिष्ट्य को ही रेखांकित करती हैं। उपन्यास में संत्रास की विभिन्न भंगिमाओं और स्थितियों के माध्यम से जीवन और जगत में परिव्याप्त संत्रास का चित्रण किया गया है। संत्रास और मृत्युबोध की भांति उपन्यास में व्यावहारिक जीवन की एब्सर्डिटी को भी साकार किया गया है यथा अर्थी पर स्वयं को रस्सियों से बंधा पाकर यह सोचना कि शायद मैं अपनी प्रेमिका के साथ सोया होऊं और ये लोग मुझे बांध लाए हो आदि। कथावक्ता की मृत्यु पर डॉक्टर का कथन भी जीवन के विरोधाभासों की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति ही जान पड़ता है। प्रतीक भावों को सम्प्रेषित करने का सरल माध्यम होते हैं, इसलिए समकालीन उपन्यासों में इनका प्रयोग बहुतायत होने लगा है।

## 6. नवीन शिल्प प्रयोग

काव्य में नये प्रयोगों का दौर प्रारम्भ होने का प्रभाव कहानी के माध्यम से उपन्यास साहित्य पर भी पड़ा। डॉ. बच्चनसिंह लिखते हैं कि पूर्ववर्ती लेखकों में जैनेन्द्र और अज्ञेय ने प्रयोगों में कहानी और चरित्र का पूरा ध्यान रखा था, पर इस दौर में कहानी का तत्व क्षीण हो गया, जिससे कथानक का पुराना रूप विघटित हो गया तथा अपने क्रियाकलाप के प्रति सचेत

एवं तराशे हुए पात्र नहीं रह गये। जिन्दगी पूरे तौर पर विश्लेषित न होकर चेतना—प्रवाह और स्वप्न दृष्टि के साथ जुड़ गयी। प्रतीक, टाइम—शिफ्ट आदि के द्वारा उपन्यासों में नये शिल्प के दर्शन हुए।<sup>45</sup> इस कोटि के उपन्यासों में मोहन राकेश, निर्मल वर्मा, प्रभाकर माचवे, धर्मवीर भारती, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, राजेन्द्र यादव, अज्ञेय आदि के कतिपय उपन्यासों को लिया जा सकता है।

सामान्यतया शिल्प का अर्थ रचना प्रक्रिया से लिया जाता है। साहित्य में शिल्प वह होता है जिसके भीतर किसी रचना को सुव्यवस्थित ढंग से संवार लिया जाता है। शिल्प विधि के कुछ तत्व होते हैं जैसे कथानक, पात्र, चरित्र, देशकाल, शैली और उद्देश्य आदि। प्रेमचंदयुगीन परम्परा के साथ ही क्रान्तिकारी चेतना का विकास उपन्यासों में हुआ। प्रेमचंदोत्तर उपन्यासों में सामाजिकता और व्यक्तिनिष्ठता की दो धाराओं का विकास हुआ। इन दोनों धाराओं को पाश्चात्य रचनाकारों हेनरी जेम्स, जेम्स ज्वायस आदि ने प्रभावित किया किन्तु सामाजिक और वैयक्तिक समस्याओं के चित्रण में प्रेमचंद आदर्श कामयाबी हासिल नहीं कर सका और रचनाकारों को नवीन विधा तलाश करनी पड़ी। उसी समय जैनेन्द्र ने हिन्दी उपन्यासों को मनोवैज्ञानिक चेतना प्रदान की। उनके उपन्यासों में मानव के मन के भीतर के विचारों का विश्लेषण मिलता है। हिन्दी लेखकों ने अपनी रचनाओं में शिल्प सम्बन्धी अभिनव प्रयोग करने आरम्भ किए —डायरी शैली, चेतना प्रवाह, शैली आदि नवीन शैलियों को अपनाते हुए कथा साहित्य के कलात्मक पक्ष को भी समृद्ध करने का प्रयास किया है। समकालीन उपन्यासों में प्रचलित शैलियों का वर्णन अग्रलिखित है —

### आत्मकथात्मक शैली

उपन्यासकारों ने उपन्यासों के प्रमुख पात्र या पात्री बनकर या फिर पात्र या पात्री का स्थान ग्रहण करके प्रथम पुरुष की ओर से कथा का वर्णन करना आरम्भ किया। इसी शैली को आत्मकथात्मक शैली कहा जाता है। यह शैली पाश्चात्य उपन्यासों में प्रचलित थी। वे दिन उपन्यास में इस शैली का प्रयोग किया गया है। इसमें नायक का नाम नहीं पाया जाता है इसलिए ऐसा लगता है कि कथा कहने वाला उपन्यासकार स्वयं है। जैसे —“मैं खिड़की के शीशों को पौछने लगा, सामने दूसरे मकान थे जर्द और पुराने। दिसम्बर की हल्की पीली रोशनी गीले पत्थरों पर गिर रही थी। मैंने तपता माथा खिड़की के ठंडे आईने पर रख दिया।”<sup>46</sup> इस तरह से स्वाधीनता के पश्चात् हिन्दी उपन्यासों में नवीन शैली में का आरम्भ हुआ जिससे रचना और रचनाकार के बीच का फासला मिट गया और रचनाकार स्वयं सहभागी बनकर उपन्यास में अवतरित हुआ। अपने—अपने अजनबी में भी इस शैली का प्रयोग हुआ है —मेरे सिर के रूखे—सूखे, अस्त—व्यस्त बाल, घनी घास से भरी क्यारियों की तरह दो गलमुच्छे और उन गलमुच्छों के अगल—बगल और नीचे फैले हुए, एक हपते से न छीले गये, फसल के काटने के

बाद शेष रह जाने वाले सूखे खूंटों की तरह छितराये हुए दाढ़ी के बाल, क्षय रोग के दसवें दिन मुर्दे उठ बैठते हैं और किसी फरिश्ते के सामने अपना हिसाब-किताब करने के लिये हाजिर होते हैं। लेकिन इस कब्रगाह में हम दो ही हैं और उठ बैठने का कोई सवाल ही नहीं है, तो फरिश्ता भी किसे समझा जाए।<sup>47</sup> कायदे से तो इस समय हमें साथ बैठकर क्रिसमस के आगमन का अभिनन्दन करना चाहिए था, लेकिन हम लोगों में बिना बहस के ही यह मौन समझौता हो गया कि रात को देर तक नहीं बैठा जायेगा।<sup>48</sup>

## डायरी शैली

समकालीन उपन्यासों में दूसरी शैली का प्रचलन हुआ जो कि वैयक्तिक दस्तावेज थी—डायरी। जिसमें कोई व्यक्ति अपनी निजी बातें अंकित करता है। उपन्यासकारों ने युग यथार्थ के सम्प्रेषण के लिए इसे अपनाना आरम्भ किया। अज्ञेय के अपने-अपने अजनबी के प्रथम भाग में योके की डायरी के रूप में इसे लेखनीबद्ध किया गया है। यहां उपन्यासकार ने योके के मन के अंतरंग रेशों को खोल के रख दिया है। योके और सेल्मा बर्फ के नीचे दब गई थी और दोनों एक-दूसरे से ऊब गई थी। यह वृत्तान्त डायरी के 15 दिसम्बर, 16 दिसम्बर, 19 दिसम्बर, 21 दिसम्बर, 22 दिसम्बर, 25 दिसम्बर और 30 दिसम्बर दिनांकों में चित्रित है। “5 जनवरी फिर भी वही एकरूपता, एकरसता। अब लगता है कि इस डायरी का सहारा भी छूट जायेगा, क्योंकि इसमें भी लिखने को कुछ नहीं है। दोहराने को ही है।”<sup>49</sup> इस प्रकार अपने-अपने अजनबी में डायरी के माध्यम से योके की मनःस्थिति का चित्रण किया गया है।

## पत्र शैली

उपन्यास लेखन की एक और शैली पत्र शैली का आरम्भ भारतेन्दु युग में हुआ। यह शैली पाश्चात्य उपन्यासकारों की थी। स्वाधीनता प्राप्ति के बाद उपन्यासों में अनेक शैलियों का प्रयोग किया गया जिससे जटिल मानसिकता एवं व्यक्तित्व वाले पात्रों के अन्तःमन को अनावृत्त किया जा सके। ‘अंधेरे बंद कमरे’ का हरबंस विदेश जाने के बाद नीलिमा को पत्र लिखता है। दो महीने में हरबंस ग्यारह पत्र लिखता है। नीलिमा को विदेश आने के लिए आग्रह करता है। यह पत्र शैली पाठकों को हरबंस के अन्तर्मन की पीड़ा और संघर्ष को समझने में सहायता करते हैं। इन पत्रों के माध्यम से पात्र की मनःस्थिति का पता चलता है कि पात्र मन की बात प्रत्यक्ष नहीं कह पाता तो वह पत्र के माध्यम से परोक्ष शैली में अपनी बात समझा सकता है। ‘न आने वाला कल’ में शोभा मनोज के सम्बन्ध विच्छेद के बाद पत्र लिखती है, जिन बातों को शोभा मनोज के साथ रहते हुए प्रकट नहीं कर पाती थी, उन बातों को पत्र में लिखकर अपने पवित्र और तेजस्वी मन को उजागर करती है। “क्या तुम्हें नहीं लगता कि तुम्हारा यह रवैया कितना तर्कहीन, न्यायहीन और दुराग्रहपूर्ण रहा है? तुम्हारे साथ बिताये दिनों की बात सोचती हूँ तो मैं एकदम बौखला जाती हूँ।”<sup>50</sup>

## पूर्वदीप्ती / फलैशबैक पद्धति -

‘अंधेरे बन्द कमरे’, ‘शेखर एक जीवनी’ आदि उपन्यास इसी शैली में लिखे गए हैं। “अंधेरे बंद कमरे” की कथावस्तु चार खण्डों में विभाजित की गई है। मनोदशा का चित्रण करने के लिए उन्होंने नए प्रतीकों और नवीन उपमानों का प्रयोग किया है— “वह दूर-दूर तक देखता हुआ भी कुछ नहीं देखता परन्तु उसे न देखने में दृश्यहीनता नहीं है। दृश्य पर अंधेरा है परन्तु वह अंधेरा एक निर्जीव विस्तार नहीं है उसमें चेतना है, गति है रूप भी है।”<sup>51</sup> इस प्रकार सरलता, सूक्ष्मता और मूर्तता उपन्यास की भाषा को अधिक काव्यमय बनाते हैं। उपन्यासों में एक और महत्वपूर्ण शैली का प्रयोग दिखलाई देता है जिसे फलेश बैक या पूर्वदीप्ति शैली कहते हैं। इसमें पात्र की स्मृति में कुछ घटनाओं को दिखाकर उसकी याद को ताजा करने के लिए इसे अपनाया जाता है। निर्मल वर्मा के उपन्यास ‘वे दिन’ में नायिका रायन अपने प्रेमी और पति के साथ तीन वर्ष पूर्व गुज़ारे गए दिनों की याद करती है। समस्त घटनाओं का इतना सजीव वर्णन है कि वह स्मृति नहीं लगती। ‘टापू पर नीला झुरमुद, पवेलियन की छत, पुल पर जलते लैंप पोस्ट वे अलग थे, अपने में तटस्थ। सिर्फ एक चीज उसमें तटस्थ नहीं थी वह अदृश्य थी और हमसे बंधी हुई एक वाल्स ट्यूब।’ इस उपन्यास का आरम्भ स्मृति के आलोक में ही हुआ है और समाप्त होने के बाद स्मृतियां शेष रह जाती हैं।

‘अंधेरे बंद कमरे’ उपन्यास में हरबंस और नीलिमा की कहानी भी पूर्वदीप्ति पद्धति से ही प्रस्तुत की गई है। ‘रात्रि के सन्नाटे में हरबंस उस घर की बात करने लगता है जिसमें वे लोग लंदन में रहते थे।’ अज्ञेय के अपने-अपने अजनबी में सेल्मा द्वारा योके की मृत्यु के पूर्वानुभव सुनाए जाते हैं। सेल्मा उस भयावनी स्थिति का वर्णन करती है जब बाढ़ से घिरे हुए पुल पर उसे मृत्यु का साक्षात्कार किया था।

### वर्णनात्मक शैली

नरेश मेहता अपने उपन्यासों के माध्यम से जीवन के वैविध्य और जटिलताओं का चित्रण किया है। वह मनुष्य के दिलोदिमाग की गहराइयों में उतरने की कोशिश करते हैं। उनके उपन्यासों में मानवीय सम्बन्ध और बदलते समाज की झलक मिलती है। आधुनिक युग बोध और यथार्थ भावबोध के व्यापक परिप्रेक्ष्य में सामाजिक संदर्भों को नरेश मेहता ने उभारने का प्रयत्न किया है। विदेशी साहित्य और चिंतन का प्रभाव भी इनके उपन्यासों पर दिखलाई देता है। उन्होंने मानवीय चेतना और समाज के यथार्थ रूप को प्रकट किया है। उन्होंने अपने उपन्यासों में जाति-पांति, वर्ण व्यवस्था, शोषण आधारित सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने वाले संस्कार, धर्म और आस्था तथा तरह-तरह की परम्पराओं की लम्बी ऐतिहासिक प्रक्रिया आदि का सूक्ष्म चित्रण किया है। वह अपने ही नहीं प्रत्येक कोलाहल की कथा लिखना चाहते थे। वह कोलाहल की कथा व्यक्ति के माध्यम से समष्टि की भी हो सकती थी और समष्टि के

माध्यम से व्यक्ति की भी। यह उनकी प्रगतिशील दृष्टि थी जो उनकी रचनाओं में निरन्तर विकसित होती गई।

आधुनिकता उनके लिए एक स्थिति है। स्थितियां परिवर्तनशील ही होती हैं। नरेश जी अपने समय में जो हैं इस समय को देखने की अपनी दृष्टि है और समय को परखने के उनके अपने निष्कर्ष हैं। उन्होंने दोनों ही सीमाओं के मध्य सामन्जस्य स्थापित कर एक ऐसे दृष्टिकोण को निर्मित एवं विकसित किया है जिसे प्रत्येक दृष्टि से प्रगतिशील कहा जा सकता है। धर्म जड़ता नहीं, मनुष्य की उर्ध्वगामी चेतना है। यही चेतना मनुष्य को पशु से पृथक करती है। मनुष्य को मनुष्य सिद्ध करने वाला तत्व भी यही है। यही धर्म मानवीय रिश्तों के ताने-बाने में गुँथकर सामूहिक शक्ति बन जाता है। इस दृष्टि से नरेश जी के उपन्यास भारतीय दृष्टि के उपन्यास हैं।

### प्रतीकात्मक शैली

उपन्यास 'चलता हुआ लावा' प्रतीकात्मक शैली में लिखा गया उपन्यास है। उपन्यास 'चलता हुआ लावा' में रमेश बक्शी ने कथावक्ता के बैग का बस की भीड़ में फंसना कथावक्ता की दशा को अभिव्यक्त किया है। बस की भीड़ के संघर्ष को दिखाते हुए बिगड़े हुलिए की अवस्था में कथावक्ता का पोस्टर में एक सरासर मजनु किस्म के हीरो का लड़की के आगे घिघियाते देखना आदि अलग उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। स्थूल दृष्टि से देखने पर यह शिल्प प्रधान उपन्यास उद्देश्यरहित लगता है किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर इसकी सोद्देश्यता संदिग्ध नहीं मानी जा सकती। लेखक ने स्थल-स्थल पर रूढ़िवादी लोगों के संकीर्ण विचार-बिन्दुओं पर गहरे कटाक्ष किए हैं। इसी प्रकार भूत-प्रेत सम्बन्धी अंधविश्वासों पर भी व्यंग्य किए हैं। यद्यपि उपर्युक्त चित्रण प्राचीन उपन्यासों में ही किया जाता था किन्तु उपन्यास में इनके प्रस्तुतिकरण का ढंग नवीन है जो लेखक की प्रगतिशील अभिरूचियों का सूचक है।

### 6. वैज्ञानिक चेतना और संकेत बोध

आधुनिकता का अर्थ उन नए और अनोखे अनुभवों से है जिन्हें हम वैज्ञानिक-औद्योगिक सभ्यता के अनुभव से सीखते हैं। इस सभ्यता का जन्म यद्यपि पश्चिम में बहुत पहले ही हो चुका था किन्तु बीसवीं सदी से यह पूर्ण विश्व पर छा गई। पहली बार जीवन और जगत को रूढ़ियों और अंधकार से हटकर यथार्थ और वैज्ञानिक दृष्टि से देखना आरम्भ हुआ। विज्ञान की उन्नति ने मनुष्य को तार्किक बुद्धि, संतुलित और स्वतंत्र सोच प्रदान की। गांवों के स्थान पर नगरों का विकास हुआ। मार्क्स और फ्रायड चिंतकों के कारण धार्मिक भावनाओं पर पुनर्चिंतन आरम्भ हुआ। मनुष्य की भावुकता कम होती गई और बौद्धिक जागरूकता चेतन हुई। इस चेतनता ने पम्परागत रूढ़ियों को हटाकर यथार्थ को स्थापित किया। नैतिकता के मानदण्ड टूटने लगे और आस्थाओं के स्थान पर अवसाद, भय, निराशा, आशंका, संशय और आतंक आदि

से मन विचलित हो उठा। इसी आधुनिकता बोध के फलस्वरूप हिन्दी उपन्यासों में एक नवीन विधा का प्रचलन प्रेमचंदोत्तर काल में आरम्भ हुआ जिसमें व्यक्ति की मानसिकता, उसके अन्तर्मन का विश्लेषण करके यथार्थ और मन का मंथन प्रस्तुत किया जाने लगा जिससे उपन्यासों में गहराई तो आई। यद्यपि यह शैली पाश्चात्य उपन्यासकारों से प्रभावित रही किन्तु इसकी सफलता ने अन्य उपन्यासकारों को इसे अपनाने का मार्ग दिखलाया।

यह विश्लेषणात्मक शिल्प विधि हिन्दी के औपन्यासिक क्षेत्र में एक मार्मिक मोड़ सिद्ध हुई। इस शिल्प विधि के अन्तर्गत उपन्यासकार विषय वस्तु, विचार और वातावरण को नए ढंग से प्रस्तुत करने लगे। इस विधि में विषय वस्तु की दृष्टि से उपन्यासकारों द्वारा जीवन के विस्तृत परिवेश के स्थान पर उसके किसी एक पहलू पर विशेष प्रकार से प्रकाश डालना आरम्भ किया गया। इस विधि का मूल था मनोविज्ञान जिसमें उपन्यासकार स्वयं के तत्वों को पात्रों के माध्यम से व्यक्त करता था। 'शेखर : एक जीवनी' में इस शिल्पविधि का प्रयोग हुआ है। अज्ञेय ने शेखर के माध्यम से उसके अदम्य अहं और असाधारण व्यक्तित्व की शक्ति को दिखलाया है। यह उपन्यास चरित्र प्रधान होने के साथ ही उसका विश्लेषण भी प्रस्तुत करता है। उपन्यास में शेखर स्वयं आत्म विश्लेषण की शैली में आकर कथाकार से तादात्म्य स्थापित करता है। जीवनी के दूसरे भाग में अज्ञेय ने लिखा है " मैं शेखर की कहानी लिख रहा हूँ क्योंकि मुझे उसमें से जीवन के अर्थ के सूत्र पाने हैं किन्तु एक सीमा ऐसी आती है जिससे आगे मैं अपनी और शेखर की दूरी नहीं रख सकता। उस दिन का भोगने वाला और आज वृत्ताकार दोनों एक हो जाते हैं क्योंकि अन्ततः उसके जीवन का अर्थ मेरे ही जीवन का तो अर्थ है और जो सूत्र मुझे पकड़ने हैं, खोजने हैं और उनके प्रति मैं अनासक्त नहीं हूँ।"<sup>52</sup> अज्ञेय की शैली में बौद्धिकता है। शेखर कोठरी में बंद है वह घनीभूत वेदना की काली रात में देखे हुए दृश्य को शब्द देता है यही बौद्धिक विश्लेषण है जो मृत्यु और जीवन की व्याख्या कर रहा है "शायद मृत्यु का ज्ञान और जीवन की कामना एक ही चीज है? यह बहुत बार सुनने में आता है कि जीना वही चाहता है जो मरना चाहता है। यह नहीं सुना जाता कि जीवन सबसे अधिक प्यारा उसको होता है जो मरना चाहता है।"

आचार्य नंद दुलारे वाजपेयी कहते हैं कि " इसे हम उपन्यास नहीं कह सकते क्योंकि इसमें एक ही पात्र का चरित्र चित्रित किया है और वह भी नितांत एकरस। घटनाएं और परिस्थितियां आती हैं और जाती हैं किन्तु शेखर अपनी ही गति से चलता है। आरम्भ में उसका चरित्र जिस ढांचे में ढल गया है अंत तक वही सांचा दिखलाई देता है किन्तु जीवनी में बहुत से स्थल औपन्यासिक भी हैं। विशेषतः दूसरे भाग में जैसे लाहौर कॉलेज, जीवन के चित्र आदि। जीवनी में एक विशालता अवश्य है किन्तु औपन्यासिक विशालता नहीं। घटनाओं परिस्थितियों और चरित्रों का संघर्ष किसी बड़े पैमाने पर नहीं पाया जाता।"<sup>53</sup> इस प्रकार अज्ञेय चरित्रों के सही रूप को बाहर लाने में विश्लेषण का सहारा लेते हैं। 'शेखर एक जीवनी' के पहले भाग में

शेखर का बाल जीवन संस्मरण है जिसमें मनोविज्ञान का समावेश नज़र आता है। दूसरे में यौवन की अनुभूतियाँ हैं जो भी मनोवैज्ञानिक विश्लेषण पर आधारित हैं। पहले भाग में शेखर के बाल मनोविज्ञान मुक्त आसंग विधि का प्रयोग किया गया है। शेखर का मन बालमन जैसा है उसे जो समझना है वह समझने के लिए वह हर सम्भव कोशिश करता है और जब वह नहीं समझ पाता तो विचार विश्लेषण कर कुंठित हो जाता है। इस उपन्यास में आत्म निरीक्षण का बाहुल्य देखने को मिलता है किन्तु दूसरे भाग में विश्लेषण की सीमा बहुत कम हो गई है। उपन्यास में कथा, घटनाएं और विवरण अधिक हैं और शेखर का मन विश्लेषण बाह्य निरीक्षण विधि और प्रयोग विधि के साथ प्रस्तुत है।

नरेश मेहता ने अपने उपन्यासों में आधुनिक काल की परिवर्तनशील सामाजिक परिस्थितियों में व्यक्ति में अन्तर्निहित वास्तविकता का अनावरण किया है। उन्होंने अपने जीवनानुभवों से प्राप्त तथ्यों को अपने उपन्यासों में वाणी देने का प्रयास किया है। समकालीनता के मूल्यों एवं पद्धतियों को यथार्थ धरातल पर पूर्ण आधुनिक संदर्भ में प्रस्तुत किया है उन्होंने आधुनिक परिवर्तित संदर्भों में मानव के प्रगतिशील दृष्टिकोण उनके उपन्यासों में प्रतिध्वनित होता है। उन्होंने मानवीय पीड़ा का वर्णन किया है साथ ही साथ नारी उत्पीड़न की समस्या को प्रत्येक उपन्यास में उभारा है। 'यह पथ बंधु था' उपन्यास के बारे में उनका कहना है कि " इतिहास सफल, क्रूरों तथा महापुरुषों का ही होता है जबकि हमारी स्मृतियों में ऐसे अनेक साधारणजन होते हैं जो व्यक्ति भी नहीं बन पाते केवल संख्या होते हैं लेकिन हम जानते हैं कि ये असफल सामान्य जन इतिहास न हो, महापुरुष न हो किन्तु मानुष होते हैं। उपन्यास में ऐसे ही साधारण व्यक्ति को व्यक्तित्व दिया गया है। परिपार्श्व आंचलिक है किन्तु शील निरूपण में सार्वजनिकता रखी गई है।"<sup>54</sup> उपन्यास 'चलता हुआ लावा' में पिता द्वारा कथावक्ता को 'परमाणु' का संबोधन बीसवीं शताब्दी की वैज्ञानिक चेतना का प्रभाव स्पष्ट करता है। उपन्यास में परमाणु का अर्थ स्पष्टीकरण किया गया है। इस प्रकार मुख्यतया फैंटेसी शैली में लिखा होने पर भी प्रस्तुत उपन्यास समसामयिक युगचेतना पर भी आलोक रश्मियाँ विकीर्ण करता है।

मनुष्य जीवन गतिशील है और इस गतिशीलता के साथ-साथ जीवन में नूतन प्रयोग करना मनुष्य का स्वभाव है। समकालीन उपन्यासकारों ने मनुष्य के समकालीन जटिल जीवन को अभिव्यक्ति देने के लिये ही उपन्यासों में इस प्रकार के संकेत दिये हैं। उपन्यासकार अपने अनुभूत सत्य के सम्प्रेषण के लिये विभिन्न शैलियों का समावेश करते दिखाई देते हैं।

## सन्दर्भ ग्रन्थ

---

- 1 चतुर्वेदी रामस्वरूप : अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या पृ. 18
- 2 अज्ञेय : अपने अपने अजनबी, पृ. 47
- 3 अज्ञेय : अपने अपने अजनबी, पृ. 63
- 4 अज्ञेय : अपने अपने अजनबी, पृ. 80
- 5 अज्ञेय : अपने अपने अजनबी, पृ. 89
- 6 अज्ञेय : अपने अपने अजनबी, पृ. 118
- 7 प्रियंवदा उषा : पचपन खम्भे लाल दीवारें, पृ. 28
- 8 अज्ञेय : शेखर एक जीवनी की भूमिका, भाग-2, पृ. 30
- 9 अज्ञेय : शेखर एक जीवनी, पृ. 236
- 10 प्रभाकर ओम : अज्ञेय का कथा साहित्य, पृ. 68
- 11 मिश्र ब्रह्मदेव : अज्ञेय और उनका उपन्यास संसार, पृ. 93
- 12 अज्ञेय : शेखर एक जीवनी, पृ. 42
- 13 तिवारी पूनमचंद : अज्ञेय और उनका साहित्य, पृ. 176
- 14 वर्मा निर्मल : वे दिन, पृ. 176
- 15 वर्मा निर्मल : वे दिन, पृ. 179
- 16 वर्मा निर्मल : लाला टीन की छत, पृ. 107
- 17 वर्मा निर्मल : लाला टीन की छत, पृ. 158
- 18 वर्मा निर्मल : लाल टीन की छत, पृ. 187
- 19 वर्मा निर्मल : लाल टीन की छत, पृ. 195
- 20 Harvey W.J. : Character and the novel; Pg. 122
- 21 बक्षी रमेश : चलता हुआ लावा : पृ. 73
- 22 प्रियंवदा उषा : पचपन खम्भे लाल दीवारें, पृ. 16
- 23 प्रियंवदा उषा : पचपन खम्भे लाल दीवारें, पृ. 17
- 24 प्रियंवदा उषा : पचपन खम्भे लाल दीवारें, पृ. 17
- 25 प्रियंवदा उषा : पचपन खम्भे लाल दीवारें, पृ. 12
- 26 प्रियंवदा उषा : पचपन खम्भे लाल दीवारें, पृ. 11
- 27 प्रियंवदा उषा : पचपन खम्भे लाल दीवारें, पृ. 9
- 28 प्रियंवदा उषा : पचपन खम्भे लाल दीवारें, पृ. 11
- 29 प्रियंवदा उषा : पचपन खम्भे लाल दीवारें, पृ. 56
- 30 राकेश मोहन : न आने वाला कल, पृ. 16
- 31 राकेश मोहन : न आने वाला कल, पृ. 126
- 32 वर्मा निर्मल : वे दिन, पृ. 92
- 33 वर्मा निर्मल : वे दिन, पृ. 163
- 34 प्रखर, श्री लाल चन्द्र : कहानी दर्शन, पृ. 311
- 35 अज्ञेय : अपने अपने अजनबी : पृ. 104
- 36 अज्ञेय : शेखर एक जीवनी : पृ. 93
- 37 वर्मा निर्मल : वे दिन : पृ. 211
- 38 सिंह नामवर : कहानी, नयी कहानी, पृ. 53
- 39 अज्ञेय : अपने अपने अजनबी, पृ. 21
- 40 वर्मा निर्मल : वे दिन, पृ. 57
- 41 वर्मा निर्मल : लाल टीन की छत, पृ. 55-56
- 42 वर्मा निर्मल : लाल टीन की छत पृ. 91
- 43 अज्ञेय : अपने अपने अजनबी : पृ. 21
- 44 वर्मा निर्मल : वे दिन : पृ. 105



- 
- 45 सिंह डॉ. बच्चन : हिन्दी साहित्य का इतिहास, सम्पादक नगेन्द्र, पृ. 686  
46 वर्मा निर्मल : वे दिन, पृ. 8  
47 अज्ञेय : अपने अपने अजनबी, पृ. 17  
48 अज्ञेय : अपने अपने अजनबी, पृ. 27  
49 अज्ञेय : अपने अपने अजनबी, पृ. 31  
50 न आने वाला कल : वर्मा निर्मल, पृ. 56  
51 राकेश मोहन : अन्धेरे बन्द कमरे, पृ. 241-242  
52 अज्ञेय : शेखर एक जीवनी, पृ.सं. 131  
53 वाजपेयी आचार्य नन्द दुलारे : आधुनिक साहित्य, पृ. 174  
54 मेहता नरेश : यह पथ बन्धु था, पृ. 19

षष्ठ  
अध्याय

## षष्ठ अध्याय

### अनुभूति और कथ्य सौन्दर्य

साहित्य में शिल्प वह है जिसके भीतर किसी रचना को सुव्यवस्थित ढंग से संवार लिया जाता है। कथा साहित्य के कुछ प्रमुख तत्व होते हैं चाहे वह छोटे हो या बड़े। उपन्यासों में संवाद का काफी महत्व होता है। अपने अन्तर्मन की बात को सम्प्रेषित करने का माध्यम संवाद ही होते हैं। यह संवाद रचनाकार के कर्म को सार्थकता प्रदान करते हैं। पाठकों तक अपनी अनुभूति को पहुंचाने का माध्यम संवाद ही होते हैं। समकालीन उपन्यासों में जहाँ मनुष्य की जटिल अनुभूतियों को विषय बनाया गया है। वही उनके कथ्य सौन्दर्य में भी परिवर्तन परिलक्षित होता है। जिसका विस्तार से विवेचन अग्रलिखित है।

#### 1. कथ्य की नवीनता

अज्ञेय मूलतः मानव मन के आभ्यन्तर कथा शिल्पी हैं। अज्ञेय के उपन्यासों में वैयक्तिकता का चित्रण अधिक देखने को मिलता है। वह सामाजिक जीवन को उसके वास्तविक रूप में चित्रित करने की अपेक्षा एक व्यक्ति को विभिन्न परिस्थितियों में रहने की व्यथा का चित्रण करते हैं। इनका लक्ष्य मानव मस्तिष्क के आन्तरिक संघर्ष को दिखाना है। इनकी रचनाएं पाश्चात्य दर्शन और विचार पद्धति से प्रभावित दिखलाई देती हैं। अज्ञेय ने भोगे हुए यथार्थ का सम्बल लेकर पात्रों में स्वाभाविकता लाने का प्रयास किया है। उनके पात्र भारत के आम लोगों का प्रतिनिधित्व नहीं करते बल्कि वह प्रतीक से लगते हैं। 'शेखर : एक जीवनी' इसका एक उदाहरण है। स्त्री-पुरुष सम्बन्धों में नए सामंजस्य की चेतना प्रकट करने में उन्होंने अग्रगामिता का परिचय दिया है। उनके पात्र एक विशेष प्रकार के प्रयोजन की पूर्ति के गढ़े हुए हैं। इस उपन्यास में बालमनोविज्ञान के सिद्धान्तों का समावेश किया गया है। माता-पिता और बहन के विचारों का असर शिशु मन पर किस ढंग से होता है कि शेखर घृणा का शिकार बन जाता है। यह उपन्यास कथा प्रधान नहीं होकर विचार प्रधान है। उपन्यास चरित्र प्रधान है इसलिए इसे चरित्रप्रधान उपन्यास कहना अधिक उपयुक्त होगा। यह हिन्दी उपन्यास के एक मोड़ के रूप में माना जा सकता है। अपने उपन्यासों में अज्ञेय ने पात्रों का मनोविश्लेषणात्मक रूप से विश्लेषण करने का प्रयत्न किया है। यह उपन्यास शिल्प और विचार की दृष्टि से कई अपूर्वताएं रखता है। बदलते युग के व्यक्ति की मानसिकता और संवेदना और विचार के स्तरों का उन्मीलन इस उपन्यास को कालजयी बनाता है। अज्ञेय ने परिचय में लिखा है "शेखर कोई बड़ा आदमी नहीं है लेकिन वह मानवता के संचित अनुभव के प्रकाश में ईमानदारी से अपने को पहचानने की कोशिश कर रहा है।"<sup>1</sup>

अपने-अपने अजनबी में कथानक अत्यन्त सीमित है। यह प्रतीकात्मक तो है पर साथ ही दुखान्त भी है। पात्रों के माध्यम ये पूर्व और पश्चिम की मृत्यु सम्बन्धी मान्यताओं पर

विचार—विमर्श हैं। 'अपने—अपने अजनबी और 'शेखर: एक जीवनी' में मृत्यु भय से आगृहित मन का चिंतन है। लेखक स्वयं यह स्वीकार करता है कि मूल समस्या तो वही है अंतर केवल यह है कि शेखर के सामने प्रश्न यह था कि मेरी मृत्यु की सिद्धि क्या है? यानी मैं मर जाता हूँ तो कुल मिलाकर मेरे जीवन का अर्थ क्या हुआ? पर यहां यह है कि जीवन मात्र के नक्शे में मृत्यु मात्र का स्थान है और यहां मैंने दो दृष्टियों को सामने लाने की कोशिश की है।<sup>1</sup> एक तो मोटे तौर पर पूर्व की कह सकते हैं और दूसरे को पश्चिम की। यह पूर्व की दृष्टि सेल्मा की है और पश्चिम की दृष्टि योके की। 'अपने—अपने अजनबी' अपने कथ्य एवं शिल्प की दृष्टि से एकदम आधुनिक है। इसका कथानक बहुत सीमित है, यह प्रतीकात्मक होने के साथ—साथ दुखान्त भी है। वास्तव में यह अस्तित्ववादी चेतना से अनुप्राणित औपन्यासिक धारा की शुरुआत है। इसके पात्रों के माध्यम से पूर्व और पश्चिम की मृत्यु सम्बन्धी मान्यताओं पर विचार—विमर्श हुआ है।

'शेखर: एक जीवनी' में उपन्यास का केन्द्र शेखर का चरित्र है। जिसका निर्माण ही उपन्यास का कथ्य है। उपन्यास के सभी चरित्र शेखर के मानसिक द्वन्द और चिन्तन को उजागर करने के लिये बनाए गए हैं। उपन्यास के सभी पात्र शेखर की स्मृति के अंग हैं और शेखर के जीवन को प्रभावित करने वाले। निर्मल वर्मा का 'वे दिन' उपन्यास कथ्य और शिल्प की दृष्टि से नवीन जीवन बोध को प्रमाणित करने वाली कृति है। आज के युग की संवेदना, पीड़ा, अलगाव की अनुभूति, अतीत से कटकर जीने की समस्या, वर्तमान को सब कुछ मानने की तीव्र लालसा, अजनबियों के बीच का जीवन आदि अनेक आधुनिक जीवन के आयामों का दर्शन इस उपन्यास में होता है।

मोहन राकेश के उपन्यास 'अन्धेरे बन्द कमरे' में दाम्पत्य जीवन की यन्त्रणा के और एक पहलू का पर्दाफाश होता है। यहाँ लेखक बदलते परिवेश में मूल्यों के विघटन की ओर इशारा करते हैं। नीलिमा महत्वाकांक्षी नारी है। यद्यपि हरबंस और नीलिमा का विवाह प्रेम विवाह है तो भी विवाह के पश्चात् उनका जीवन विघटित हो जाता है। विवाह के प्रारम्भिक दिनों में हरबंस नीलिमा को सोसायटी के योग्य बनाता है। नीलिमा नये वातावरण की आदि हो जाती है परन्तु हरबंस पुराने संस्कारों से ग्रस्त पति ही बना रहता है। बाहरी तौर पर सारे नएपन को स्वीकारता है और भीतर ही भीतर घुटता रहता है। घनिष्ठता एवं एकात्म लगाव होने पर भी दोनों के दाम्पत्य जीवन सुगठित रूप से व्यतीत नहीं हो पाता। वे दोनों एक—दूसरे को अपने अंतरंग में पकड़ पाने में असमर्थ निकले। इसलिये हरबंस सन्देह करता है। वास्तव में ये ही जीवन की विडम्बना है। आन्तरिक द्वन्द मनुष्य का कहीं स्थिर नहीं रहने देता। हरबंस के माध्यम से मोहन राकेश ने आधुनिक व्यक्ति के अन्तर्द्वन्द को वाणी दी है।

निर्मल वर्मा के 'लालटीन की छत' में काया के माध्यम से उम्र के एक खास पड़ाव/अवस्था पर ध्यान केन्द्रित किया गया है। बचपन के अन्तिम कगार से किशोरावस्था के रूखे पाट पर बहता हुआ समय, जहाँ पहाड़ों के अलावा कुछ भी स्थिर नहीं है। इसी उपन्यास में आत्मा का अपना अकेलापन है तो देह की अपनी निजी सच्चाईयों के साथ अकेले होने की यातना भी है। बचपन से किशोरावस्था का विकास बाहरी तौर पर जितना सरल और स्वाभाविक

लगता है, आन्तरिक तौर पर उतना ही संवेदनशील है। लेखक ने इस विषय की संवेदना को पहचाना है।

मोहन राकेश के उपन्यास 'न आने वाला कल' में कथा नायक की दो समस्याएँ हैं – नौकरी छोड़ने की और पत्नी छोड़ने की। दोनों का सम्बन्ध एक से ही है, वह है बन्धनों से मुक्ति लेकिन वह जिस मुक्ति की तलाश में है वह एक भ्रम मात्र है। वास्तव में परिवेश प्रसूत नियति उसके इन दोनों कार्यों की निरर्थकता सिद्ध करती है। इस उपन्यास में मानसिक अन्तर्द्वन्द्व एवं अस्तित्ववाद के अतिरेक का दुष्परिणाम बताया गया है। मनोज अपने आन्तरिक द्वन्द्व को इन शब्दों में व्यक्त करता है : "दोनों चीजें सामने थी। स्कूल के जूनियर हिन्दी मास्टर के रूप में जिन्दगी मेरी अपनी जिन्दगी नहीं थी मुझे इसे लेकर कुछ करना था। लेकिन क्या? स्कूल से त्यागपत्र देने से शोभा के साथ अपने सम्बन्ध की स्थिति हल नहीं हो सकती थी। शोभा को अपने से काट लेने से स्कूल की यन्त्रणा से नहीं बचा जा सकता था, तो क्या आवश्यक नहीं है कि दोनों कदम साथ-साथ उठाए जाएं? लेकिन क्या यह सम्भव था और क्या इसमें कुछ हासिल हो सकता था।<sup>3</sup> अन्त में मनोज ने दोनों को सम्भव बनाया पर हासिल कुछ नहीं कर सका। वास्तव में मनोज के व्यक्तित्व में अधूरापन था जो उसकी हर क्रिया में स्पष्ट होता था। वह शोभा को पत्र लिखता परन्तु पत्र "प्रिय शोभा" पर ही खत्म हो जाता। क्योंकि प्रारम्भिक शब्द "प्रिय" वास्तव में इतना प्रिय नहीं है, वह बस एक मजबूरी है। जिसे ढो कर वह आगे नहीं चल पाता। इधर शोभा भी खण्डित व्यक्तित्व वाली नारी थी, उसे नया कुछ नहीं सीखना था। पूरे उपन्यास में शोभा के आत्मसमर्पण का कोई प्रमाण नहीं मिलता। शोभा जो खाली हृदय लायी थी, वह मनोज का दिल न भर सका। दोनों का रिश्ता शारीरिक तृप्ति का साधन बनकर रह गया, जो आत्मिक पूर्णता नहीं दे सका। प्रस्तुत उपन्यास आमतौर पर शैक्षणिक संस्थाओं की कमजोरियों, रेसिडेन्सियल स्कूल के परिवेश की विसंगतियों तथा वहाँ के लोगों की स्वार्थपरता के घिनौने रूपों पर प्रकाश डालता है। यह लेखक की परिवेशजन्य सजगता, व्यापक अनुभव और संश्लिष्ट दृष्टिकोण का परिचय देता है। समकालीन साहित्य प्रगतिशील मान्यता एवं सुधारवादी दृष्टि के विद्रोहों की परिणति की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करना चाहता है। जब तक परिवेश में सुधार नहीं होगा तब तक ये विद्रोह असफल ही रहेंगे। साथ ही ये आत्मनिर्वासन, घुटन, संत्रास, जीवन के प्रति ऊब, पलायनवाद आदि को जन्म देते रहेंगे। हाँ, इन सबके लिये व्यक्ति की मनोवैज्ञानिता भी कारण हो सकती है, किन्तु यह नहीं भूलना चाहिए कि यह मनोवैज्ञानिक असंतुलन सामाजिक परिप्रेक्ष्य की ही देन है। व्यष्टि की आधुनिकता परिवेश की पुरातनता के बीच सामंजस्य नहीं बिठा पाती और मनुष्य जीवन जड़-मूल से अस्थिर हो जाता है।

'शहर में धूमता आईना' व्यक्ति के स्वयं के अन्तर्द्वन्द्व को दर्शाता है। उपन्यास का नायक चेतन लाहौर में एक दैनिक में सहायक सम्पादक है। अपनी सुन्दर साली के प्रति आकृष्ट होता है। ससुराल में बीमार होने पर साली द्वारा देखभाल किये जाने पर आकर्षण के वशीभूत उसे चूम भी लेता है। अपने इस कार्य पर उसे पश्चाताप भी होता है। इस आत्मग्लानि

से उभरने के लिये वह नीला का विवाह एक अधेड़ उम्र के व्यक्ति से करवा देता है, किन्तु इससे वह और अधिक अन्तर्द्वन्द और ग्लानि अनुभव करता है। उसे लगता है, वही नीला के जीवन को बर्बाद करने के लिए उत्तरदायी था। इस कारण वह पत्नी चन्दा के साथ भी सहज नहीं हो पाता और इस बेचैनी के चलते सवरे ही घर से निकल जाता है। और दिन भर शहर की गलियों और मोहल्लों में भटकता फिरता है। किन्तु एक दिन जब वह वापस घर लौटता है और चन्दा को सोते हुए देखकर सोचता है कि वह पूर्ण समर्पण के साथ प्रारम्भ से ही चेतन के समक्ष थी वह स्वयं चेतन उसे नहीं समझ पाया। तब चेतन को अहसास होता है कि चन्दा के साथ रहकर ही उसे वह शान्ति, आनन्द मिलेगा जिसकी तलाश में वह इतने दिनों तक भटकता रहा। इसी प्रकार न आने वाला कल आधुनिक तेजी से बदलते जीवन तथा व्यक्ति और उनकी प्रतिक्रियाओं पर लिखित उपन्यास है। जो आर्थिक संघर्ष स्त्री-पुरुष सम्बन्ध तथा साहित्य और कला की दुनिया को बड़ी सूक्ष्मता से चित्रित करता है। यह न केवल समाज में फैली अनैतिकता को अभिव्यक्ति देता है बल्कि उसको झेलते व्यक्ति की त्रासदी का भी मार्मिक चित्रण प्रस्तुत करता है।

समकालीन भारतीय समाज की त्रासदी को राजेन्द्र यादव का उपन्यास 'उखड़े हुए लोग' दो स्तरों पर उद्घाटित करता है। पूंजीपति शोषण और मध्यमवर्गीय भटकाव। इसके पात्र एक ओर रूढ़ियों के नागपाश से बंधे हुए तथा दूसरी तरफ पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में निरन्तर शोषित होते रहने के कारण जीवन में व्यवस्थित ठहराव नहीं ला पा रहे हैं। इस तरह दुतरफा संघर्ष में उखड़े हुए जागृत मध्यमवर्गीय जीवन का एक पहलू प्रस्तुत उपन्यास में प्रकट हुआ है। सूरज जैसे संघर्षशील युवा पत्रकार के साहस और प्रेरणा के बावजूद शरद और जया जिस भयावह यथार्थ से दूर भागते हैं, उनका कोई गंतव्य नहीं है। न वे शोषक से जुड़ पा रहे हैं, न शोषित से। क्योंकि दोनों समाज की मान्यता के विपरीत बिना विवाह के साथ-साथ रहते हैं, जिससे दोनों के मन में यह भय सदैव बना रहता है कि कहीं कोई उनका रहस्य न जान जाए। साथ ही वे नेता भैया के ढोंग और अनाचार के रहस्य समझने, उच्च वर्ग के लोगों की कृत्रिमता और चरित्रहीनता से परिचय प्राप्त करने और फिर उससे भयभीत और त्रस्त होकर भाग निकलने का प्रयास करते हैं।

इस उपन्यास में आधुनिक युवा वर्ग की सामाजिक मान्यताओं के विरुद्ध मानसिकता दिखाई गई है। शरद और जया को साथ-साथ रहना तो है किन्तु विवाह बन्धन में नहीं बँधना। विवाह वैयक्तिक नहीं होता, सामाजिक अनुबन्ध होता है। बिना विवाह के साथ-साथ रहना वैयक्तिक कायरता छिपाने का सिद्धान्त मात्र है। क्योंकि विवाह के व्यक्तिगत के अतिरिक्त दीर्घकालीन सामाजिक परिणाम भी अनिवार्यतः होते हैं, जैसे बच्चे। इस तरह समाज की गतिशीलता को अवरुद्ध कर दोनों एक क्रांतिकारी कदम उठाते हैं, जिसके परिणामस्वरूप स्वयं के जीवन को अस्थिर कर देते हैं। इसी तरह की कई छोटी-छोटी एवं साधारण घटनाओं को

समकालीन उपन्यासों में कथानक बनाया गया है, क्योंकि ये साधारण दिखने वाली घटनाएँ दूरगामी परिणाम देती हैं।

## 2. रूढ़ि विद्रोह

स्वाधीनता के बाद हिन्दी साहित्य में परिवर्तन हुए कुछ प्रतिभासम्पन्न विद्रोही रचनाकारों ने हिन्दी साहित्य को नए आयाम दिए। इन रचनाकारों ने नियमों में बंधकर साहित्य रचना को नहीं स्वीकारा क्योंकि नियम प्रतिभा के उन्मुक्त विकास के लिए अनुकूल तत्व नहीं होते हैं। इन रचनाकारों ने प्रतिकूलता से संघर्ष करते हुए अपने अस्तित्व की घोषणा की। इस रूढ़ि विद्रोह ने हिन्दी साहित्य को युग सापेक्ष बनाया अतः स्वाधीनता के बाद के साहित्य को विद्रोही साहित्य कहा गया। इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि रचनाकारों ने नारे लगाए, किसी राजनीतिक दल का समर्थन किया या फिर सशस्त्र क्रान्ति का आह्वान किया बल्कि उन्होंने साहित्य जगत में विद्रोह किया। तात्पर्य यह है कि उन्होंने मानव जीवन की जड़ परम्परा और रूढ़ियों के विरुद्ध जाकर वास्तविकता को सामने लाने के लिए संघर्ष किया। पुराने रचनाकारों ने मानव जीवन की जिन जटिलताओं और ज्वलंत समस्याओं को अपनाने में रूढ़िवादी सोच अपनाई थी। नवीन रचनाकारों द्वारा उसे उजागर करना आरम्भ कर दिया गया। नए रचनाकार साहित्य सृजन के पक्षधर बने अनुकरण के नहीं। उन्होंने वर्तमान व्यवस्था को नकारा और अनुकरण के स्थान पर नवीन साहित्य सृजन आरम्भ किया। पुराने साहित्यकार इस बात के पक्षधर थे कि रचना की सार्थकता उसकी सामाजिक प्रतिबद्धता से है किन्तु नए साहित्यकारों ने माना कि साहित्यकार मानवता से प्रतिबद्ध है। उन्होंने अपनी रचनाओं के माध्यम से अस्तित्व की घोषणा आरम्भ की। आधुनिक रचनाकार ने मानवीय अस्तित्व को तलाशने और मानव जीवन के यथार्थ को तलाशना शुरू कर दिया।

अज्ञेय, मोहन राकेश, निर्मल वर्मा, नरेश मेहता, राजेन्द्र यादव आदि साहित्यकारों ने इस दिशा में प्रयास आरम्भ किए। उन्होंने मानव जीवन के यथार्थ का विश्लेषण कर उसे विभिन्न कोणों से नए आयाम दिए। इन उपन्यासकारों का लक्ष्य मानवीय समस्याओं को प्रस्तुत करना रहा। नए साहित्य का मूल संघर्षशील व्यक्ति और रचनाकार का एक होना माना गया। नवीन धारा नई संवेदना की सशक्त संवाहक और अभिव्यक्ति बन गई। उन्होंने जन-जीवन के कोने-कोने में प्रवेश किया और परिवर्तन के सूक्ष्म से सूक्ष्म संदर्भों को विस्तृत रूप में प्रस्तुत किया। आधुनिक रचनाकारों की रचनाओं से स्पष्ट होता है कि वह वर्तमान जीवन से बेहद असंतुष्ट और मोहभंग से पीड़ित हैं इसलिए रचनाओं के माध्यम से उन्होंने निराशाग्रस्त परिवेश से संघर्ष करना अपना लक्ष्य रखा है। मोहन राकेश के 'अंधेरे बंद कमरे' के हरबंस और मधुसूदन के माध्यम से उन्होंने इसे भंलीभांति चित्रित किया है। हरबंस की निराशा को उन्होंने इस प्रकार व्यक्त किया है "मेरे अंदर एक खालीपन है जो धीरे-धीरे इतना बढ़ रहा है कि मेरे

व्यक्तित्व के सब कोमल रेशे झड़ते जा रहे हैं। मैं अपने अंदर एक कड़वाहट अनुभव करता रहूंगा और बाहर कड़वाहट फैलाता रहूंगा।”<sup>4</sup> यह दर्शन के धरातल पर नहीं बल्कि साहित्यिक तौर पर इन रचनाकारों ने सिद्ध किया कि आधुनिक मानव जिस मोहभंग की स्थिति से गुजर रहा है यही उसकी वास्तविकता है। इसलिए रचनाकारों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से मनुष्य के जीवन की जटिलताओं को उकेरा। उन्होंने कहीं पर व्यक्ति सम्बन्धों की त्रासदी दिखलाई तो कहीं राजनीति की फूहड़ता। यह उपन्यासकारों के विद्रोह का परिणाम ही था जो कि प्राचीन व्यवस्था के प्रति विद्रोह का सशक्त स्वर था। यशपाल से लेकर मेहरुन्निसा परवेज तक सभी रचनाकारों की रचनाएं इस बात के साक्ष्य प्रस्तुत करती हैं। यह वह रचनाकार थे जो परम्परागत जड़ मान्यताओं और नियमों को बदलने और नए जीवन के यथार्थ को तलाशने और उसे उसी रूप में प्रस्तुत करने का साहस किया। इस प्रकार नवीन हिन्दी उपन्यासों ने स्वाधीनता के बाद भारतीय जन मानस का जीवन्त इतिहास प्रस्तुत किया।

रूढ़ि विद्रोह अज्ञेय कृत शेखर एक जीवनी में स्पष्ट दिखाई देता है। क्योंकि इसका उद्देश्य एक व्यक्ति के जीवन की विविध परिस्थितियों के सन्दर्भ में उसके अन्तर्लोकों का विश्लेषण एवं उसका समाज में स्वतन्त्र रूपेण स्थापन ही है। शेखर के जीवन का उद्देश्य स्वातन्त्र्य की खोज में निहित है। जिसे वह समाज में संघर्षरत रहकर प्राप्त करने की कोशिश करता है। शशि शेखर के प्रेम के माध्यम से प्रेम और नीति की समस्या एवं विकारग्रस्त विवाह पद्धति की समस्याओं पर समाज को सोचने के लिये बाध्य कराती है। जेल जीवन के अत्याचार प्रदर्शन के माध्यम से आधुनिक न्याय पद्धति के सुधार की आवश्यकता का उद्देश्य उपन्यास में ध्वनित होता है। शेखर का जीवन दर्शन स्वातन्त्र्य की खोज पर आधारित है। एक स्थान पर अज्ञेय ने इस स्वातन्त्र्य की खोज की व्याख्या करते हुए कहा है : “शेखर की स्वतन्त्रता की खोज टूटती हुई नैतिक रूढ़ियों के बीच नीति के मूल स्रोतों की खोज है। इसलिये शेखर की आजादी को सीमाबद्ध करना असम्भव—सा लगता है।<sup>5</sup> वैयक्तिक यथार्थबोध का अपने साहित्य में चित्रण करने वाले लेखकों में अज्ञेय का नाम विशेष रूप से लिया जाता है। उनकी रचनाओं में मानवीय संवेदनाएँ अभिव्यक्त होती हैं। अज्ञेय की दृष्टि अन्तर्मन को पढ़ने में सक्षम है। उनकी रचनाएं व्यक्ति केन्द्रित होती हैं जिसमें व्यक्ति का अन्तर्द्वन्द्व अत्यन्त संवेदनशीलता से व्यक्त होता है एवं वैयक्तिक यथार्थबोध सूक्ष्मता से परिलक्षित होता है। “अपने अपने अजनबी” अस्तित्ववादी विचारधारा को व्यक्त करने वाला उपन्यास है। इसमें आधुनिक जीवन में व्याप्त मूल्यहीनता निरर्थकता, विस्थापित जीवन और यांत्रिक सभ्यता के परिणामस्वरूप जीवन और यांत्रिक सभ्यता के परिणामस्वरूप उत्पन्न आत्म केन्द्रित और अजनबीपन का सृजन किया गया है। मनुष्य की भयंकरता व्यक्ति में महान् परिवर्तन ला देती है, प्रियजन अजनबी हो जाते हैं मृत्यु स्वयं कुछ के लिये अपनी होती है और कुछ के लिये अजनबी।<sup>6</sup>



‘अपने अपने अजनबी’ अज्ञेय के बाकी उपन्यासों से भिन्न प्रकृति की रचना है। इस उपन्यास में यथार्थबोध के वैयक्तिक पक्ष की प्रधानता है। इसे कुछ विद्वानों ने अस्तित्ववादी चेतना का उपन्यास भी माना है। अज्ञेय ने इसकी रचना दो पात्रों, योके और सेल्मा के माध्यम से की है जो एक बर्फ से दबे हुए घर में फँस गई हैं। दोनों पात्रों की नितान्त वैयक्तिक अनुभूतियाँ इसमें व्यक्त होती हैं। उपन्यास के केन्द्र में मृत्यु है। मृत्यु जीवन का अन्तिम सत्य है। मनुष्य मृत्यु का अनुभव नहीं कर सकता और उसे देख नहीं सकता परन्तु उसे मृत्युबोध हो सकता है। जीवन और निकट आती मृत्यु के बीच के समय का अनुभव ही मृत्युबोध है। मृत्युबोध से उत्पन्न होने वाली संवेदनाओं का उपन्यास में समावेश किया गया है। उपन्यास में मृत्युबोध दो रूपों में सामने आता है—एक निकट आती मृत्यु का बोध और दूसरा मृत्यु का भय। उपन्यास में मृत्यु बोध की असम्पूर्णता को प्रमुखता से व्यक्त किया गया है। योके और सेल्मा के अनुभवों द्वारा यह दर्शाया गया है कि मनुष्य को मृत्यु का आभास ही हो सकता है, वह मृत्यु को पूर्ण होते हुए नहीं देख सकता। मृत्यु हो सकती है यह देखना सम्भव है परन्तु मृत्यु होना नहीं देखा जा सकता। यहाँ एक असम्पूर्णता की स्थिति है। यह बोध उपन्यास में काठघर में आती “एक अन्तहीन, परिवर्तनहीन धुँधली रोशनी”, के माध्यम से पाठकों को कराया गया है। कब्र में अँधेरे की ही भाँति काठघर में अँधेरा नहीं है पर इस धुँधली रोशनी को भी रोशनी नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार रोशनी के द्वारा प्रतीकात्मक रूप से मृत्यु की असम्पूर्णता को व्यक्त किया गया है।

अज्ञेय ने मृत्यु की असम्पूर्णता को नीतिबोध से जोड़ कर भी देखा है, “यह हमारे युगों से धँसे हुए नीति बोध की सजा है कि हमारा मरना भी अधूरा ही हो सकता है मरकर भी कुछ बाकी रह जाता है।” मनुष्य में विवेक होता है। उसमें अच्छे—बुरे का ज्ञान होता है। मरते समय तक वह इस विवेक से स्वतंत्र नहीं हो पाता। उसमें नीतिबोध का दबाव होता है। उसका मस्तिष्क अन्तिम समय तक इस बोझ से दबा रहता है कि संसार में उसका कुछ करना बाकी रह गया है क्योंकि उसके कार्यों को जीवन काल में पूर्णता कभी प्राप्त नहीं होती। इसलिये वह अपूर्णता का बोध लिये हुए ही मृत्यु को प्राप्त होता है। विवेक के आधीन मनुष्य की मृत्यु में भी अपूर्णता रह जाती है। मृत्यु का अंतहीन क्रम संसार में निरन्तर चलता रहता है। उपन्यास में इसे गहराई और पूर्णता के साथ व्यक्त किया गया है। आसन्न मृत्यु का बोध मनुष्य में उदासीनता का भाव भी उत्पन्न कर सकता है। कैसर से पीड़ित सेल्मा अपने भविष्य की बात पर कहती है “उस दृष्टि से तो मेरा भविष्य बहुत आसान है। कुछ भी जानने को नहीं है न उत्कंठा है।, सेल्मा के इस उदासीन दृष्टिकोण से लेखक ने व्यक्त करने का प्रयास किया है कि व्यक्ति जीवन भर अपने अतीत एवं वर्तमान के साथ भविष्य का चिंतन करता हुआ बढ़ता है पर जब उसकी मृत्यु की निश्चित अवधि आ जाती है, तब उसकी भविष्य के प्रति रुचि समाप्त हो जाती

है। मृत्यु के आगमन पर स्वयं मनुष्य के लिये उसके भविष्य के साथ अतीत और वर्तमान भी समाप्त हो जाता है। मृत्यु उसका समग्रता से अंत कर देती है।

घर से थोड़ी बर्फ हट जाने वाले दिन अन्यथा उद्विग्न रहने वाली योके कुछ सहज हो जाती है और डायरी में प्रथम बार कब्र घर को काठ घर के रूप में सम्बोधित करती है, लेकिन साथ ही अब उसे हर क्षण यह आभास भी होता रहता है कि सेल्मा की मृत्यु किसी भी समय हो सकती है क्योंकि सेल्मा का स्वास्थ्य प्रतिदिन गिरता जा रहा था। यहाँ एक बहुत ही विषम स्थिति उत्पन्न होती है कि एक बंद घर में दो स्त्रियों में से एक की मृत्यु होने वाली है और दूसरी को अपनी इस घर से मुक्ति का पूरा आश्वासन नहीं हुआ है। इस परिस्थिति में जिसके बचने की आशा है उसके मानसिक द्वन्द के दो ध्रुव हैं। एक तरफ स्वयं की मुक्ति की आशा है दूसरी तरफ दूसरे व्यक्ति की मृत्यु का भय। एक की बन्दी अवस्था से मुक्ति का द्वार खुलने वाला है और दूसरे की जीवन से ही मुक्ति है। मृत्यु के भय का चित्रण भी अज्ञेय ने बहुत गहनता से किया है। उपन्यास में कैंसर से पीड़ित सेल्मा द्वारा बार-बार मृत्यु की बात टालने से यह परिलक्षित होता है कि अन्दर ही अन्दर उसको भी मृत्यु का भय है पर वह उस मृत्युबोध को अपने तक ही रखना चाहती है। इसीलिये वह अपने कैंसर की बात भी योके को नहीं बताती क्योंकि उसको शायद डर है कि जिस मृत्यु के भय को वह भुलाकर जी रही है वह दूसरे पर प्रकट हो जाने से समक्ष प्रस्तुत हो जायेगा। वह मृत्यु से परिचय नहीं करना चाहती। सेल्मा मृत्यु से अपरिचित रहते हुए जीवन्त रूप से अपना बाकी समय व्यतीत करना चाहती है।

मृत्युबोध जैसी विषम स्थिति में सेल्मा की व्यक्तिगत भावना को उपन्यास में चित्रित किया गया है। सेल्मा की मनोभावना पाठक की मनोभावना से सम्बन्ध स्थापित करके, पाठक को पात्र के वस्तुजगत में पहुँचा देती है। वैयक्तिक यथार्थबोध का ऐसा चित्रण व्यक्ति की मानसिकता को समझने में सहायक हो सकता है। साथ ही सेल्मा जैसे पात्र समाज के ऐसे व्यक्ति भी हैं, जो अन्तर्मन की भावनाओं को अपने तक ही सीमित रखते हैं और किसी कारणवश आत्माभिव्यक्ति करने में असमर्थ रहते हैं। उपन्यास के कथानक में योके का सेल्मा के विरुद्ध निरन्तर संघर्ष चलता रहता है। यह संघर्ष है, सामान्यता का। "उसके स्वर में जो चिड़चिड़ापन था। उफ! उससे मुझे कितनी तृप्ति मिली! तो बुढ़िया का वचन भी नीरंध्र नहीं है, कहीं उसमें भी टूट है, कहीं-न-कहीं वह भी मृत्यु से डरेगी और रिरियाकर कहेगी कि नहीं, मैं नहीं मरना चाहती। एक प्रबल दुर्दमनीय उल्लास एक विजय का गर्व मेरे भीतर उमड़ आया।" <sup>7</sup>

इतने दिनों से घर में रहते हुए योके ने सेल्मा का प्रत्येक क्षण संयत व्यवहार देखा था। मृत्यु के प्रति वह बिल्कुल उदासीन थी। यह बात योके को उद्वेग से भर देती थी। सेल्मा की खीज देख कर उसे लगा कि उसका मन भी हार सकता है। मृत्यु से वह भी डर सकती है। जब उसे आभास होता है कि सेल्मा भी कहीं न कहीं उसकी भाँति व्याकुल और भयभीत है तब उसे संतोष हो जाता है कि उसकी व्याकुलता और भय सही था और वह सामान्य होने का

अनुभव करती है जो एक व्यक्ति की सहज प्रवृत्ति है। लेखक ने इस सामान्यता को विजय का नाम दिया है क्योंकि योके की दृष्टि में उसके और सेल्मा के बीच एक संघर्ष चल रहा है जिसे योके जीतना चाहती है। सदमे से उपजे उन्माद का उदाहरण सेल्मा की मृत्यु के पश्चात् योके की मनोस्थिति के रूप में सामने आता है। इतने दिनों से सेल्मा के पास मृत्युबोध का आभास योके को उद्विग्न करता था। उद्विग्नता में उसे मृत्युगंध का आभास होने लगा था। अब सेल्मा की मृत्यु से उसकी उद्विग्नता इतनी बढ़ गई कि उसका अपने दिमाग पर नियंत्रण नहीं रहा। वह सदमे की अवस्था में पहुँच गई। मनुष्य जब निरन्तर मृत्युबोध से घिरे वातावरण में रहता है और जब उसको इस वातावरण से मुक्ति का मार्ग नहीं दिखाई देता तो यह स्थिति उसके लिये असहनीय हो जाती है। मृत्यु के भय के साथ किसी और की मृत्यु का सामना करना और वह भी ऐसे वातावरण में जहाँ उसे एक मृत शरीर के साथ अनिश्चित अवधि तक रहना है, किसी भी मनुष्य को सदमे में पहुँचा सकता है। अकेलेपन में यह असहनीय अवस्था है जो किसी का मानसिक संतुलन बिगाड़ सकती है। इस प्रकार मृत्यु के संदर्भ में योके और सेल्मा की विभिन्न वैयक्तिक अनुभूतियों के यथार्थ को उपन्यास में निरन्तर उकेरा गया है।

अपने अपने अजनबी अज्ञेय जी का वैयक्तिक यथार्थबोध पर आधारित उपन्यास है। इस उपन्यास में योके और सेल्मा अजनबी हैं। अजनबीपन की भावना दोनों पात्रों में से योके के मन में अधिक आती है। वह सेल्मा को समझ पाने में असमर्थ है। इसीलिये उन दोनों में बातें नहीं होती हैं। विपत्ति में मनुष्य किसी न किसी माध्यम से अपने मन का बोझ हल्का करना चाहता है इसलिए योके अपनी भावनाओं को डायरी के माध्यम से व्यक्त करती। योके और सेल्मा में अपरिचय की भावना अंत तक बनी रहती है। उपन्यास की रचना मृत्यु को केन्द्र में रख कर की गई है। योके के माध्यम से मृत्यु के प्रति भय की भावना प्रत्यक्ष रूप से दिखाई गई है, जबकि सेल्मा का यह भय अप्रत्यक्ष रूप से है। मृत्युबोध के सन्नाटे के साथ उपन्यास का आरम्भ होता है और अंत भी मृत्यु के साथ होता है। मृत्युबोध जैसी संवेदना जिसका मनुष्य ने अनुभव न किया हो, उसको व्यक्त करना निश्चय ही एक कठिन कार्य है। अज्ञेय मानव मन की सूक्ष्म से सूक्ष्म संवेदनाओं को व्यक्त करने में सक्षम हैं। व्यक्ति जो भावनाएँ सहजता से व्यक्त नहीं कर पाता उनको वह अत्यन्त गहराई से प्रस्तुत कर देते हैं। उनकी संवेदनात्मक दृष्टि मनुष्य के सुख दुःख पीड़ा उदासीनता आदि सभी भावों को इस प्रकार व्यक्त करती है कि उसकी अनुभूति में व्यक्ति आत्मानुभूति प्राप्त करने लगता है।

अस्तित्ववाद का विकास दो महायुद्धों की विभीषिकामयी स्थिति में हुआ। यही कारण है उसमें विवशता और नैराश्य का स्वर मुखरित है। मृत्यु की आंशका, भय, त्रास निराशा तथा पीड़ा अस्तित्ववाद दर्शन का मुख्य तत्व है जिसे अपने-अपने अजनबी में बड़ी कुशलता के साथ अभिव्यक्त किया गया है। सेल्मा के चहरे पर योके को कभी-कभी एक भाव दिखता है जो इस लोक का नहीं है तथा जो योके को इस हद तक बेचैन कर देता है कि बर्फ की कब्र में उसे

स्वयं में प्राण वायु का अभाव अनुभव होता है। वह सब कुछ तोड़ फोड़ देना चाहती है। यहाँ सेल्मा और योके में मृत्यु सम्बन्धी दृष्टिकोण भिन्न है – सेल्मा में मृत्यु का सहज स्वीकार है, योके अंत तक मृत्यु को न मानने का आग्रह बना रहता है।<sup>8</sup> योके शेष जगत से विरोध का सम्बन्ध रखती है। वह अस्तित्ववादियों के हर दूसरा व्यक्ति नरक है, सिद्धान्त का अक्षरतः पालन करती है सेल्मा के साथ तीन चार महीने बर्फ कब्रगाह में रहकर भी वह मानसिक संवेदन के स्तर पर सेल्मा के लिये अजनबी बनी रहती है।<sup>9</sup> “उसके व्यक्तित्व में विरोधमूलकता का अंश इतना अधिक है कि वह किसी के सामने खुलना नहीं चाहती। डायरी ही उसकी अनिवार्यता है। सेल्मा की मृत्यु के बाद प्रेमी पाल भी उसके लिये बिल्कुल अजनबी हो जाता है।”

मोहन राकेश ने भी परम्परागत औपन्यासिक कथानक को नहीं अपनाया बल्कि उपन्यास में जीवन की यथार्थ स्थितियों का सहज और विश्वसनीय अभिव्यंजन किया है। समकालीन जीवन की समग्र पहचान की पकड़ उनके उपन्यासों की विशेषता है। “अन्धेरे बन्द कमरे” औपन्यासिक शिल्प में बंधी एक कहानी है, जिसमें वैवाहिक जीवन की स्थितियों, विसंगतियों की ओर संकेत किया गया है, उनका उद्देश्य पति-पत्नी के ऊबाऊ एवं अर्थहीन रिश्ते की पुनर्व्याख्या करना है। वास्तव में यह एक व्यक्तिवादी उपन्यास है। इसके पात्र अपने अनुसार अपने ढंग से जीवन जीना चाहते हैं। पात्रों के वैयक्तिक विकास के अवसर उपन्यास में बहुत कम हैं, क्योंकि सभी प्रमुख पात्र अपनी-अपनी भावनाओं और महत्वाकांक्षाओं की बैसाखियों का सहारा लेकर जहाँ तक चल पाते हैं, वहीं बन्द कमरों में बहुत जल्द कैद हो जाते हैं। हरबंस और नीलिमा जिस कमरे में कैद हैं, उससे बाहर जाने का रास्ता उन्हें मालूम नहीं है, ईर्ष्या, खीझ और हीन ग्रन्थि का शिकार बनता हुआ हरबंस अपनी कमजोरी छिपाने का प्रयास करता हुआ लन्दन भाग जाता है, उधर नीलिमा अपनी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति करने के लिये कला संसार में खो जाती है। वास्तव में इसमें हर पात्र का अपना अकेलापन है, जो उसका नेपथ्य है। हरबंस और नीलिमा इसी नेपथ्य में छटपटाती, झुंझलाती, खीजती आकृतियाँ हैं, जो एक-दूसरे के लिये अर्थहीन हैं। यहाँ अनकही भावनाओं को कथ्य बनाना रुढ़ि विद्रोह का ही रूप है।

“अपने अस्तित्व के प्रति अत्याधिक आग्रही व्यक्ति भी स्वच्छंता के लिये संघर्ष करता है परिणामः उसमें विद्रुपता जन्म लेती है, वह आत्मीयता के प्रति भी अजनबी सा व्यवहार करता है और भीड़ में भी अकेला होता चला जाता है। क्योंकि चेतना की वृद्धि और वर्तमान अस्तित्व के बारे में उसकी निरन्तर सजगता, उसे समुदाय से असंपृक्त कर देती है।”<sup>10</sup> अतः अकेलापन आधुनिक मनुष्य की नियति बन जाता है। “उसकी नजर में मैं अब अकेला आदमी था जिसका घर उसे संभालना पड़ रहा था जबकि मेरे लिये वह किसी दूसरे की पत्नी थी, जिसके घर में मैं एक बेतुके मेहमान की तरह टिका था।”<sup>11</sup> शोभा मनोज के व्यक्तित्व में परिवर्तन भी लाना चाहती है किन्तु वह असफल होती है क्योंकि “मनोज के नुक्स अन्दर के थे जिन्हें लेकर शायद कुछ भी नहीं किया जा सकता था।”<sup>12</sup> मनोज अकेलेपन और अकेली जिन्दगी का आदी हो चुका था।

‘न आने वाला कल’ मानव जीवन में आ गए बिखराव, तनाव, खालीपन और ऊब को बांधने का सृजनात्मक प्रयास है। पहाड़ी स्कूल के हेडमास्टर मि. हिवसलर से लेकर चपरासी फकीरे की बीबी काशनी तक सभी अकेलापन झेलते हुए अपने आने वाले कल की प्रतीक्षा कर रहे हैं, जो कभी नहीं आता। इस ‘न आने वाले कल’ की अन्तहीन प्रतीक्षा मानवीय नियति की विवशता से जुड़ी है और इसमें आधुनिकता बोध को आंका गया है। निर्मल वर्मा के उपन्यास ‘लालटीन की छत’ में भी काया के माध्यम से लेखक ने बालवस्था से किशोरावस्था की तरफ बढ़ रहे युवाओं की मानसिक स्थिति को अभिव्यक्त किया है। ये परिवर्तन जितना नज़र आता है उससे कहीं ज्यादा अनुभव होता है जैसा काया के साथ हुआ। काया एक सामान्य लड़की जो बचपन के आखिरी पड़ाव पर खड़ी है तथा किशोरावस्था की दहलीज पर कदम रख रही है। वह अपने अन्दर आ रहे परिवर्तन से जितनी उत्साहित है, उतनी ही आतंकित भी। यह एक समकालीन विषय है, काया जैसे कितने ही युवक-युवतियाँ इस शारीरिक विकास के कारण तनाव, संत्रास और अकेलेपन से ग्रस्त होते हैं। इसी द्वन्द का चित्रण उपन्यास में किया गया है। ‘वे दिन’ में युद्ध की विभीषिका से त्रस्त मानव जीवन का चित्रण है। उपन्यास में रायना उस व्यक्ति का प्रतीक है, जिसका महायुद्ध के बाद जीवन के प्रति विश्वास कम हो गया है। मृत्यु बोध इस मानव पर हर दम छाया रहता है। रायना का चरित्र आधुनिक युग में अकेलेपन और अजनबीपन को झेल रहे व्यक्ति की पीड़ा को लिये हुए है। इस तरह समकालीन उपन्यासकारों ने उपन्यास के माध्यम से आधुनिक जीवन की विसंगतियों और विडम्बनाओं को अभिव्यक्त किया है। इनमें व्यक्ति-व्यक्ति के सम्बन्ध, सम्बन्धों की कटुता-तिक्तता, यांत्रिक जीवन, महानगरीय संत्रास, ऊब, अकेलापन आदि अपने भीतरी गर्द-गुबार के साथ प्रस्तुत हुए हैं।

### 3. मार्क्सवादी चेतना

उपन्यास एक ऐसी लोकप्रिय व ख्यातिप्राप्त विधा है जिसने विविध पड़ावों को पार कर अन्य साहित्यिक विधाओं को पीछे छोड़ दिया है। उपन्यास का क्षेत्र इतना विस्तृत है कि इसमें मानव जीवन के विविध पहलुओं मनोविनोद से लेकर गंभीर जीवन दर्शन देखने को मिलता है। मानवीय कष्टों और पीड़ा को जितने सशक्त रूप में उपन्यास द्वारा अभिव्यक्त किया जा सकता है उतना किसी अन्य विधा में सम्भव नहीं है। सर्वप्रथम कार्लमार्क्स द्वारा साहित्यादि कलाओं को युगीन सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्थाओं से जोड़कर देखने का वैज्ञानिक सिद्धान्त दिया। उनके अनुसार विभिन्न साहित्य रूपों, उदय एवं विकासपर ही नहीं बल्कि साहित्यस्वादन की प्रक्रिया पर भी सामयिक, सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों का असर होता है। बिना सामाजिक आधार के साहित्य की रचना सम्भव ही नहीं है। सामाजिक जीवन से ही विचारधारा का विकास होता है। बिना समाज के विचार का अपना कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं होता है। इस दृष्टि से देखा जाए तो कार्लमार्क्स के अनुसार साहित्य सृजन अनेक प्रकार के संघर्षों और अन्तर्विरोधों से भरपूर है।

यह विशुद्ध मानवीय उपलब्धियाँ हैं जिन्हें सामाजिक जीवन के साथ दीर्घकालीन साहचर्य और विकास के क्रम में मनुष्य ने अर्जित और विकसित किया है। कार्ल मार्क्स ने साहित्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन आर्थिक दृष्टिकोण को सामने रखकर किया। यूरोप की औद्योगिक क्रान्ति ने समाज के आर्थिक ढाँचे को अत्यधिक प्रभावित किया और उसमें विस्तृत परिवर्तन हुए जिससे साहित्य कलाओं में भी परिवर्तन हुए। उन्होंने जनसाधारण के जीवन संघर्ष का चित्रण आरम्भ किया। हर रचना रचनाकार के अन्तर्मन से प्रेरित हुई इसलिए हर रचना दूसरे से भिन्न रही। हालांकि उपन्यासकारों ने मध्यवर्ग के समाज को अपनी लेखनी का आधार बनाया। मध्य वर्ग का उदय यूरोपीय नवजागरण के आखिरी चरण का परिणाम था। नवजागरण के फलस्वरूप उदित इस मध्य वर्ग और घटित हुए विभिन्न आर्थिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तनों को उपन्यासकारों ने लेखनीबद्ध किया।

हिन्दी साहित्य में किसी भी प्रकार के यथार्थबोध का सैद्धान्तिक विवेचन नहीं किया गया है। इसलिये यथार्थबोध को समझने के लिये यथार्थवाद को समझना आवश्यक हो जाता है। यथार्थ का अर्थ है सत्य और वाद का अर्थ है सिद्धान्त अर्थात् जो सिद्धान्त सत्य को उद्घाटित करे वह यथार्थवाद है। वैयक्तिक संवेदनाएँ और मानसिक स्थिति मनुष्य के आंतरिक यथार्थ को स्थापित करते हैं। आंतरिक यथार्थ को यथार्थ की संज्ञा देने पर साहित्यकारों का एक मत नहीं रहा है। वस्तुएँ अर्थात् ज्ञान के विषय मन से बाहर स्वतंत्र अस्तित्व रखते हैं। वह यह भी कहते हैं कि ज्ञान के ज्ञात पदार्थों में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता है। पदार्थ का जैसा स्वरूप है, उसका उसी रूप में ज्ञान होता है।

इस दृष्टि से यथार्थवादी रचनाकार स्वयं के दृष्टिकोण मान्यताओं और आदर्शवादी दृष्टिकोण से अलग रहकर यथार्थ का केवल वस्तुगत चित्रण करता है। परन्तु कुछ साहित्यिक चिंतकों ने यथार्थवाद पर एक अलग मत भी प्रस्तुत किया है। "यथार्थवाद को दो रूपों में देखा जा सकता है, एक दृष्टिकोण के अनुसार तथा दूसरा शैली या पद्धति के रूप में, पर दोनों के मध्य अत्यन्त सूक्ष्म अन्तर है। दृष्टिकोण सम्बन्धी यथार्थवाद वस्तु के बाह्य रूप तक ही सीमित रहता है अतः वह जड़ हो जाता है तभी वह यथार्थ बनता है। अतः यथार्थ को दृष्टिकोण से ना जोड़कर पद्धति के रूप में देखना उचित है। वहीं लुकाच न तो वस्तुगत यथार्थ और न केवल व्यक्तिगत यथार्थ को ही मानते हैं। लुकाच का कहना है कि मात्र जैविक क्रियाओं का चित्रण साहित्यिक दृष्टि से पूर्णता रखता हो परन्तु मानवीय सम्बन्धों की जटिलता समग्रता से चित्रित न कर उसके मार्ग में बाधा बनता है। अतः लुकाच उपन्यासों की मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सहमत हैं। संवेदनात्मक अथवा दार्शनिकता प्रधान साहित्य के उचित मूल्यांकन के लिये एक उपयुक्त साहित्यिक सिद्धांत की स्थापना नहीं हो सकी है। इस रिक्तता को भरने के लिये वैयक्तिक यथार्थबोध एक सम्भावना प्रदान करता है। मार्क्सवादी यशपाल ने नई जीवन-वस्तु के आकलन के लिए हिन्दी उपन्यास को समाजवादी मोड़ दिया है। इनका मानना है : "प्रगतिशील साहित्य

का काम समाज के विकास के मार्ग में आने वाले अन्धविश्वास और रूढ़िवादी अड़चनों को दूर करना है। प्रगतिशील साहित्य का ध्येय है समाज को शोषण के बन्धन से मुक्त करने के कार्यक्रम में प्रगतिशील क्रांतिकारी सर्वहारा श्रेणी का सबल साधन बनना। प्रगतिशील साहित्य का मार्ग काल्पनिक सुखों की अनुभूति के भ्रमजाल को दूर करके मानवता की भौतिक और मानसिक समृद्धि के रचनात्मक कार्य के लिये प्रेरणा देना है।<sup>13</sup>

मार्क्सवादी सिद्धान्तों ने सामन्तवाद और पूंजीवादी संस्थाओं और जीवन मूल्यों का तीव्र विरोध किया तथा उनके स्थान पर मानव-व्यक्तित्व के स्वस्थ विकास के लिये युगानुकूल नए जीवन-मूल्यों का आह्वान किया। जैसे स्त्री-पुरुष सम्बन्ध, विवाह सम्बन्धी धारणाएँ एवं स्वस्थ वैवाहिक सम्बन्ध, स्वस्थ विकसित मानसिकता आदि। 'मार्क्सवाद प्रेम को अन्य सभी उपकरणों की भाँति द्वन्दात्मक दृष्टि से परखता है। और सब चीजों की तरह जीवन में प्रेम की गति भी द्वन्दात्मक है, प्रेम जीवन की सफलता और सहायता के लिये है। यदि प्रेम बिल्कुल छिछला रहे तो वह असंयत वासना मात्र बन जाता है और यदि जीवन में प्रेम या आकर्षण का संयम विवेक से न हो तो वह जीवन के लिये घातक भी हो सकता है।'<sup>14</sup> मार्क्सवादी प्रेम को पार्थिव और इन्द्रियजन्य अनुभूति मानते हैं तथा विवाह को स्त्री-पुरुष का समझौता मानते हैं, जिसके माध्यम से दोनों के जीवन को नया आयाम मिले। इस दृष्टि से 'अन्धेरे बन्द कमरे' और 'न आने वाला कल' में प्रेम और विवाह का जो रूप देखने को मिलता है, वह मार्क्सवादी चेतना से प्रभावित है। 'न आने वाला कल' में प्रेम की परिकल्पना गहरी है, रिश्ते के नामपूर्ण पति-पत्नी सम्बन्धों की निरर्थकता को यह उपन्यास उजागर करता है। पति-पत्नी होते हुए भी अलग-अलग करवटों में सोना और एक युद्धविराम की स्थिति में जीना सम्बन्धों की अर्थहीनता का उदाहरण है।

राजेन्द्र यादव के उपन्यास 'उखड़े हुए लोग' में भी पूंजीवादी व्यवस्था के दुष्परिणामों को उजागर करते हुए नवयुवकों के जीवन में तत्कालीन अस्थिरता एवं भटकाव को अभिव्यक्त किया गया है। आज का युवा आर्थिक संकट के कारण अपनी इच्छा के विरुद्ध समझौता करने को विवश है। जीविका की प्राप्ति के लिये न जाने कितनी बार आत्मा की आवाज को अनसुनी करता है। 'उखड़े हुए लोग' उपन्यास के पात्र शरद और जया मध्यमवर्गीय प्रेमी हैं। वे अपने शहर में रहकर जीवन-साथी के रूप में जीवन नहीं जी सकते, अतः दोनों शहर छोड़कर भाग जाते हैं। शरद पूंजीपति देशबन्धु के यहाँ नौकरी करता है, लेकिन देशबन्धु पूरी तरह उसका शोषण करता है। स्वयं का शोषण होते देखकर भी शरद उसका विरोध नहीं कर पाता। शरद अपनी इस विवशता को प्रोफेसर कपिल और सूरज को बताता है — 'हर जगह समझौता करना पड़ता है, हर जगह झुकना पड़ता है : वरना क्या करें? कहाँ जायें? यो गोर्की ने लिखा है कि समझौता से बढ़कर दुनिया में कोई ऐसी चीज नहीं है जो मनुष्य की आत्मा को तोड़ती हो — कमजोर बनाती हो। लेकिन अब आत्मा को देखें या जिन्दा रहें।'<sup>15</sup> शरद के उक्त कथन में विवशताजन्य व्यवहार परिलक्षित होता है। इसी उपन्यास का सूरज आज के कुण्ठित व्यक्तित्व

एवं लोक व्यवहार के बारे में शरद और कपिल से कहता है –“सचमुच आज की समाज व्यवस्था में जीवन का संघर्ष इतना विषम और कठिन हो गया है कि स्वतन्त्र रूप से आपके व्यक्तित्व का विकास हो ही नहीं पाता। व्यक्तित्व के किस हिस्से पर अंकुश रखकर, किसी को कुचलकर, किसी अनावश्यक हिस्से का जबर्दस्ती विकास करके आपको अपनी इच्छा के विरुद्ध उसे तोड़ना—मरोड़ना और ढालना पड़ता है, आप साफ बात करना चाहते हैं, अन्याय का विरोध करना चाहते हैं – लेकिन कुछ बातें सोचकर आपको चुप रहना पड़ता है, सब कुछ कह दें तो पता नहीं कल पागलखाने में हो या सड़क पर भीख माँग रहे हो।”<sup>16</sup> ‘उखड़े हुए लोग’ में मिल-मजदूरों की हड़ताल में एक मजदूर नेता का यह भाषण वर्गीय चेतना को प्रकट करता है। पुलिस और फौज उनकी (मिल मालिकों की) हैं, हवाईजहाज और एटम उनके हैं, सरकार उनकी हैं लेकिन हमें भरोसा अपनी एकता का है इतिहास बताता है, ताकत से कभी जबाने बंद नहीं हुई है—दमन ने कभी एकता को नहीं तोड़ा। हमें भीख नहीं चाहिए, जो कुछ हम मांग रहे हैं वह हमारा अधिकार है।”<sup>17</sup> वास्तविकता में जीविकोपार्जन करने के लिये कई बार मनुष्य को अपनी इच्छा के विरुद्ध कार्य करना पड़ता है। वह चाहता कुछ और है और उसे मिलता कुछ और है। यही आधुनिक जीवन की त्रासदी है। महत्त्वाकांक्षाओं के अनुरूप उसे वह जगह प्राप्त नहीं होती जहाँ वह फल-फूल सके, जीवन की असंगति, कटु विषमता और व्यक्तित्व मारक शक्तियों के कारण जीवन में पराजय, कुण्ठा, निराशा और टूटन की स्थिति बनी रहती है।

#### 4. अस्तित्वादी चेतना

आधुनिक युग में प्रत्येक व्यक्ति अपने अस्तित्व के प्रति सचेत है क्योंकि परिस्थितियों ने उसे स्वयं के बारे में सोचने विचारने के लिए विवश कर दिया है। इस चिंतन के पीछे अस्तित्ववादी दर्शन का प्रभाव है। निरर्थक संसार में मनुष्य को अपनी इच्छा के बिना ही आना पड़ा है इसलिए उसे संसार में अकेले ही जीना होगा और अपना मार्ग स्वयं ढूँढना होगा। जीवन विसंगतियों से भरा है और हर कदम पर बाधाएं हैं। इन बाधाओं को पार किए बिना आगे बढ़ना नामुमकिन है। अस्तित्ववाद मानवकेन्द्रित चिंतन है। अस्तित्व यानि की अस्मिता जिसका अर्थ है स्व। आधुनिक यांत्रिक परिवेश में यह ‘स्व’ कहीं खो गया है। इसी स्व को बनाए रखने के लिए वह संघर्ष कर रहा है। स्वाधीनता के बाद भारतीय जनता के चिंतन के द्वार खुल गए। पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव से अस्तित्व सम्बन्धी चिंतन आरंभ हो गया। अज्ञेय ने अपनी रचनाओं में अस्तित्व सम्बन्धी चिंतन पर बल दिया है।

निर्मल वर्मा के ‘वे दिन’ और मोहन राकेश का ‘न आने वाला कल’ उपन्यासों के अधिकांश पात्र इसी स्व के अन्वेषण में लगे दिखलाई देते हैं। जहां व्यक्ति को व्यक्ति के रूप में स्वीकृति नहीं मिल पाती है वहां वह अपने को बेसहारा एवं अस्तित्वहीन सा महसूस करने लगता है। वह अपने अस्तित्व यानि स्व को पाने के लिए सब कुछ करता है। ‘अंधेरे बंद कमरे’



का हरबंस स्व को पाने के प्रयास में अपनी पत्नी नीलिमा से दूर होता जाता है। वह अपनी पत्नी से दूर रहने के लिए लंदन चला जाता है। हरबंस और नीलिमा की अभिरुचियों और संस्कारों में अंतर है अतः दोनों अपने-अपने स्व की प्राप्ति के लिए जूझते दिखाई देते हैं। अस्तित्ववादी चिंतन में मनुष्य को पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त होती है। वह स्वतंत्र, उत्तरदायी, चेतनाशील, वेदना, विषाद, निराशा, शून्यता, विसंगति और एकाकीपन आदि द्वारा सीमित प्राणी है। प्रमुख अस्तित्ववादी विचारकों का मानना है कि समाज और राज्य मनुष्य के आत्मोत्थान में बाधक हैं। निर्मल वर्मा की नायिका रायना स्वतंत्र नारी है। मोहन राकेश के उपन्यासों में भी अस्तित्ववादी दर्शन का प्रभाव दिखाई देता है। 'अंधेरे बंद कमरे' का हरबंस ऐसा ही अभिशप्त, व्यथाकुल, विवश, अधूरा और सहअस्तित्व की पीड़ा से ग्रस्त पात्र है जो अपनी छटपटाहट और कुंठाओं के कारण अर्थहीन ज़िन्दगी का भार ढो रहा है। इनके उपन्यासों में प्रायः सभी नारी पात्र अपने स्व की रक्षा करने के लिए संघर्षरत दिखलाई देती है। निर्मल वर्मा के 'वे दिन' में अस्तित्ववादी दर्शन है जिसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए दिशाहारा और औरों के लिए अंधेरा है। 'वे दिन' में यही स्वर मुखरित है— "पहली बार मुझे लगा, जैसे इस शाम तक हम दोनों के बीच जो रिश्ता था, वह अब नहीं है। वह बदल गया था, स्वतः और अनायास..... उस रात पहली बार मुझे लगा कि एक व्यक्ति दूसरे के लिए अंधेरा है—जैसे वह मेरे लिए थी, मैं उसके लिए।" यह प्रसंग मानव सम्बन्धों के खोखलेपन को उजागर करता प्रतीत होता है। यद्यपि उपन्यास का हर पात्र अपने 'स्व' के लिए सजग है किन्तु फिर भी वह खोखलेपन, शून्यता और अकेलेपन को भोग रहा है।

निर्मल की रचनाओं के विषय—मानव की नश्वरता और पीड़ा, असुरक्षा की भावना, मृत्यु का भय, अकेलापन और शून्यता रहे हैं इसलिए कहा जा सकता है कि वह अस्तित्ववादी दर्शन के समर्थक हैं। उनके अन्य उपन्यासों में भी अस्तित्ववाद की झलक दिखलाई देती है। हिन्दी उपन्यासकारों ने अस्तित्ववादी धारणा अंग्रेजी साहित्य से ग्रहण की है। सार्त्र, कामू, काफ़्का, दोस्तोवस्की, रिल्के, नीत्शे आदि दार्शनिकों की साहित्यिक रचनाओं के हिन्दी में अनुवाद से कथाकारों ने इसे भारतीय परिप्रेक्ष्य में ग्रहण किया है। अस्तित्ववाद के अनुसार मानवीय स्थिति की अनिवार्य सीमा है मृत्यु। कीर्कगार्द के अनुसार मृत्यु एक चुनौती है। सार्त्र के अनुसार मृत्यु एक दुर्घटना है जो जीवन को किसी भी प्रकार की सार्थकता प्रदान करने की अपेक्षा उसे और अधिक संशय और कौतूहल का विषय बना देती है। निर्मल वर्मा के 'वे दिन' में भी यही भाव मिलता है। उन्होंने मृत्यु के आधुनिक स्वरूप बोध का चित्रण किया है। इस प्रकार हिन्दी साहित्य में अस्तित्वबोध के संदर्भ में मृत्युबोध का प्रतिपादन किया है। 'अपने अपने अजनबी' इसी मृत्युबोध पर आधारित उपन्यास है।

'न आने वाला कल' का नायक मनोज का जीवन संघर्षमय और जटिल है, वह यथार्थ के कोड़ों की मार सहते हुए जर्जर हो गया है। लेकिन फिर भी वह अपने स्वाभिमान और

अस्तित्व को बचाये हुए है। अपने अस्तित्व की रक्षा में मनोज नौकरी से त्यागपत्र दे देता है, पत्नी शोभा से अलग रहना चाहता है। उसके अस्तित्व की समस्या को शोभा के सन्दर्भ में, मित्रों के सन्दर्भ में बखूबी समझा जा सकता है। अस्तित्व की समस्या मनोज को उसकी पत्नी के सामने भी सताती है। यही कारण है कि उसके (शोभा) के सामने सिगरेट पीते हुए भी वह सहज नहीं रह पाता। उसे लगता है वह उसे ना देखकर अपने पूर्व-पति से उसकी तुलना कर रही है। स्पष्ट है कि मनोज अस्तित्व की चिन्ता में धुले रहने वाला पात्र है। अस्तित्ववाद की झलक शेखर के चरित्र पर भी साफ झलकती है, उसमें अहं भाव की प्रबलता है। यही अहंभाव उसे विद्रोही बना देता है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद उपन्यास के क्षेत्र में बदलाव आया। हिन्दी उपन्यासों की नवीनतम धारा को प्रयोगवादी उपन्यास या आधुनिकता बोध के उपन्यास कहा जा सकता है। औद्योगिकीकरण, भ्रष्ट व्यवस्था, बदलते परिवेश, यांत्रिक सभ्यता के दुष्परिणाम, महानगरीय जीवन, अकेलापन, निराशा, घोर अवसाद, तनाव आदि विषयों एवं भावों से जुड़कर हिन्दी उपन्यास की वस्तु और प्रक्रिया नवीन होती गई। स्वतंत्रता के बाद भारत के सम्मुख कुछ और तरह की नई चुनौतियां सामने आईं निर्मल वर्मा के उपन्यास 'वे दिन' में यूरोप के एक नगर का चित्रण है। इसमें महायुद्ध के बाद नगर में फैले अकेलेपन को बड़ी संवेदनशीलता के साथ अभिव्यक्त किया है। आधुनिक मानव यदि किसी बात के प्रति सचेत है तो वह है 'उसका स्वयं का अस्तित्व', वह कौन है? उसका व्यक्तित्व कैसा है, समाज में उसका क्या स्थान है? ऐसे आदि अनेक प्रश्नों का हल ढूँढते हुए ही उसका जीवन समाप्त हो जाता है। वास्तव में मनुष्य इस संसार में स्वयं से ज्यादा किसी से प्रेम नहीं करता, उसके लिये स्वयं से ज्यादा कुछ महत्वपूर्ण नहीं है, किन्तु यह 'स्व' कई जटिलताओं में फसा होता है और इन्हीं जटिलताओं के कारण वह आत्म-निर्वासन, तनाव, घुटन का शिकार हो जाता है। समकालीन उपन्यासों ने इस तथ्य को समझते हुए आज के अस्तित्ववादी मानव को अभिव्यक्त किया है।

## सन्दर्भ ग्रन्थ

---

- 1 अज्ञेय : शेखर एक जीवनी : पहला भाग, पृ. 10
- 2 अपने-अपने अजनबी- लेखक की दृष्टि में : ज्ञानोदय, जुलाई 1963 पृ. 20
- 3 राकेश मोहन : न आने वाला कल, पृ. 25
- 4 राकेश मोहन : अन्धेरे बन्द कमरे, पृ. 131
- 5 अज्ञेय : आत्मनेपद, पृष्ठ 69
- 6 गुप्त गणपति चन्द्र : हिन्दी साहित्य : प्रमुखवाद और प्रवृत्तियां, पृ. 29
- 7 अज्ञेय : अपने अपने अजनबी, पृ. 70
- 8 सांगा रणवीर : अज्ञेय से भेंटवार्ता : साहित्यिक साक्षात्कार, पृ. 208
- 9 अज्ञेय : अपने-अपने अजनबी, पृ. 72-73
- 10 Escape From Freedom : Erich Fromm, P. 34
- 11 राकेश मोहन : न आने वाला कल, पृ. 25
- 12 राकेश मोहन : न आने वाला कल, पृ. 24
- 13 यशपाल : बात बात में बात, पृ. 25
- 14 यशपाल : मनुष्य के रूप, पृ. 83
- 15 यादव राजेन्द्र : उखड़े हुए लोग, पृ. 253
- 16 यादव राजेन्द्र : उखड़े हुए लोग, पृ. 253
- 17 यादव राजेन्द्र : उखड़े हुए लोग, पृ. 296

सप्तम  
अध्याय

## सप्तम अध्याय

### समकालीन हिन्दी उपन्यासों में आत्म-निर्वासन की प्रवृत्ति : एक मूल्यांकन

---

उपन्यास साहित्य की सबसे अधिक लोकप्रिय और सशक्त विधा है क्योंकि इसमें मनोरंजन और जीवन की बहुमुखी छवि एकसाथ व्यक्त करने की शक्ति है। कविता का जन्म आदर्शवादिता को लेकर हुआ था लेकिन उपन्यास का जन्म आधुनिक काल के यथार्थवादी परिवेश में हुआ। उपन्यास पूंजीवादी सभ्यता की देन है। पूंजीवादी सभ्यता के विविध जीवन सत्यों को कथा के माध्यम से व्यक्त करने के लिए ही इसकी उत्पत्ति हुई है। यह मात्र कहानी न होकर कथा है मूल वस्तु है, वर्तमान जीवन की जटिल यथार्थवादिता है। जीवन मूल्यों के संक्रमण, समाज के नए सम्बन्धों की निर्मिति, उसके बीच उठते हुए अनेक प्रश्नों को भौतिक या वैज्ञानिक दृष्टिकोण से समझने की आकुलता, नवीन भौतिक सत्यों के बीच बनती हुई मानव चरित्र की नई दिशाएं, उपन्यास विधा में विद्यमान थी। स्वाधीनता प्राप्ति के बाद हिन्दी कथा साहित्य में उपन्यासकारों ने जीवन के यथार्थ को परिभाषित किया। इनका उद्देश्य यथार्थ अंकन से है जो पाठकों को विश्वास दिलाता है कि वह जो कुछ कर रहा है उनके संसार की ही बात कह रहा है। यथार्थवाद के सहारे यथार्थ का ही चित्रण किया जाता है। उपन्यास का उद्देश्य महान है इसलिए उपन्यासकार के पास जीवन-दृष्टि होनी चाहिए। जीवन के यथार्थ का गहरा अनुभव होना चाहिए, सृजनात्मक कल्पना की अपार शक्ति होनी चाहिए और जीवन का विवेचन होना चाहिए।

समकालीन उपन्यासों में आधुनिक मानव की अभिशप्त नियति और विवशता को दिखलाया गया है। इन उपन्यासों में अजीब प्रकार का आत्मनिर्वासन, अकेलापन और अजनबीपन देखने को मिलता है। इनमें महानगरीय जीवन, आधुनिकता बोध के साथ जीवन जीते स्त्री-पुरुष, द्वन्द, घुटन, तनाव, अकेलापन, अजनबीपन और आधुनिक जीवन के विविध आयामों को विषय बनाया गया है। आधुनिकता के दबाव से जीवन में उभर आई बौद्धिकता ने विचारों के केन्द्र में मनुष्य को प्रतिष्ठित किया है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसका चरित्र प्रदत्त न होकर सामाजिक-सांस्कृतिक परम्पराओं से अर्जित तथा सामाजिक आर्थिक दशाओं से निर्धारित व शासित होता है। बौद्धिकता व तर्कशीलता के कारण आदर्शवादी-सामन्तवादी विचारधारा की गुंजलक से मुक्त होकर आधुनिक मनुष्य का आग्रह धीरे-धीरे यथार्थ पर बढ़ने लगा। आधुनिक बोध द्वारा प्रतिष्ठित जीवित मानव व्यक्ति की धारणा ने आदर्शवाद के उन्मूलन की भूमिका अदा की है। वास्तव में यथार्थवादी चेतना अमूर्त और वायवीय किस्म की लिजलिजी-सी चीज न होकर मूर्त और जानदार होती है, जो सन्दर्भों को मांसल और ठोस रूप में पेश करती है।

यथार्थवाद ऊलजलूल परलोकवादी धारणाओं का तिरस्कार करता है और लोकोत्तर सन्दर्भों में अनिर्णायक माथापच्ची करने के बजाय इर्द-गिर्द बिखरे हुए वास्तविक और जीवन्त परिवेश में से रचना सामग्री तलाशता है तथा लेखक को तमाम चीजों को देखने का एक नया दृष्टिकोण देता है। विवेच्य युग के उपन्यासों में अधिकांश उपन्यास प्रायः सामाजिक मूल्यों के चित्रण के उद्देश्य से ही लिखित हैं इनमें निम्नवर्ग, मध्यवर्ग और उच्चमध्य वर्ग में उच्चतर वर्गीय मूल्यों के संक्रमण की प्रवृत्ति को देखा जा सकता है। इन उपन्यासों में अधिकांशतः मध्यमवर्गीय समाज के परम्परागत जीवन मूल्यों की संक्रान्ति को दिखाया गया है। भारतीय समाज में कामतुष्टिपरक जैविक मूल्यों के विघटन का एक प्रमुख कारण पुरुष द्वारा नारी को भोग्या समझने का दृष्टिकोण रहा है, इसलिए उपन्यासों में यह स्वर मुखरित हुआ है। उपन्यासों का अधिकांश क्षेत्र पराजैविक सामाजिक मूल्यों के लेखन से भरा है। प्रस्तुत शोध में सामाजिक मूल्यों की स्थिति का आंकलन पारिवारिक मूल्यों से आरम्भ होता है क्योंकि यही व्यक्ति और समाज के मध्य सम्बन्धों का सूत्रधार होते हैं। पारिवारिक सम्बन्धों के आधार पर परम्परागत ढांचा जर्जर हो गया है। उसका स्थान अर्थकेन्द्रित व्यक्तिवादिता ने ले लिया है। यह समानता की चाह मुखर व्यक्तिवादिता को जन्म दे रही है। इसलिए संयुक्त परिवारों का विघटन होकर इकाई परिवारों का निर्माण हो रहा है। यह विघटन पति-पत्नी के सम्बन्धों को भी खोखला बना रहे हैं। इन स्थितियों को ही उपन्यासों में लेखनीबद्ध किया गया है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद उपन्यासों में नारी-पुरुष सम्बन्धों के मध्य बदलते जीवन मूल्यों का अंकन हुआ है। इस व्यक्ति स्वातन्त्र्य के कारण आत्मनिर्वासन की स्थिति उत्पन्न होने लगी है। बढ़ते औद्योगिकीकरण, शहरीकरण और नारी स्वातन्त्र्य के कारण उलझनभरी स्थिति उत्पन्न हो गई है। इन उपन्यासों के माध्यम से लेखकों ने इस संघर्ष को व्यक्त किया है। पति-पत्नी के सम्बन्ध, पिता-पुत्र के सम्बन्ध, माता-पुत्री आदि सभी सम्बन्धों के मध्य गहरी होती खाई और अवसादग्रस्त होते लोगों के मन की व्यथा को इन उपन्यासों में उभारा गया है। समसामायिक उपन्यासों में यौन-मुक्तता को ही नारी स्वातन्त्र्य की सीमा समझने वाली आधुनिक नारी, विधवा विवाह, विवाह संस्था को नकार कर स्त्री-पुरुष के नए सम्बन्धों को मान्यता देने में विवाह सम्बन्धी नए मूल्यों की उभरती दिशाओं का भी लेखन किया गया है। मूल्य परिवर्तन के दौर में आत्मनिर्भरता के लिए सामाजिक नीतियों, मानसिक ग्रन्थियों से जूझने के प्रयत्न के कारण भले ही नारी की भूमिका नए मोड़ ले चुकी है किन्तु अकेलेपन की यातना ने उसे अजीब स्थिति में पहुँचा दिया है। 'पचपन खम्भे लाल दीवारें' उपन्यास की सुषमा ऐसी मध्यमवर्गीय बड़ी उम्र की अविवाहित नारी है जो या तो स्वयं ही सामाजिक रूढ़ियों पर बलि होने से इन्कार करके अपने पैरों पर खड़ी होने की कोशिश कर रही है या फिर पारिवारिक आर्थिक जटिलताओं, मनवांछित साथी न मिल पाने की स्थिति में दार्शनिक मूल्यों को अपनाते को विवश है। इन उपन्यासों का मूल स्वर अर्थचेतना, वर्ग संघर्ष, समाजवादी और साम्यवादी विचारधाराओं की स्वीकृति के बाद

मार्क्सवादी दार्शनिक मूल्यों को स्वीकारना रहा है। उपन्यासों में मानव चिंतन का पक्ष उभरकर आया है। चिंतन के क्षेत्र में ईश्वरवादी दृष्टिकोण को अनदेखा कर मानव को केन्द्र में रखा गया है। मानव पर वैज्ञानिकता एवं बौद्धिकता और इससे उत्पन्न मार्क्सवादी एवं अस्तित्ववादी दर्शन ने ईश्वर सम्बन्धी विश्वास को गलत ठहराया है और मूल्यसम्बन्धी धारणाओं को व्यक्ति से ही सम्बद्ध कर दिया। अब व्यक्ति ही स्वयं के दुख के लिए जिम्मेदार है। मूल्य धारणा की दृष्टि से मानव केन्द्रित हो गया है। भारतीय सामाजिक जीवन—मूल्यों के विघटन के दौर से गुज़र रहा है। इस युग के उपन्यासकारों ने परिवेश की जटिलता और व्याकुलता को अभिव्यक्ति का वैचित्र्य दिखाकर, प्रयोगों के अजूबों से अपनी रचनात्मक प्रतिभा का परिचय दिया। युगीय परिवेश के संघर्ष को झेलकर उसे अभिव्यक्ति देने का प्रयास किया है। साहित्यिक मूल्यों को समाज के सुंदर—असुंदर, नैतिक—अनैतिक सभी पक्षों के साथ बिना किसी मिलावट के अभिव्यक्त किया है। अनुभूति का ईमानदारी के साथ निर्वहन करते हुए लेखक ने परिवेश में व्याप्त घृणा, विरक्ति और अवसाद आदि को यथारूप अभिव्यक्त किया है। उपन्यासकारों ने बिना सपनों में उलझाए, बिना आदर्श निर्वाह की मान्यता दिए उस प्रत्येक क्षण का लेखन किया है जो साहित्यिक प्रवृत्ति के लिए आवश्यक है। उपन्यासों में परिवेशगत यथार्थता का जीवन्त चित्रण है। 'अंधेरे बंद कमरे' में समाज की घुटन, टूटन और विच्छृंखलता की स्थिति दिखलाई देती है तो 'अपने—अपने अजनबी' में व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों की टूटन और व्यक्ति की सम्बन्धनिरपेक्षता की पकड़ दिखाई देती है। इन व्यक्तिवादी लेखकों का परायापन वास्तविकता की अपेक्षा बौद्धिक विलासवाले पराएपन को अधिक चित्रित करता है जिसे वह बंद कमरों में बैठे मानसिक स्तर पर झेल रहे हैं।

आधुनिक जीवन में आत्मनिर्वासन के घटक की प्रमुखता स्वीकारना अतिशयोक्ति न होगी क्योंकि आधुनिक त्रासदी भाग्य की प्राचीन त्रासदी न होकर 'चरित्र' की त्रासदी है। जिससे आधुनिकता बोध में एक अजनबी और परायी दुनिया नजर आती है। आत्मनिर्वासन की यह भावना जिन्दगी को बेहद अजनबी और अकेला बना देती है। अब व्यक्तिगत जिन्दगी का कोई कोना या अंग, गुप्त, गोपनीय, निजी तथा भेदपूर्ण नहीं रखा गया। तब नैतिक शालीनता तथा सामाजिक नियन्त्रण दोनों में विस्फोट हुआ, सेक्स की निर्द्वन्दता, पारिवारिक जिन्दगी की निरंकुशता, दफ्तर तथा चौराहे के अपमान और निजी वर्जनाएँ, अतृप्त आकांक्षाएँ, नानाविध मनोवैज्ञानिक विविधताओं के साथ अभिव्यक्त हो उठी। इससे साहित्य क्षेत्र में आधुनिकता के सन्दर्भ में आए बदलावों पर पर्याप्त रोशनी पड़ती है तथा पारम्परिक और आधुनिक साहित्य का गुणात्मक वैशिष्ट्य और निर्वासन अपनी साहित्यिक रचनाशीलता के परिप्रेक्ष्य में उजागर हो जाता है।

हिन्दी उपन्यास क्षेत्र में प्रेमचंद ने आदर्शवाद को परे ठेलकर 'गोदान' के माध्यम से जिस यथार्थ की प्रतिष्ठा की थी, उस यथार्थ पर आदर्शवाद का गहरा दबाव था। उनकी

घटनाएँ यथार्थ थी, किन्तु उनका नियोजन एक विशेष आदर्शों के अनुसार किया गया था। चौथे दशक में हिन्दी उपन्यासकार को दो मोर्चों पर एक साथ लड़ना था। एक तरफ आदर्शवादी चेतना थी जिसकी झलक और छटपटाहट का संकेत प्रेमचन्द, प्रसाद और निराला की औपन्यासिक रचनाओं में स्पष्ट रूप से मिलता है, जबकि दूसरी तरफ सामाजिक परम्पराओं के दबावों के नीचे पिसती 'व्यक्तिवादी चेतना थी, जिसकी अभिव्यक्ति छायावादी कवियों ने तीसरे दशक के आरम्भ में अपनी कविता के माध्यम से की थी और जिसे प्रसाद ने अपने उपन्यासों के माध्यम से अत्यन्त संवेदनशील रूप में रचा। वैयक्तिक चेतना की मुखर अभिव्यक्ति और उसकी सामाजिक परम्पराओं व रुढ़ मान्यताओं से टकराहट का सशक्त सृजनात्मक अंकन जैनेन्द्र के 'त्यागपत्र' में उपलब्ध होता है, जिसमें मृणाल अपनी आत्मपीड़क विद्रोहात्मकता में पारम्परिक मूल्यों से अजनबी होकर सामाजिक दबावों के नीचे टूट जाती है। मृणाल की यही विद्रोही मुद्रा अपने पूरे बौद्धिक आवेग और फैलाव के साथ अज्ञेय के 'शेखर एक जीवनी' में प्रकट होकर यथार्थ के नये आयाम खोलती है। अज्ञेय ने इसे संवेदनशील धरातल पर इसकी सम्पूर्ण अस्तित्ववादी चिन्ताओं के साथ रचने का कलात्मक उपक्रम किया है। इस उपन्यास में वैयक्तिक चेतना विस्फोटक रूप में उभरती है। इस कथन के परिप्रेक्ष्य में छठे दशक के उपन्यासों में मिलने वाले सम्बन्धों के तनावों की प्रभावशाली भूमिका को समझा जा सकता है, जिसके मूल में सांस्कृतिक मूल्यों की टकराहट, अवरोध और मूल्यगत बदलाव की कसमसाहट और छटपटाहट है, आत्मनिर्वासन का हल्का सन्दर्भ इन उपन्यासों में मिलने लगता है।

“बड़े-बड़े राष्ट्रीय या वैयक्तिक उद्योगों की छाया में करोड़ों लोगों का ऐसा वर्ग (मध्यम वर्ग) है जो कहीं भी अपने को जुड़ा हुआ नहीं पाता। कोई शहर उनका अपना नहीं है, कोई सम्बन्ध उनका अपना नहीं है, उनकी जड़ें न कहीं पीछे खेत-खलिहानों में हैं, न किसी संयुक्त परिवार में।<sup>1</sup> साठोत्तरी पीढ़ी का हिन्दी रचनाकार जीवन की इस कड़वी, कसैली, तलख अनुभूति को सृजनात्मक स्तर पर रचने का साहसपूर्ण कलात्मक प्रयास करता है। फलस्वरूप सातवें दशक के साहित्य में महत्वपूर्ण और बिलकुल नये ढंग का बदलाव परिलक्षित होता है। “स्वतन्त्र्योत्तर मानस के खण्डित स्वप्नों और एक-एक कर टूटते भ्रमों के बीच रह-रहकर एक ऐसा रेगिस्तान पनप रहा है, जिसमें संवेदनाओं की मार्मिकता और भाव-बोध की भिन्नता दोनों ही एक अजनबीपन का बोध देने लगते हैं। गत बीस वर्षों में यह रेगिस्तान, यह अजनबीपन और आत्म साक्षात्कार का पाषाणी अवरुद्धता बढ़ी है।”<sup>2</sup> समकालीन साहित्य को सिर्फ शास्त्रीय या साहित्यिक मूल्यों से नहीं जाना जा सकता, उसे समझने के लिये समकालीन समाज की राजनीतिक, आर्थिक और सारी सामाजिक बनावट को समझना होगा। “पिछले बीस-पच्चीस वर्षों के साहित्य ने जो समाजशास्त्रीयों को आकर्षित करना शुरू कर दिया है वह आकस्मिक नहीं है। “कारण यह है कि अपने सम्बन्धों और सन्दर्भों में जीने वाले आदमी का वह एक प्रमाणित दस्तावेज है। आज के सम्पूर्ण समय में संघातों के बीच साँस लेते मनुष्य की कुण्ठाओं,



आकांक्षाओं, प्रयत्नों और हताशाओं को अगर हम ईमानदारी और कलात्मक प्रभविष्णुता से आँक सके तो हमें किसी शास्त्रीय प्रमाणिकता की आवश्यकता नहीं है, बल्कि शास्त्र अपनी प्रमाणिकता इन रचनाओं से तय करेगा।<sup>3</sup> प्रस्तुत विवेचन में विविध प्रकार के उद्धरणों की उपादेयता को इसी रूप में स्वीकार किया गया है।

हम केवल औद्योगीकरण को आत्मनिर्वासन का कारण मानते हैं, जबकि ऐसा नहीं है। मशीन कैसे पराया बना सकती है जो स्वयं निर्जीव है। इस अकेलेपन की जिम्मेदार वह व्यवस्था है जिसने इसका दुरुपयोग किया है। पूर्व के साहित्यकारों ने भी इसे अनुभव किया था। “बढ़ते मशीनीकरण के कारण जनसाधारण को पराएपन ने घेर लिया लेकिन अलगाव और पराएपन ने पूंजीपति वर्ग को भी नहीं छोड़ा। पूंजीवादी समाज में यह अलगाव और अधिक गहरा दिखाई देता है। वहाँ समस्त आदर्शवादी गुण समाप्त हो जाते हैं, बेकारी और प्रयोजनहीन कर्म व अप्रतिष्ठात्मक परायापन है जो सक्रिय होकर समाप्त किया जा सकता है। यह सक्रियता ही पराएपन से मुक्ति का मार्ग है।”<sup>4</sup> हिन्दी साहित्य में वैयक्तिक संदर्भों में अकेलेपन को अभिव्यक्ति मिली है। पराएपन से अकेलापन उत्पन्न होता है। यह समस्या किसी देश विशेष की नहीं है, यह विश्वभर की समस्या है। इसी कारण लेखक अकेलेपन का आग्रह करते हुए रचनाओं में उसकी दुहाई देते हैं। यह अकेलापन अपने परिवेश से जुड़े होने का अकेलापन है। समाज के बीच रहते हुए चेतना के स्तर पर अकेलेपन का अनुभव है जिसे आज का बुद्धिजीवी झेल रहा है। अज्ञेय का वक्तव्य अकेलेपन और जुड़ेपन दोनों में घालमेल करता है—

‘यह दीप अकेला स्नेहभरा  
है गर्वभरा मदमाता,पर  
इसको भी पंक्ति को दे दो।

अपने अकेलेपन को दोहरे स्तर पर झेलता हुआ व्यक्ति न तो अकेलेपन से और न सामाजिक स्थिति से ही जुड़ता है अपितु अपने वैयक्तिक अहंम् को पकड़े हुए एक विशेष प्रकार के आत्मनिर्वासन में जीता है। अज्ञेय और उनके समकालीन लेखक इसी प्रकार के अकेलेपन को अभिव्यक्त करते हैं। नितांत एकाकीपन में मनुष्य अपनी नियति सृजित कर सकता है किन्तु व्यक्तित्व के विकास के साथ ही मनुष्य अपनी अपेक्षित अन्तिम परिणति तक पहुँचेगा। “शराब की बोतल, पब्लिक स्कूल में पढ़ने वाली संतति, फैशन वाली वेशभूषा, सिगार और मिनीस्कर्ट आदि ऐसी स्थिति है जो परायेपन के निमित्त कारण हो जाते हैं। तब रहन—सहन का स्तर तो बढ़ जाता है लेकिन मनुष्य की सामाजिक उन्नति नहीं होती, उसके सामाजिक स्व का पूरा विकास नहीं होता; उसे मनोरंजन की स्वतन्त्रता नहीं होती, तब इस तरह का भ्रामक एवं घटिया आत्म आधिपत्यमूलक परायापन परिव्याप्त हो जाता है। हमारे उपभोग प्रधान अर्थतन्त्र में नवोदित मध्यमवर्ग इसका शिकार हो गया है। ये वस्तुएँ प्रतिष्ठा, आकर्षण एवं सुविधा तीनों को प्रदान करती है। मात्र प्रतिष्ठा के लिये इनका उपयोग एक तीव्र पराये आवेश का स्रोत हो जाता है,

जिसमें मनुष्य अपने स्वयं को खो देता है।<sup>5</sup> भारतीय संदर्भ में अजनबीपन देश विभाजन, सत्ता हस्तान्तरण व समाज में फैलते भ्रष्टाचार, धार्मिक और जातिगत भेदभाव विकसित होते मशीनीकरण, नैतिक और मानवीय जीवन मूल्यों के पतन के कारण है। यह अजनबीपन हमारी जड़ों की उपज नहीं है। पश्चिमी देशों में यह मात्र चेतनागत अनुभूति है, जबकि हमारे यहां सम्बन्धों को निभाते हुए उसे अनुभव किया जा रहा है। इस अन्तर का कारण ही भारतीय समाज व व्यक्तिगत जीवन में वैसी ऊब अकुलाहट, सम्बन्धों में टूटन, एकरसता नहीं है जिसका अनुभव पश्चिमी देशों में साधारण व्यक्ति भी करता है। यहां यह अजनबीपन छुटपुट रूप में अवश्य मिलता है। हमारे यहाँ अजनबीपन का एक प्रमुख कारण है गलत शिक्षा नीति और यंत्र संस्कृति द्वारा प्रादुर्भूत युवकों की बेरोजगारी और विपन्नता जिसकी परिणति यौन अराजकता में देखी जा सकती है।

भारत में समाजवादी व्यवस्था के निर्माण से आत्मनिर्वासन पर विजय प्राप्त की जा सकती है, क्योंकि भारतीय सामाजिक जीवन में व्याप्त आत्मनिर्वासन विवश और अपंग है, किन्तु ऊर्जस्वी मनुष्य का निर्वासन है, जो कर्म का अवसर नहीं पा सका है। भारतीय आत्म-निर्वासन भीषण गरीबी और अभाव की उपज है जो कि पश्चिम के निर्वासन से सर्वथा विपरीत है। इस अन्तर को पहचानने के साथ ही हमें पूर्वी और पश्चिमी मूल्यों के द्वंद को भी मिटाना होगा। जिसके फलस्वरूप विचित्र सी रिक्तता की अनुभूति होती है। इसी रिक्तता से आत्मनिर्वासन का अंकुर प्रस्फुटित होता है। हमें जीवन की उत्तरोत्तर गति और जटिलता को समझते हुए एक नवीन जीवनशैली विकसित करनी होगी, जो इस रिक्तता को कम कर सके, इसमें सामंजस्य बिठा सके और हमें अपनी जड़ों से, अपनी परम्पराओं से जोड़कर रखते हुए नवीन मान्यताओं, रीतियों को अपनाना सिखा सके। हमें हमारी मानसिकता को वह उच्च भाव भूमि देनी होगी जो नूतन एवं पुरातन में सामंजस्य बिठा सके।

आधुनिक व्यक्ति को यह समझना होगा कि सदियों पुरानी हमारी संस्कृति और मूल्य व्यर्थ या हीन नहीं है बल्कि समयानुसार उनमें परिवर्तन अपरिहार्य है। उसे पश्चिम की चकाचौंध ने भ्रमित कर दिया है। आज का मनुष्य जीवन में किसी भी पड़ाव पर सब-कुछ परिवर्तित एवं स्वयं के अनुकूल स्थितियाँ चाहता है। इस हेतु वह अपने अतीत से स्वयं को जानबूझकर अलग कर लेता है। लेकिन इस तरह वे स्वयं की जड़ें काट देता है और बिना जड़ के कोई भी जीवन रूपी पेड़ प्रस्फुटित नहीं हो सकता। जिसका भयावह परिणाम आत्मनिर्वासन के रूप में स्वयं ही भुगतता है। हमें उच्च आकांक्षा और वर्तमान परिस्थितियों में भी सामंजस्य बिठाना होगा। क्योंकि इन दोनों में असंगति ही सर्वप्रथम हीनता और व्यर्थता को जन्म देती है। भारत में आत्मनिर्वासन का रूप इतना भयंकर नहीं हुआ है, जितना यूरोप में है। हाँ, लेकिन हम उसकी तरफ अग्रसर हैं और इसीलिये हमें अपनी जीवन शैली, विकसित नवीन मूल्यों, मान्यताओं पर पारिवारिक सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक आर्थिक स्थितियों पर पुनर्विचार करना होगा, क्योंकि जीवन के

जिस परम् आनन्द की प्राप्ति के लिये हमने इन्हें अपनाया था। ये हमें वहाँ न ले जाकर अन्धेरे गर्त में धकेल रहे हैं। हम उस मार्ग से भटक कर बहुत दूर आ गये हैं। हमें हमारी नई पीढ़ी को समझाना होगा कि परिवार रूपी वृक्ष की जड़ों को सींचे बिना वह पल्लवित-पुष्पित नहीं हो सकती अर्थात् समाज, मान्यताएँ, रीतियाँ, इनको वह स्वस्थ रूप में स्वीकार करे। जिस प्रकार सूर्य हर रोज उदित होता है और हर रोज अस्त होता है। उसी प्रकार जीवन में भी उतार-चढ़ाव आते रहते हैं। मनुष्य की इच्छाएँ पानी के बुलबुले जैसी हैं। उनके लिये स्वयं को व्यर्थ समझना मानव की भूल है। परिस्थितियाँ, लोग, रिश्ते आदि अनुकूल ना हो तो उन्हें अनुकूल बनाया जा सकता है। इसी का नाम समायोजन है। जो एक स्वस्थ जीवन के लिये अत्यावश्यक है।

इस शोध के माध्यम से एक नवीन, रूचिपूर्ण एवं शोधपरक जानकारी देने का प्रयास किया गया है, जिसका उद्देश्य समाज में व्याप्त आत्मनिर्वासन, कृण्ठा, अकेलेपन, अजनबीपन की अनकही पीड़ा को अभिव्यक्त किया गया है जिससे इसके परिष्कार या शमन हेतु सही दिशा में कार्य किया जा सके। ईश्वर की सबसे सुन्दर और श्रेष्ठ रचना मानव और उससे निर्मित समाज का स्वस्थ विकास किया जा सके। सुमित्रानन्दन पंत द्वारा रचित निम्न पंक्तियाँ चरितार्थ की जा सके –

‘सुन्दर है विहग,  
सुमन सुन्दर, मानव! तुम सबसे सुन्दरतम्’,

## सन्दर्भ ग्रन्थ

---

- 1 यादव राजेन्द्र : प्रेमचन्द की विरासत और अन्य निबन्ध, पृ. 12
- 2 आधुनिक भाव-बोध की संज्ञा : 1977 : इलाहाबाद : पु. 135
- 3 यादव राजेन्द्र : प्रेमचन्द की विरासत और अन्य निबन्ध : 1978 : पृ. 22
- 4 बख्शी श्री पदुमलाल पुन्नालाल : विश्व साहित्य
- 5 कुंतल डॉ. रमेश 'मेघ' : आधुनिकता बोध और आधुनिकीकरण : पृ. 206

अष्टम  
अध्याय

## अष्टम अध्याय

### उपसंहार

व्यक्ति समाज की एक महत्वपूर्ण इकाई है, पर समाज मनुष्य का योग मात्र नहीं है। समाज मानवीय अन्तः सम्बन्धों की एक व्याख्या है, जैसा कि मैकाइवर ने कहा है, कि समाज सामाजिक सम्बन्धों का जाल है। नगरों/महानगरों में औद्योगीकरण, यातायात के साधनों की सुलभता के कारण मेल-जोल के पर्याप्त अवसरों की उपलब्धता, विचार विनिमय आदि के कारण मानवीय सम्बन्धों के अवसरों में पर्याप्त वृद्धि हुई है। गाँव में जहाँ व्यक्ति अपने परिवार और जाति तक सीमित रहता था, वहीं शहरों में आकर वह जाने-अनजाने में ही अनेक व्यक्तियों संस्थाओं और संगठनों से सम्बद्ध हो जाता है, किन्तु इन सम्बन्धों का स्वरूप सरल नहीं रह गया है। जटिल से जटिलतर हो गया है। व्यक्तिगत स्वार्थ, स्तरीय भेदभाव, संघर्ष, स्पर्धा आदि ने नैतिक मूल्यों के पतन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। आज मानव सामान्य परिस्थितियों में नहीं जी रहा है। निरन्तर एक कसाव, तनाव, कुण्ठा और अलगाव का अनुभव करता है। यह अलगाव, पहले अस्थिरता, आत्मपीड़ा के रूप में होता है, तत्पश्चात् व्यक्ति संवेदनशून्य हो जाता है, और फिर प्रारम्भ होता है अन्तहीन अजनबीपन की खाई में गिरना। भौतिकवादी युग में जहाँ पूंजी ही मूल्य बन गयी है, और समाज में मान-प्रतिष्ठा प्राप्त करने की होड़ में लगा प्रत्येक व्यक्ति एक-दूसरे का प्रतिद्वन्दी बन बैठा है, वहाँ प्रेम, करुणा, सहानुभूति, संवेदनशीलता जैसे नैतिक मूल्य खण्ड-खण्ड हो गये हैं। व्यक्ति अमानवीय और आत्मकेन्द्रित होते जा रहे हैं।

औद्योगिकी के द्रुत विकास से जहाँ जीवन में व्यस्तता आयी है, वहीं खालीपन भी उभरा है, इस खालीपन ने कभी न समाप्त होने वाली ऐसी बेचैनी और ऊब को जन्म दिया है, जिसका किसी प्रकार शमन नहीं किया जा सकता। अजनबी व्यक्ति ज्यादा संवेदनशील प्रकृतिवाले और प्रतिभाशाली होते हैं वह चाहते हैं कि उनके जीवन का कुछ अर्थ हो, कुछ लक्ष्य हो तथा जीने के पीछे किसी अच्छे उद्देश्य की प्रतीति हो, लेकिन प्रायः इस प्रकार की सोद्देश्यता खोजने वालों के साथ कुछ न कुछ अप्रिय या असामान्य घटना घटित हो जाती है। ऐसे व्यक्ति जीवन में ऊँचा लक्ष्य तो रखते हैं, किन्तु उनका लक्ष्य उनकी पहुँच से दूर रहता है, और जब वे इसमें असफल होते हैं, तब वे अपने विभ्रमों में और वृद्धि कर लेते हैं।

उनका असन्तुष्ट आहत, प्यासा अहं पीछे धकेल दिया जाता है और उनके आगे विराट खालीपन धीरे-धीरे पसरने लगता है, अजनबी व्यक्ति इससे भागना चाहता है, और इस भागने में वह स्वयं से भी भागने लगता है, या कहें कि स्वयं से विमुख हो जाता है। ऐसा व्यक्ति जीवन के राजमार्ग पर आने का प्रयत्न भी करते हैं, पुनः जीवन जीने का प्रयास भी करते हैं,

किन्तु वह समय के परिवर्तन को आत्मसात नहीं कर पाते, ऐसे व्यक्ति जीवन में किसी प्रकार का आनन्द नहीं ले पाते, वे अपनी एकरसता को भंग करने के लिये प्रयत्नशील रहते हैं, किन्तु खालीपन से नहीं भाग पाते और दुनिया की भीड़ में स्वयं को सबसे अलग, सबसे अकेला अनुभव करने के लिये विवश हो जाते हैं। व्यक्ति की इसी भावना को आत्मनिर्वासन कहते हैं जिसमें वह न तो समाज से जुड़ा रहता है, और न ही स्वयं से। उसे लगता है, वह केवल इस संसार में अभिशप्त जीवन जीने को विवश है। उसे लगता है, वह संसार में सबसे अधिक व्यर्थ है, जिसकी कोई उपयोगिता नहीं है। साहित्य मानव का यथार्थ प्रतिबिम्ब है, जैसे-जैसे मनुष्य के जीवन में परिवर्तन आते हैं, साहित्य भी अपना रूप बदल लेता है। या ये कहें कि जैसा मनुष्य का जीवन वैसी ही प्रतिच्छाया साहित्य में दिखाई देने लगती है। स्वतन्त्रता के बाद स्वराज्य की कल्पना सही अर्थों में चरितार्थ नहीं हुई, लोकतंत्र और समाजवाद की हवाई बातें होती रही। देश विभाजन और साम्प्रदायिकता की दूहरी मार तथा औद्योगीकरण, शिक्षा के द्रुत प्रसार आदि ने पूरे जनमानस को झकझोर दिया। समाज की पुरानी मर्यादाओं और मान्यताओं पर प्रश्नचिन्ह लग गया। पुराने समाज से आज के समाज में आया यह बदलाव चाहे शिक्षा के द्रुत प्रसार से हुआ हो या औद्योगीकरण के बढ़ते कदमों से, इससे जीवन की जटिलताएँ बढ़ती गई और पुराने प्रतिमान अप्रासंगिक होकर चूक गये। इस बदलते हुए परिवेश और इससे उत्पन्न मोह भंग की स्थितियों तथा जीवन में बढ़ती ऊब, तनाव या निराशा या विसंगति और आत्म-निर्वासन की स्थितियों को चित्रित करने की तरफ हिन्दी साहित्यकारों का ध्यान गया और साहित्य में एक नया मोड़ आया। अज्ञेय, मोहन राकेश, निर्मल वर्मा, नरेश मेहता जैसे साहित्यकारों ने अपनी-अपनी लेखनी से आधुनिक व्यक्ति की अनकही पीड़ा को अभिव्यक्त करने का प्रयास किया। आधुनिक जीवन की विडम्बना, विसंगति, अजनबीपन, ऊब, संत्रास आदि की सशक्त अभिव्यक्ति इनके उपन्यासों में देखने को मिलती है।

वास्तव में आज का मनुष्य सांस्कृतिक और संवेदन शून्यता में जी रहा है। उसकी भटकन का कोई अन्त नहीं है। अजनबीपन, आत्म-निर्वासन का बोध आधुनिक चिन्तन में कई तरह से चित्रित है। अस्तित्ववादियों ने इस पर बहुत विस्तार से विचार किया है। इसे अस्तित्ववादियों ने आत्म-परायेपन का बोध कहा है। कीर्कगार्द, सार्त्र आदि विद्वानों ने इस विचारधारा को बहुत बल दिया। अस्तित्ववादी, व्यक्तिवादी जीवनदृष्टि है। व्यक्ति को एक सीमा तक महत्व देना बुरी बात नहीं है। लेकिन समाज के मुकाबले उसके महत्व की प्रतिष्ठा निश्चय ही चिन्त्य है। अस्तित्ववाद में व्यक्ति को बलपूर्वक सर्वाधिक गण्यतम और महत्वपूर्ण मानने का एक फल यह भी हुआ, कि अकेला व्यक्ति और भी अलग अकेला और आत्मनिष्ठ बनता गया है। अस्तित्ववादियों से पूर्व हीगेल और मार्क्स इस आत्म निर्वासन की और संकेत कर चुके हैं। मार्क्स के लिये आत्म परायापन सामाजिक विकास की एक विशिष्ट स्थिति का द्योतक था। पूंजीवादी समाज में सम्पत्ति और श्रम का गलत और अस्वाभाविक विभाजन व्यक्ति में

अजनबीपन और परायेपन की भावना भर देता है जिसके परिणामस्वरूप व्यक्ति अपने ही परिवेश में एकाकी हो जाता है। इसलिये मार्क्स समूची व्यवस्था में आमूल-चूल परिवर्तन के पक्ष में थे। हिन्दी साहित्य में आत्म-निर्वासन जैसी अनुभूतियाँ कामू और काफ़का के अनुकरण पर आयी हैं। कामू कृत 'अजनबी' और पतन कृतियों में परिवेश के अलगाव का अनुभव करके व्यक्ति को केन्द्र में रखा गया है। यह अलगाव बड़ा ही त्रासद और यातनापूर्ण है। व्यक्ति को अकेला, अजनबी और व्यर्थता-बोध का शिकार बनाने का श्रेय या तो मौजूदा परिवेश को है, अथवा आधुनिकता से प्रभावित मानस, इन अनुभूतियों से गुजरने को बाध्य है। अकेलापन, आत्मनिर्वासन, व्यर्थता बोध आदि को आधुनिक मनुष्य के लिये अनिवार्य नियति माना गया है, क्योंकि चेतना की वृद्धि और अपने वर्तमान अस्तित्व के बारे में उसकी निरन्तर सजगता उसे समुदाय से असंपृक्त कर देती है। शोध में उपन्यासों के माध्यम से इस भाव को अभिव्यक्त करने का प्रयास किया गया है।

अधिकतर उपन्यासों में दमघोटू भयावह और गलीज़ परिवेश को ही समाज से व्यक्ति के अलगाव के लिये जिम्मेदार ठहराया गया है। 'अन्धेरे बंद कमरे', 'चलता हुआ लावा', और 'पचपन खम्भे लाल दीवारें' में पारिवारिक परिवेश की वह घुटन है जो अनेक रिश्ते-नातों के होते हुए भी व्यक्ति को अपने घर में ही अकेला और अजनबी बना देती है। 'वे दिन' और 'अपने-अपने अजनबी' में परिवेश अभारतीय है। युद्ध का आतंक अथवा युद्धोत्तर कटु अनुभूतियाँ व्यक्ति को किस तरह अपने संस्कारों और सम्बन्धों की जमीन से काट देते हैं, 'वे दिन' और 'अपने-अपने अजनबी' में इस तकलीफदेह स्थिति का चित्रण देखा जा सकता है। 'चलता हुआ लावा', 'पचपन खम्भे, लाल दीवारें', 'अन्धेरे बन्द कमरे', 'वे दिन' और 'अपने-अपने अजनबी' जहाँ व्यक्ति की विवशता और असहायता के इर्द-गिर्द घूमकर रह जाते हैं। वहीं 'ऋतुचक्र' और 'यह पथ बन्धु था' में व्यक्ति का अकेलापन, आत्म-निर्वासन तथा व्यर्थता-बोध जीवन के व्यापक सन्दर्भों से जुड़े हुए लगते हैं। व्यक्ति के अकेले, अजनबी और व्यर्थ होते जाने के अनुभव और इसको जन्म देने में परिवेश की भूमिका को कहीं सीधे-सपाट शब्दों में कहा गया है तो कहीं संकेत के माध्यम से। परिवेश के घुटनपूर्ण और तकलीफदेह होने की वाज़िब शिकायत इस प्रकार सभी उपन्यास में मिल जाती है। शोध को सात अध्यायों में समाहित करते हुए इस जटिल मानवीय भाव को व्याख्यायित करने का प्रयत्न किया गया है, जिसका अध्यायवार संक्षिप्त विवरण अग्रलिखित है।

#### प्रथम अध्याय —

“समकालीन हिन्दी उपन्यास साहित्य : एक अनुशीलन” — इस अध्याय में उपन्यास साहित्य की विकास यात्रा को संक्षिप्त में, समझाते हुए उपन्यास के स्वरूप में आए परिवर्तन को स्पष्ट किया है।



उपन्यास साधारण जीवन के समानान्तर चलने का और उसे गतिशील करने का पूरा प्रयत्न करता है। इसलिये यह शिल्प के अनुशासन को, अन्य साहित्यिक विधाओं की भाँति अधिक स्वीकार नहीं करता। इसमें कथा के प्रसार की छूट है, यहाँ वर्णन चित्रण की निश्चित परिपाटी नहीं है और पात्रों तथा परिच्छेदों की संख्या तथा आकार-प्रकार पर किसी तरह की रोक-टोक नहीं है। जीवन की जैसी समस्या होती है, ये उसी के अनुरूप अपना रूप ग्रहण करता है, उसके अनुसार ही इसके आकार और कथ्य का विकास होता है। समकालीन उपन्यासों में आधुनिक मानव जीवन की सजीव झांकी प्रस्तुत की गई है। आज का मानव बाहर से संजा-संवरा है किन्तु भीतर ही भीतर खण्ड-खण्ड हो चुका है क्योंकि आन्तरिक सुदृढ़ता प्रदान करने वाले मूल्य, मान्यताएँ आधुनिकता की बजार में तितर-बितर हो गये हैं। आधुनिक परिवेश की कुण्ठा, संत्रास, तनाव, प्रतिद्वंद्विता, अहम् ने उसे ना केवल समुदाय से काट दिया है बल्कि इन सबके प्रभाव से वह स्वयं से भी विमुख हो गया है। मानव जीवन इस सृष्टि का सबसे सुन्दर उपहार है, किन्तु स्वयं से विमुखता तथा व्यर्थता बोध से पूर्णरूपेण ग्रसित होकर वह इस जीवन को सबसे बड़ा अभिशाप समझता है। समकालीन उपन्यासों में मनुष्य के इस भाव को सशक्त रूप में उभारा गया है। इन उपन्यासों के कथ्य को शोध में विस्तृत तरीके अभिव्यक्त करने का प्रयास किया गया है।

### द्वितीय अध्याय –

“आत्मनिर्वासन का अर्थ एवं स्वरूप” – इस अध्याय में आत्म-निर्वासन की व्युत्पत्ति, परिभाषा एवं विस्तृत अर्थ को स्पष्ट करते हुए इसके क्षेत्र तथा प्रसार को अभिव्यक्त किया गया है। समकालीन जीवन को विश्लेषित करने में ज्ञान के विभिन्न अनुशासनों में यह शब्द विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त किया गया है। दर्शनशास्त्र, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, राजनीति विज्ञान, विधि तथा धर्म के क्षेत्रों में विभिन्न संदर्भों में यह शब्द आजकल प्रयुक्त हो रहा है। यह एक जटिल अवधारणा है जिसका व्युत्पत्तिपरक अर्थ पर इस अध्याय में विस्तृत रूप से प्रकाश डाला गया है।

एलियनेशन (आत्म-निर्वासन) के लिये जर्मन भाषा में प्रयुक्त शब्द एन्टफ्रुमदंग (Enterfrumdung) है, जिससे मूलभूत तात्पर्य उस मानवीय स्थिति से है, जिसमें मनुष्य का किसी व्यक्ति, वस्तु या स्वयं से अलगाव बोध निहित होता है। सामान्यतः अर्थों में इसे अपने से या इस संसार से कट जाने के अर्थ में लिया जाता है। इसका क्षेत्र व स्वरूप बहुत व्यापक एवं जटिल है। अतः पाश्चात्य एवं भारतीय स्वरूप में विभक्त करके इसके स्वरूप को अभिव्यक्त करने का प्रयास किया गया है।

### तृतीय अध्याय –

**“आत्मनिर्वासन की भावना को उत्पन्न करने वाली परिस्थितियाँ”** – इस अध्याय में उन सभी परिस्थितियों पर विस्तृत विवेचन किया गया है जो आत्म-निर्वासन की जननी है। वास्तव में मनुष्य परिवेश की ही प्रतिकृति होता है। जैसा परिवेश होता है व्यक्ति का व्यक्तित्व भी वैसा ही ढल जाता है। आधुनिक परिवेश ने व्यक्ति को कुण्ठा, संत्रास, तनाव, दोहरा जीवन दिया है, जिसकी परिणति आत्म-निर्वासन के रूप में होती है। सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक सभी प्रकार की बदलती परिस्थितियों ने मनुष्य को इस गर्त में धकेलने का कार्य किया है। इन परिस्थितियों का मनुष्य के जीवन पर क्या प्रभाव है। इसका विस्तृत अध्ययन इस अध्याय में किया गया है।

### चतुर्थ अध्याय –

**“हिन्दी उपन्यासों में वर्णित आत्म निर्वासन के कारण”** – इस अध्याय में विभिन्न समकालीन परिस्थितियों से उत्पन्न उन सभी कारणों पर प्रकाश डाला गया है, जिन्होंने आत्म-निर्वासन जैसे जटिल भाव को समकालीन व्यक्ति के व्यक्तित्व का स्थायी भाव बना दिया। समकालीन उपन्यासों में इन सभी कारणों की सूक्ष्म व्याख्या की गई है, जिनसे हम समझ पाये हैं, कि अचानक व्यक्ति के व्यवहार में परिवर्तन क्यों आए हैं। इस अध्याय में सामाजिक जीवन की विडम्बनाओं, विसंगतियों, सम्बन्धों के खोखलेपन, नगरीय जीवन की जटिलताओं और पति-पत्नी के बीच सम्बन्धों के अनेक पहलुओं को अभिव्यक्त किया गया है।

### पंचम अध्याय –

**“समकालीन उपन्यासों का अभिव्यंजना शिल्प”** – इस अध्याय में समकालीन उपन्यासों के अभिव्यंजना शिल्प को विषयानुरूप समझाया गया है। समकालीन उपन्यासों में वही कथ्य वर्णित होता है जिसे आज का मनुष्य भोग रहा है। इस भोगे हुए सत्य और अनकही व्यथा को प्राचीन औपन्यासिक शिल्प या भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त करना संभव न था, अतः समकालीन उपन्यासकारों ने नवीन शिल्प, स्पष्ट भाषा, सांकेतिक व प्रतीकात्मक शब्दावली का प्रयोग कर इस जटिल भावना को अभिव्यक्त दी है। इस सभी नवीन शिल्प प्रयोगों की विस्तृत चर्चा इस अध्याय में की गई है।

### षष्ठ अध्याय –

**“अनुभूति और कथ्य सौन्दर्य”** – इस अध्याय में पल-पल बदलती मनुष्य की प्रवृत्ति एवं संक्रमित होती भावधारा को स्पष्ट किया गया है। समकालीन उपन्यासों में कथ्य की नवीनता, रुढ़ि विद्रोह, मार्क्सवादी चेतना, अस्तित्ववादी चेतना, आदि के कारण कथानक में व्यापक परिवर्तन आए हैं। इस अध्याय में इन सभी परिवर्तनों पर प्रकाश डाला गया है।

## सप्तम अध्याय –

“समकालीन हिन्दी उपन्यासों में आत्म निर्वासन की प्रवृत्ति : एक मूल्यांकन” – इस अध्याय में आत्म-निर्वासन के भाव का उदय, उत्तरदायी परिस्थितियाँ, इन परिस्थितियों से जन्म कारण और इन सभी के कारण आधुनिक व्यक्ति और उपन्यास साहित्य में आए परिवर्तन पर चिन्तन किया गया है। प्रस्तुत शोध कार्य में समकालीन हिन्दी उपन्यास साहित्य और आत्मनिर्वासन में आत्म-निर्वासन के भाव को प्रमुख रूप से स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। इस भाव की सूक्ष्म व्याख्या की गई है, जिससे हम इसके सुधार निवारण या शमन हेतु सही दिशा में कार्य कर सकें। वर्तमान समाज में यह भावना सभी वर्ग के व्यक्तियों को प्रभावित कर चुकी है। जिससे मानव का सर्वांगीण विकास संभव नहीं हो पा रहा और समाज जो कि मानवीय जीवन की प्रतिकृति है, छिन्न-भिन्न हो रहा है।

परिशिष्ट

## सारांश

### समकालीन हिन्दी उपन्यास साहित्य और आत्म-निर्वासन

मनुष्यत्वं, मुमुक्षुत्वं, महापुरुषासंश्रयः ।।

आचार्य शंकर ने बताया था कि तीन चीजें बड़े सौभाग्य से मिलती हैं – मनुष्य का जीवन, मुक्ति की तीव्र आकांक्षा और महापुरुषों का सत्संग। हमें मनुष्य का जीवन मिला है, यहां इतने महापुरुषों का सानिध्य भी है और जिस विषय को लेकर हम चिंतन करने जा रहे हैं वह यानि साहित्य। साहित्य, व्यक्ति एवं समूह की सर्वांगीण मुक्ति आकांक्षा और मुक्ति-प्रयत्नों को ही लेकर चलता है। प्रथम एवं द्वितीय विश्वमहायुद्ध की विभीषिकाओं ने मनुष्य को अधिक असहाय एवं बेबस बना दिया। युद्ध की विभीषिकाओं नैतिक मूल्यों के पतन, यांत्रिकता, औद्योगिकीकरण आदि कारणों ने निराशा, कुण्ठा, असंतोष, संत्रास, अजनबीपन, अकेलापन, अलगाव की भावनाओं को उत्पन्न किया जिसमें आधुनिक मानव जीवन पूर्णरूपेण ग्रसित हो गया। साहित्य समाज एवं मनुष्य जीवन का प्रतिबिम्ब है। समकालीन साहित्य में आत्मनिर्वासन की अभिव्यक्ति होना साहित्य द्वारा व्यक्ति की सर्वांगीण मुक्ति-आकांक्षा को प्रमाणित करता है। संभवतः यह संसार के इतिहास में पहली बार हुआ है जब मनुष्य स्वयं अपने लिए समस्या बन गया है। आज का मनुष्य एक तरफ दूसरे ग्रहों पर अपना निवास बनाना चाहता है और दूसरी तरफ उसका अपने संसार से संबंध टूट रहा है। मनुष्य दिन-प्रतिदिन इस विश्व के रहस्यों को उद्घाटित करने में लीन है। नियमतः इस प्रक्रिया में उसे इस दुनिया से और जुड़ना चाहिए किन्तु इसके ठीक विपरीत घटित हो रहा है। सामान्य अर्थों में मनुष्य पूरे विश्व से परिचित है पर दूसरी तरफ वह अपने पड़ोसी से भी अपरिचित है। वर्तमान काल में विज्ञान और प्रौद्योगिकी के द्रुत प्रसार से गांव और शहर के पारम्परिक ढांचे में जबरदस्त बदलाव आया है। वैज्ञानिक सभ्यता के गहरे संघात के फलस्वरूप नए-नए संबंध विकसित हुए। इन नवविकसित संबंधों से मनुष्य सही अर्थों में नहीं जुड़ पाया। पारम्परिक रिश्तों से जड़ उखड़ने से पुराने किस्म के संबंध अर्थहीन हो गए और मनुष्य निराधार हो गया। मशीनीकरण, वस्तुपरकता, आपसी प्रतिस्पर्द्धा और भीषण भागदौड़ से यह संसार आकृतिविहीन हो गया है। इस निराकार संसार से मनुष्य किसी प्रकार का रागात्मक संबंध विकसित नहीं कर पाता। इस असमर्थता से अजनबीपन का बोध पनपता है। आत्मनिर्वासन मूलतः एक सामाजिक-मनोवैज्ञानिक अवस्था है जिसके अन्तर्गत मनुष्य अनुभव करता है कि वह समाज से बहिष्कृत व उपेक्षित है तथा वह समाज, सामाजिक नियमों-उपनियमों व परम्पराओं को प्रभावित करने में नितान्त असमर्थ है। अजनबीपन के मूल में असमर्थता व विवशता की भावना है जिससे क्रमशः सामाजिक जीवन की अर्थहीनता व

आदर्शहीनता उजागर होती है और मूल्यगत खोखलेपन का अनुभव होता है जो धीरे-धीरे सामाजिक जीवन को उदासीनता और अलगाव में बदलकर मनुष्य के जीवन को एकाकीपन और अजनबीपन की भावना से भर देता है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में आत्मनिर्वासन की भावना को स्पष्ट करने के लिए उसके अर्थ, परिभाषा, कारण, परिस्थितियाँ एवं मानव जीवन पर प्रभाव आदि विविध पक्षों का समीक्षात्मक अनुशीलन किया गया है जिसका अध्यायवार संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है –

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध भूमिका एवं उपसंहार सहित कुल आठ अध्यायों में विभक्त है। भूमिका अथवा उपक्रम के अन्तर्गत शोध विषय का परिचय, उद्देश्य एवं उपादेयता पर विहंगम दृष्टिपात किया गया है।

### **प्रथम अध्याय – समकालीन हिन्दी उपन्यास साहित्य : एक अनुशीलन**

प्रस्तुत अध्याय में हिन्दी उपन्यासों में समयानुसार हुए बदलावों को लेखनीबद्ध किया गया है। साहित्यकार मानवीय जीवन के बिखरे हुए सभी पहलुओं को विशिष्ट प्रकार से संजोकर साहित्य के रूप में सृजित करता है। एक प्रकार से साहित्य मानव चेतना की अभिव्यक्ति ही माना जा सकता है। सामाजिक बोध को कृति रूप में सृजित कर देना ही साहित्य है। इसका विस्तार असीमित है जिसे सुविधाजनक बनाने के लिए इसका वर्गीकरण किया गया है। इन्हीं में से एक विधा है उपन्यास जो कि शोधार्थी के शोध विषय से सम्बद्ध है। उपन्यास साहित्य का अवलोकन करने पर यह तथ्य उभरकर सामने आता है कि इसमें सम्पूर्ण जीवन की झांकी की जो झलक मिलती है वही उसकी लोकप्रियता का मूलबिन्दु है। इस अध्याय में उपन्यास विधा को सम्पूर्ण रूप से समझाने का सफल प्रयास किया गया है। उपन्यास समाज की आलोचना एवं विवेचना की प्रस्तुति करता है। समाज की यथार्थ स्थिति से अवगत कराना ही उपन्यास का मूल उद्देश्य होता है।

उपन्यास साधारण जीवन के समान्तर चलने तथा उसे गतिशील करने का प्रयत्न करता रहता है। यहाँ वर्णन चित्रण की निश्चित परिपाटी नहीं होती और पात्रों की संख्या तथा आकारों पर कोई बंदिशें नहीं होती हैं। यहाँ जीवन की समस्याओं के अनुसार इसके आकार एवं तत्वों का विकास होता है। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी का कथन है कि उपन्यास आधुनिक युग की देन है। नए गद्य के प्रचार के साथ-साथ उपन्यास का प्रचार हुआ है। यह आधुनिक वैयक्तिक दृष्टिकोण का परिणाम है। इसमें लेखक अपना एक निश्चित मत प्रकट करता है और कथानक को इस प्रकार सजाता है कि पाठक अनायास ही उसके उद्देश्य को ग्रहण कर सके। और उससे प्रभावित हो सके। लेखकों का इस प्रकार का वैयक्तिक दृष्टिकोण ही नए उपन्यास की आत्मा है। प्रत्येक उपन्यासकार ने अपनी दृष्टि, अपनी रुचि एवं अपने आग्रह के अनुरूप अपनी-अपनी रचना को रूप दिया।

प्रायः सभी उपन्यासकारों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से उपन्यास के विभिन्न तत्वों पर प्रकाश डाला है जिससे सर्वमान्य रूप से उपन्यास की कई विशेषताएं उभरकर आती हैं जो उसे अन्य विधाओं से पृथक करती हैं जैसे- उपन्यास का माध्यम गद्य है , तुलनात्मक एवं चरित्रांकन की दृष्टि से वह अन्य विधाओं की अपेक्षा अधिक सफल है। इसका दृष्टिकोण यथार्थोन्मुखी होता है। उपन्यास में शिल्प लचीला होता है वह अभिव्यक्ति के लिए अन्य विधाओं के गुणों को अपना लेता है। इसमें नाटक, इतिहास, जीवन और निबन्ध आदि की मूल विशेषताएं भी समाहित होती हैं। इसी कारण उपन्यास इतना शक्तिशाली होता है। उपन्यास में नाटक के जैसी संवाद योजना होती है। चरित्रों का विश्लेषण भी संवादों के माध्यम से ही किया जाता है। नाटक की भांति ही इसमें रंगमंच का विधान होता है। उपन्यासकार अपनी कल्पनाशीलता के माध्यम से व्यापक जीवन और गहरे अनुभवों का ताना-बाना बुनता है। कल्पना द्वारा यथार्थ जीवन की अपूर्णता को पूर्णता प्रदान कर अपनी कथा में बिखरे हुए जीवन को सुयोजित सुनिर्दिष्ट रूप प्रदान करता है। उपन्यास में कथा के साथ साथ काव्य के समान भावुकता और संवेदनाएं भी होती हैं जिसके कारण पाठक तल्लीन हो जाता है इसीलिए आलोचकों ने उपन्यास को जेबी थियेटर भी कहा है। हिन्दी साहित्य में उपन्यास विधा का विकास आधुनिक काल में हुआ। हिन्दी का प्रथम मौलिक उपन्यास परीक्षा गुरु भारतेन्दु के जीवनकाल के दौरान ही प्रकाशित हुआ। इसके रचनाकार थे लाला श्रीनिवासदास। भारतेन्दु काल में अनुदित उपन्यासों की प्रधानता थी। प्रेमचंद के पूर्व उपन्यासों की सबसे प्रमुख विशेषता है उनका घटनाप्रधान होना। इन उपन्यासों का उद्देश्य मनोरंजन करना या कोई उपदेश देना था। यह तिलस्मी, एय्यारी, ऐतिहासिक, सामाजिक सभी तरह के हैं। इनमें घटनाएं गहन जीवन संदर्भों और पात्रों की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रियाओं से प्रभावित नहीं होतीं वे जीवन के विभिन्न प्रश्नों, समस्याओं और आकांक्षाओं की जटिलताओं से उलझी होती हैं।

प्रेमचंद के पदार्पण के फलस्वरूप हिन्दी उपन्यास में चेतनता का विकास हुआ। प्रेमचंद की कृतियों में सजीव चित्रांकन, कथोपकथन और देशकाल , शैली, रस आदि का विकास हुआ। उसके बाद उपन्यासकारों ने विभिन्न दृष्टिकोण को माध्यम बनाकर अत्यन्त गम्भीर विषयों को लेखनीबद्ध किया गया। प्रेमचंद ने पहली बार उपन्यास की उद्देश्यता को ध्यान में रखा। सौद्देश्यता हिन्दी उपन्यास क्षेत्र में प्रथम बार प्रेमचंद में ही व्यक्त हुई। मानव जीवन के बुनियादी प्रश्न, उसके अनेकानेक बाहरी-भीतरी रूपों को बनानेवाली, बदलने वाली परिस्थितियां, समस्याएं और अनेक गहन रहस्यमय सत्य यथार्थ हैं। यथार्थ एक व्यापक और संश्लिष्ट वस्तु है जिसमें मानव समाज के सामूहिक और व्यक्तिगत , बाहरी और भीतरी परिस्थितिगत, मानसिक अंधकारमय और प्रकाशमय सभी सत्य एक-दूसरे से मिलेजुले हैं। इस युग के उपन्यासों की यथार्थ चेतना ही उनकी मूल शक्ति है। यथार्थ सामान्य संघर्ष होते हैं, उसकी कुछ विशेषताएं होती हैं, सामान्य सांस्कृतिक धरातल होता है, सामान्य महत्ताएं और हीनताएं होती हैं।

व्यक्ति-व्यक्ति के अपने-अपने सत्य हैं जिन्हें वह जीता है। व्यक्ति समाज विशेष का प्रतिनिधि होता है, उसके अन्तर्मन में निहित उसकी विशिष्टताओं को, उसके बाहरी व्यक्तित्व के भीतर उसके भीतरी व्यक्तित्व को देखकर यथार्थ को प्रस्तुत किया जा सकता है। प्रेमचंद किसी की याद की एकांगिता से पीड़ित न होकर अपने पूरे युग और समाज को उसके सामाजिक यथार्थ को उसके विविध रूपों में प्रस्तुत कर रहे थे।

स्वतंत्रता निःसंदेह किसी भी राष्ट्र के इतिहास की गौरवमय घटना है किन्तु भारतीय संदर्भ में यह उतनी महत्वपूर्ण नहीं बन पाई जितनी होनी चाहिए थी क्योंकि स्वाधीनोत्तर भारत का यथार्थ मानस की अभिलाषाओं के ठीक विपरीत था। देश का यथार्थ एक नए रूप में सामने आया। स्वाधीन भारत की समस्याओं, जटिलताओं एवं यथार्थ की भयावहता को नई पीढ़ी के साहित्यकारों ने खुद भोगा, समझा और उन्हें अपने साहित्य में अभिव्यक्ति दी। स्वाधीनोत्तर परिस्थिति में व्यक्ति व्यापक स्तर पर विभिन्न विघटनों से गुज़र रहा है। उसकी सही पहचान ही समकालीनता का अवबोध है। समकालीन लेखक आज की तात्कालिकता से परिचालित होता है। समसामयिक यथार्थ एक जटिल, संवमित और संश्लिष्ट प्रक्रिया है जिसका कोई एक या अंतिम रूप नहीं है। यह यथार्थ न यथार्थवादी किस्म का है और न मनोवैज्ञानिक ढंग का वह अपने मूल अर्थ में अंतिम संकट से जूझने वाला यथार्थ है। समकालीन साहित्य में जो भयावह यथार्थ है वह अधिकतम अस्तित्व संकट की पहचान कराने वाला और उसकी छानबीन करने वाला है। जटिल प्रकृति वाले इस यथार्थ से सीधे टकराए बिना आज का साहित्य सही ढंग से रूपायित नहीं हो सकता। आज समस्त भारतीय साहित्य में खासकर हिन्दी साहित्य में अकेलापन, संत्रास, मृत्युबोध, निराशा, सामाजिक संबंधों का विघटन जैसी प्रवृत्तियां दिखाई देती हैं। ये सब अपने ही परिवेश के तनाव और दबाव से उत्पन्न हैं। यह वर्तमान परिवेश की नियति है। इस नियति को आज का साहित्यकार विभिन्न विधाओं में अभिव्यक्ति करने का प्रयास कर रहा है। उपन्यास विविध धाराओं में विभक्त हो चुके थे जैसे प्रगतिवादी उपन्यास, आंचलिक उपन्यास, मनोवैज्ञानिक उपन्यास, राजनैतिक उपन्यास, सांस्कृतिक उपन्यास और यथार्थवादी उपन्यास आदि। इनमें वर्तमान समाज की समस्याओं को अभिव्यक्ति प्रदान की गई है। उपन्यास साहित्य की यह यात्रा अविरल अग्रसर है।

### **द्वितीय अध्याय— आत्मनिर्वासन का अर्थ एवं स्वरूप**

इस अध्याय में आत्म निर्वासन की व्युत्पत्ति, परिभाषा एवं विस्तृत अर्थ को स्पष्ट किया है। आत्म-निर्वासन (Alienation) की भावना आधुनिक समाज की एक बहुचर्चित, जटिल एवं बहुमुखी अवधारणा है। इतिहास के आदि युग से लेकर प्रत्येक युग में मानव को किसी न किसी स्तर पर अलगाव-बोध से जूझना पड़ा है। इसलिए अलगाव के चिन्तन के बिना आधुनिक सामाजिक मनःस्थिति का विशिष्ट पक्ष पूर्णतः प्रकाश में नहीं आ पाता। समकालीन जीवन को विश्लेषित करने में ज्ञान के विभिन्न अनुशासनों में यह शब्द विभिन्न अर्थों में प्रस्तुत किया गया



है। दर्शन शास्त्र, समाज शास्त्र, मनोविज्ञान, राजनीति, विधि तथा धर्म के क्षेत्रों में विविध संदर्भों में यह शब्द आजकल प्रयुक्त हो रहा है। स्पष्ट है कि “आत्म-निर्वासन” एक जटिल अवधारणा के रूप में आधुनिक युग की एक ऐसी समस्या बन गयी है, जिसको लेकर मार्क्सवादी और अस्तित्ववादी चिन्तन में काफी विरोध रहा है। अपने इसी विरोधी रूप में यह अवधारणा आज विश्वसाहित्य में एक बहुचर्चित विषय बन चुका है। “अलगाव” के विविध आयामों पर विचार करने के पहले इसके व्युत्पत्तिपरक अर्थ को समझ लेना उचित होगा।

“एलियनेशन” के लिए जर्मन भाषा में प्रयुक्त शब्द “एन्तफ्रमदंग” (Entfremdung) है। “एलियनेशन” और “एन्तफ्रमदंग” के प्रयोगों में हमारा मूलभूत तात्पर्य उस मानवीय स्थिति से है, जिसमें मनुष्य के किसी वस्तु या व्यक्ति से अलगाव या अजनबीपन का बोध निहित है। आत्म-निर्वासन एक ऐसा शब्द है, जिसका दर्शन, अध्यात्म-शास्त्र, मनोविज्ञान और समाज विज्ञानों में भिन्न अर्थों में प्रयोग हुआ है, जिनमें वैयक्तिक सामर्थ्यहीनता, अर्धशून्यता, सिद्धान्तहीनता, सांस्कृतिक अवसाद, सामाजिक कटाव और वैयक्तिक अवसाद पर बल दिया गया है। “एलियनेशन” के पर्याय के रूप में हिन्दी में कई शब्द प्रयुक्त हुए हैं जैसे—परायापन, आत्मनिर्वासन, विलगाव, स्वत्व-अन्तरण, स्वत्व से विलयन, एकाकीपन, अकेलापन, बेगानापन, वीरानापन, उखड़ापन, अजनबीपन, वियुक्ति, कटाव, विमुखता, उदासीनता, पार्थक्य इत्यादि किन्तु ये सभी शब्द आत्मनिर्वासन प्रक्रिया के विविध चरणों के ही सूचक हैं। हिन्दी के अनेक गण्यमान लेखकों एवं आलोचकों ने एलियनेशन के पर्याय शब्द के रूप में आत्मनिर्वासन शब्द को ही चुन लिया है।

सामान्यतः अर्थों में इसे अपने से या इस संसार से कट जाने के मतलब में लिया जाता है। पर इसका विशिष्ट और सूक्ष्म अर्थ परम्परागत सांस्कृतिक ढांचे में उत्पन्न गतिरोध से है। आधुनिक मनुष्य प्रकृति, ईश्वर और समाज से कट गया है। इस तरह सब मिलाकर जीवनगत असमर्थता, विवशता, अर्थहीनता, आदर्शहीनता, मूल्यगत खोखलापन, अलगाव, अकेलापन, परायापन और आत्मनिर्वासन की अनुभूति, अजनबीपन की भावना के मूल प्रेरकत्व बन जाते हैं। शोधार्थी ने आत्मनिर्वासन के पाश्चात्य स्वरूप और इसके भारतीय स्वरूप के साथ-साथ सामाजिक परिप्रेक्ष्य में प्रासंगिकता को अभिव्यक्ति प्रदान की है।

### तृतीय अध्याय— आत्म निर्वासन की भावना को उत्पन्न करने वाली परिस्थितियाँ

इस अध्याय में यह बताया गया है कि व्यक्ति के जीवन में आत्म निर्वासन की स्थिति को जन्म देने में कौन-कौन सी परिस्थितियाँ उत्तरदायी होती हैं। सुविधाओं से भरपूर महानगरों का जीवन ग्रामीण समाज से सर्वथा भिन्न होता है। पाश्चात्य प्रभाव के सम्पर्क में पनपती महानगरीय संस्कृति में यांत्रिक सुविधाओं के मध्य जीते व्यक्ति का मस्तिष्क और मन दोनों ही यांत्रिक हो जाते हैं। समकालीन उपन्यासों में नगर जीवन की इन्हीं जटिलताओं का समावेश किया गया है। इनके बीच अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़ते, असहाय और विवश मानवीय

भावनाओं की अभिव्यक्ति और उनके एकाकीपन को उजागर करना ही उपन्यासकार का लक्ष्य रहा है। महानगरीय जीवन के अजनबीपन में पड़ोसी को पड़ोसी की सुध लेने तक का समय शेष नहीं रहा है। व्यस्त दिनचर्या, विभिन्न रोजगारों के कारण मात्र औपचारिक वार्तालाप ही संभव हो पाता है। घनी आबादी के बावजूद एक-दूसरे से निकटता नहीं होने के कारण संकट की स्थिति में भी अपरिचित जैसा अहसास होने लगता है। प्रस्तुत शोध ग्रन्थ में आत्मनिर्वासन हेतु उत्तरदायी परिस्थितियों को पारिवारिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, महानगरीय, युद्धोत्तर एवं आर्थिक परिवेश में विभाजित कर इनका विस्तृत वर्णन किया गया है।

**पारिवारिक परिवेश** — समाज का बदलता हुआ रूप सबसे पहले परिवार रूपी दर्पण में ही दिखाई देता है। समाज की किसी भी परिस्थिति से परिवार प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। पारिवारिक ढांचे में बदलाव के कारण पिता-पुत्र, मां-पुत्र, भाई-बहिन के संबंधों की आत्मीयता भी सूखती जा रही थी। व्यक्ति बिलकुल अकेला हो गया है। अभावों से पीड़ित, निराशा से क्षुब्ध होकर वह अकेलेपन और अलगाव की जिन्दगी जीने को विवश हुआ।

**सांस्कृतिक परिवेश** — संस्कृति मनुष्य को मानवता की ओर प्रेरित करने वाले आदर्शों, आचार-विचारों और कार्यों, अनुष्ठानों की समष्टि का नाम है।" यही संस्कृति मानवीय समाज के क्रमिक विकास की गाथा है। अगर दूसरे रूप में कहा जाए तो आदिमकाल से प्रचलित रीति-रिवाज, परम्पराओं और आचार-विचारों का नाम ही संस्कृति होता है। कोई भी समाज संस्कृति के बिना जीवित और चलायमान नहीं रह सकता है। महानगरों की भिन्न संस्कृति और भिन्न मूल्यों को स्वीकार करने में और उनके अनुरूप स्वयं को ढालने में सभी नवागंतुकों को कठिनाई होती है और यही कारण उनके जीवन में सांस्कृतिक विक्षोभ का कारण तक बन जाते हैं। महानगरों में समायोजन करने के लिए जूझते नवागंतुक की मनोदशा का वर्णन आलोच्यकालीन उपन्यासों में देखने को मिलता है।

**महानगरीय परिवेश** — औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप भारतीय महानगरीय व्यवस्था का तीव्र गति से विकास होने लगा। अंग्रेजों द्वारा भारतीय उद्योग धंधों को नष्ट करना महानगरीयकरण का मुख्य कारण बना। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भी इस नगर समुदाय की भीड़ को संभाला नहीं जा सका और इससे उत्पन्न अव्यवस्था ने मानवीय संबंधों को तोड़ना आरंभ किया और फिर आरंभ हुई आत्म निर्वासन की स्थिति। समकालीन उपन्यासों में यांत्रिक सभ्यता के दबाव में मनुष्य के अकेलेपन का चित्रण किया गया है। बढ़ती हुई भीड़, जीवन की विडम्बनाओं को दिखाने का प्रयास है। आलोच्य उपन्यासों में दिल्ली, लंदन और बम्बई जैसे महानगरों के जीवन की भाग-दौड़ का चित्रण है। इन रचनाओं का मुख्य स्वर है महानगरीय जीवन की असहनीय भीड़, आतंक, शोर और अजनबीपन। जहां पर मानवीय संबंधों का स्तर सतही मात्र है। इन

उपन्यासों का केन्द्र बिन्दु महानगरीय जीवन ही है। उपन्यास के माध्यम से संबंधों के खोखलेपन और निरर्थकता को व्यक्त किया गया है।

**युद्धोत्तर परिवेश** — युद्ध एक राजनैतिक निर्णय होता है। यह मानव मूल्य मानव जीवन को सर्वाधिक प्रभावित करने वाली शक्ति होती है, वास्तव में युद्ध मनुष्य के सांस्कृतिक और आध्यात्मिक जीवन को ही नष्ट नहीं करता बल्कि उसकी सामाजिकता उसके शारीरिक अस्तित्व का भी संहार करता है। युद्ध मनुष्य की जीवन व्यवस्था में एक ऐसी क्रान्ति है जो उसको हिलाकर रख देती है। युद्ध के कारण सामाजिक संरचना, अन्तर्राष्ट्रीय जीवन, आर्थिक, राजनैतिक, पारिवारिक यहां तक की उसके वैयक्तिक जीवन में विघटन उत्पन्न हो जाता है। मनुष्य के जीवन—साधन, जीवन प्रक्रिया एवं चिंतन पद्धति आदि परिवर्तित हो जाते हैं। इस शताब्दी के दो विश्वयुद्धों ने सम्पूर्ण विश्व के जीवनमूल्यों में क्रान्ति ला दी है इसलिए आज भय, त्रास, अनिश्चितता, विसंगति, विद्रूपता, वीभत्सता आदि स्थितियां जीवन का यथार्थ बनकर पुराने आस्थापूर्ण मूल्यों को भुलाकर नवीन अनास्थापूर्ण जैसे अस्तित्ववादी, क्षणवादी, मृत्युवादी आदि मूल्यों को जन्म दे रही हैं।

**आर्थिक परिवेश** — समाज के संगठन और उन्नति में अर्थव्यवस्था की अहम भूमिका होती है। समाज के परिवर्तित होने के साथ—साथ आर्थिक परिवर्तन भी स्वतः ही होने लगते हैं। आर्थिक व्यवस्था के साथ ही महानगरीय ढांचा भी परिवर्तित होता है। लघु उद्योगों का स्थान कुटीर उद्योग लेने लगते हैं और फिर उत्पन्न होती है विषमता। विषमता के कारण बेरोजगारी और मंहगाई बढ़ने लगती है और यह विषमता ही लोगों के जीवन में विष घोलने लगती है। व्यक्तिवादिता ने जैसे सबको संबंध निरपेक्ष कर दिया है। विशेष रूप में महानगरीय परिवेश में अपने—अपने स्वार्थ साधना में लगा हुआ हर व्यक्ति अपने में अकेला है और समाज जैसे एक भीड़ है। “यहां कोई अजनबी नहीं है। यहां कोई अपना नहीं है। यहां कोई पराया नहीं है। यहां सिर्फ लोग हैं, भीड़ है। यह आत्मकेन्द्रितता की अभिव्यक्ति ही है और यही आत्मकेन्द्रियता आत्मनिर्वासन की परिस्थिति को जन्म देती है।

**चतुर्थ अध्याय— हिन्दी उपन्यासों में वर्णित आत्म निर्वासन के कारण**

इस अध्याय में आत्मनिर्वासन के मूल कारणों की ओर ध्यान दिलाने का सफल प्रयास किया है। ऐसे कौन—कौन से मूल कारण हैं जो व्यक्ति को आत्मनिर्वासन की स्थिति में पहुंचा देते हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद उपन्यासों में व्यक्ति को महत्व दिया जाने लगा। कुछ उपन्यासकारों ने मनोवैज्ञानिक और अस्तित्वादी चेतना से प्रभावित होकर उपन्यास लेखन आरंभ किया जिनमें जैनेन्द्र, अज्ञेय, उपेन्द्रनाथ अशक, नरेश मेहता, निर्मल वर्मा, धर्मवीर भारती, लक्ष्मीकांत वर्मा, राजकमल चौधरी, गिरिराज किशोर, उषा प्रियंवदा और लक्ष्मीनारायण लाल आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इन उपन्यासकारों ने मानवीय जीवन के विविध पहलुओं पर ध्यान

आकृष्ट किया। इनके उपन्यासों में आधुनिकता के प्रभाव के कारण व्यक्ति के जीवन में निराशा, कुंठा, संत्रास, मृत्युबोध, निरर्थकता, अकेलेपन, अजनबीपन और मूल्यहीनता को दर्शाया गया है। हिन्दी उपन्यासकारों ने आधुनिक जीवन विसंगतियों को लेखनीबद्ध किया जिसमें वैयक्तिकता का बोध होता है। स्वातन्त्र्योत्तर काल के उपन्यासों में मानवीय अस्तित्व की समस्याओं, सामाजिक जीवन की विडम्बनाओं, विसंगतियों, संबंधों के खोखलेपन, नगरीय जीवन की जटिलताओं और पति-पत्नी के बीच संबंधों के अनेक पहलुओं को छुआ है। आत्मनिर्वासन के अनेक कारण हैं शोधार्थी ने इनमें से प्रमुख कारणों को शोध का विषय बनाया है जैसे – जीवन के टूटते मूल्यों का सच, मध्यम वर्ग के आन्तरिक अन्तर्विरोध, मानवीय संबंधों का बदलता स्वरूप, स्त्री-पुरुष संबंधों की जटिलताएं, मनोविज्ञान का संबंधों पर सामाजिक प्रभाव, व्यक्ति चेतना का प्रखर स्वरूप, चेतन तत्व से विमुखता एवं व्यर्थता बोध का अकेलापन।

### पंचम अध्याय – समकालीन उपन्यासों का अभिव्यंजना शिल्प

इस अध्याय में समकालीन उपन्यासों के अभिव्यंजना शिल्प को विषयानुरूप समझाया गया है इन उपन्यासों में उस युग का जिस युग में हम जी रहे हैं. उसके सामाजिक परिवेश का सम्पूर्ण और सही –सही पुनर्निर्माण किया गया है। विषय का चुनाव करके किस प्रकार कथावस्तु का निर्माण किया गया है, उसकी क्या-क्या विशेषताएं हैं, इस अध्याय में वर्णित हैं। चरित्रचित्रण में उपन्यासकार कितना सफल हुआ है और किसी भी उपन्यास का वातावरण उसके मूल स्वर को अभिव्यक्ति प्रदान करता है। यह उपन्यासकार की कलात्मक सिद्धहस्तता पर निर्भर करता है कि वह पाठक को उस वातावरण का बोध करवाए जैसा उस उपन्यास में मौजूद है। समकालीन उपन्यासों का मुख्य स्वर अजनबीपन और उसके कारण उपजा आत्मनिर्वासन रहा है। इसी कारण इन उपन्यासों में अजनबीपन की पीड़ा को व्यक्त किया गया। अजनबीपन, अकेलेपन का बोध आधुनिक चिन्तन युक्त उपन्यासों में कई तरह से चित्रित है। विसंगतियों में घिरी हुई मनुष्य की स्वतन्त्रगामी चेतना वातावरण और परिवेश के प्रति अपने आपको अजनबी पाती है और निर्वासित अनुभव करती है। व्यक्ति के अकेले, अजनबी और व्यर्थ होते जाने के अनुभव और इसको जन्म देने में परिवेश की भूमिका को कहीं सीधे-सपाट ढंग से कहा गया है तो कहीं प्रतीक या फेंटेसी का सहारा लिया गया है। प्रतीक, कलाकार के परिकल्पना और चिन्तन का वह पदार्थ-बोध होता है, जो मानव-जीवन के अदृश्य सत्यों की इन्द्रियग्राह्य रूपों में सांकेतिक अभिव्यक्ति करते हैं। समकालीन उपन्यासों में प्रसंगानुसार प्रतीकों का उपयोग उपन्यासकारों ने कहीं स्पष्ट तो कहीं अस्पष्ट रूप से किया है। “सोया हुआ जल” सम्पूर्ण उपन्यास ही अचेतन मन का प्रतीक है, अचेतन मन में सभी बातों का तालमेल नहीं रहता, वैसा ही इस उपन्यास की कथा में भी नहीं है। कब, क्यों और कैसे, किसकी कथा प्रारम्भ होगी यह कहा नहीं जा सकता, अतः शीर्षक के अनुसार सारा उपन्यास

प्रतीकात्मक है। भाषा सौष्ठव, प्रतीकों का प्रयोग, नवीन शिल्प का प्रयोग आदि को भी शोधार्थी ने इस अध्याय में सम्मिलित किया है।

### **षष्ठ अध्याय— अनुभूति और कथ्य सौंदर्य**

इस अध्याय में उपन्यास के कथानक, भाव आदि में आए समकालीन परिवर्तनों को स्पष्ट किया है। किसी भी रचना के औपन्यासिक शिल्प से तात्पर्य उसकी रचना प्रक्रिया से है अर्थात् वह सभी तत्व शिल्प के अन्तर्गत आते हैं जो उपन्यास को कथानक, पात्र, चरित्र चित्रण, देशकाल, शैली, उद्देश्य आदि प्रदान करते हैं। समकालीन उपन्यासों में बदलती परिस्थितियों के अनुसार कथ्य तथा भावों में परिवर्तन आए हैं क्योंकि उपन्यासकार का उद्देश्य समकालीन जीवन की परत-दर-परत व्याख्या करना और समाज के सच को सामने लाना है। प्रस्तुत शोध में इन औपन्यासिक आयामों को चार बिन्दुओं के माध्यम से स्पष्ट किया गया है—

**कथ्य की नवीनता** — समकालीन उपन्यासों में सामाजिकता की अपेक्षा वैयक्तिकता का चित्रण अधिक देखने को मिलता है। इसमें व्यक्ति की विभिन्न परिस्थितियों का चित्रण होता है। अज्ञेय, जैनेन्द्र, निर्मल वर्मा, इलाचन्द जोशी आदि ऐसे उपन्यासकार हुए हैं जो मूलतः मानव मन आभ्यान्तर कथा शिल्पी हैं।

**रूढ़ि विद्रोह** — स्वाधीनता के बाद हिन्दी साहित्य में परिवर्तन हुए कुछ प्रतिभासम्पन्न विद्रोही रचनाकारों ने हिन्दी साहित्य को नए आयाम दिए। इन रचनाकारों ने नियमों में बंधकर साहित्य रचना को नहीं स्वीकारा क्योंकि नियम प्रतिभा के उन्मुक्त विकास के लिए अनुकूल तत्व नहीं होते हैं। इन रचनाकारों ने प्रतिकूलता से संघर्ष करते हुए अपने अस्तित्व की घोषणा की। इस रूढ़ि विद्रोह ने हिन्दी साहित्य को युग सापेक्ष बनाया अतः स्वाधीनता के बाद के साहित्य को विद्रोही साहित्य कहा गया। पुराने रचनाकारों ने मानव जीवन की जिन जटिलताओं और ज्वलंत समस्याओं को अपनाने में रूढ़िवादी सोच अपनाई थी। नवीन रचनाकारों द्वारा उसे उजागर करना आरंभ कर दिया गया। नए रचनाकार साहित्य के सृजन के पक्षधर बने अनुकरण के नहीं। उन्होंने वर्तमान व्यवस्था को नकारा और अनुकरण के स्थान पर नवीन साहित्य सृजन आरंभ किया। अज्ञेय, मोहन राकेश, निर्मल वर्मा, रेणु और कमलेश्वर जैसे साहित्यकारों ने इस दिशा में प्रयास आरंभ किए। इन्होंने मानव जीवन के यथार्थ का विश्लेषण कर उसे विभिन्न कोणों से नए आयाम दिए। इन उपन्यासकारों का लक्ष्य मानवीय समस्याओं को प्रस्तुत करना रहा। नए साहित्य का मूल संघर्षशील व्यक्ति और रचनाकार का एक होना माना गया। नवीन धारा नई संवेदना की सशक्त संवाहक और अभिव्यक्ति बन गई।

**भाव और विचार** — उपन्यासकार समाज की पीड़ा को पात्रों के माध्यम से व्यक्त करता है इसीलिए उपन्यास में भावों और विचारों का स्थान महत्वपूर्ण माना जाता है। उपन्यासकार के मन में जो विचार जन्म लेता है वह पात्रों के माध्यम से अभिव्यक्त होता है। उदाहरणार्थ —

निर्मल वर्मा के 'वे दिन' उपन्यास में युद्धोत्तर परिस्थितियां झेलते पात्रों के मन की व्यथा को बहुत भावपूर्ण तरीके से व्यक्त किया गया है। यही भाव और विचार उपन्यास को समाज की संवेदना से जोड़ने का कार्य करते हैं।

**मार्क्सवादी चेतना** — सर्वप्रथम कार्लमार्क्स द्वारा साहित्यादि कलाओं को युगीन सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्थाओं से जोड़कर देखने का वैज्ञानिक सिद्धान्त दिया गया। उनके अनुसार विभिन्न साहित्य रूपों, उदय एवं विकास पर ही नहीं बल्कि साहित्यस्वादन की प्रक्रिया पर भी सामयिक, सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों का असर होता है। बिना सामाजिक आधार के साहित्य की रचना संभव ही नहीं है। सामाजिक जीवन से ही विचारधारा का विकास होता है। बिना समाज के विचार का अपना कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं होता है। इस दृष्टि से देखा जाए तो कार्लमार्क्स के अनुसार साहित्य सृजन अनेक प्रकार के संघर्षों और अन्तर्विरोधों से भरपूर है। यह विशुद्ध मानवीय उपलब्धियां हैं जिन्हें सामाजिक जीवन के साथ दीर्घकालीन साहचर्य और विकास के क्रम में मनुष्य ने अर्जित और विकसित किया है। कार्ल मार्क्स ने साहित्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन आर्थिक दृष्टिकोण को सामने रखकर किया। यूरोप की औद्योगिक क्रान्ति ने समाज के आर्थिक ढांचे को अत्यधिक प्रभावित किया और उसमें विस्तृत परिवर्तन हुए जिससे साहित्य कलाओं में भी परिवर्तन हुए। उन्होंने जनसाधारण के जीवन संघर्ष का चित्रण आरंभ किया। हर रचना रचनाकार के अन्तर्मन से प्रेरित हुई इसलिए हर रचना दूसरे से भिन्न रही।

**अस्तित्ववादी चेतना** — अस्तित्ववाद मानवकेन्द्रित चिंतन है। अस्तित्व यानि की अस्मिता जिसका अर्थ है स्व। आधुनिक यांत्रिक परिवेश में यह 'स्व' कहीं खो गया है। इसी स्व को बनाए रखने के लिए वह संघर्ष कर रहा है। स्वाधीनता के बाद भारतीय जनता के चिंतन के द्वार खुल गए। पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव से अस्तित्व संबंधी चिंतन आरंभ हो गया। अज्ञेय ने अपनी रचनाओं में अस्तित्व संबंधी चिंतन पर बल दिया है। निर्मल वर्मा, मोहन राकेश आदि उपन्यासकारों के अधिकांश पात्र इसी स्व के अन्वेषण में लगे दिखाई देते हैं। जहां व्यक्ति को व्यक्ति के रूप में स्वीकृति नहीं मिल पाती है वहां वह अपने को बेसहारा एवं अस्तित्वहीन सा महसूस करने लगता है। वह अपने अस्तित्व यानि स्व को पाने के लिए सब कुछ करता है। अस्तित्ववादी चिंतन में मनुष्य को पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त होती है। वह स्वतंत्र, उत्तरदायी, चेतनाशील, वेदना, विषाद, निराशा, शून्यता, विसंगति और एकाकीपन आदि द्वारा सीमित प्राणी है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद उपन्यास के क्षेत्र में बदलाव आया। हिन्दी उपन्यासों की नवीनतम धारा को प्रयोगवादी उपन्यास या आधुनिकता बोध के उपन्यास कहा जा सकता है। औद्योगिकीकरण, भ्रष्ट व्यवस्था, बदलते परिवेश, यांत्रिक सभ्यता के दुष्परिणाम, महानगरीय जीवन, अकेलापन, निराशा, घोर अवसाद, तनाव आदि विषयो एवं भावों से जुड़कर हिन्दी उपन्यास की वस्तु और प्रक्रिया नवीन होती गई।

## सप्तम अध्याय— समकालीन हिन्दी उपन्यासों में आत्मनिर्वासन की प्रवृत्ति : एक मूल्यांकन

इस अध्याय में समकालीन उपन्यासों में वर्णित आत्मनिर्वासन की परिस्थितियां, कारणों और प्रभावों में अन्तर्संबंध स्थापित करके मूल्यांकन किया गया है। स्वातन्त्रयोत्तर मानस के खण्डित स्वप्नों और एक-एक कर टूटते भ्रमों के बीच रह-रहकर एक ऐसा रेगिस्तान पनप रहा है जिसमें संवेदनाओं की मार्मिकता और भावबोध की भिन्नता दोनों ही आत्मनिर्वासन का बोध देने लगते हैं। गत बीस वर्षों में यह रेगिस्तान, यह अजनबीपन, यह काठ के चेहरों से घिरे होने की विवशता और आत्म साक्षात्कार की पाषाणी अवरूद्धता बढ़ी है। हमारा समाज संस्कारों और नैतिक गुणों से विहीन होता जा रहा है। नैतिक पतन समाज को मानवीय मूल्यों से खोखला कर देता है। बदलते परिवेश में आवश्यकता है एक ऐसी मानवीय और नैतिक शिक्षा की जो पूर्णतया शोषण मुक्त, वर्ग और जातिगत समन्वय, न्यायसंगत समाज और संस्कारयुक्त हो। नैतिक गुण और संस्कार ही सभ्य व्यक्ति और सभ्य समाज का निर्माण कर सकते हैं।

### अष्टम अध्याय – उपसंहार

इस अध्याय में सभी अध्यायों का संक्षिप्त वर्णन किया गया है, जिसमें मौलिक तथ्यों को दर्शाते हुए नवीन शोध कार्यों का संक्षिप्त में उल्लेख किया गया है। वर्तमान मानव आधुनिक वातावरण की विसंगतियों के कारण रूग्ण हो गया है। ये रूग्णता शारीरिक नहीं, मानसिक है, जिसने आधुनिक मानव को अन्दर से खोखला कर दिया है। प्रत्यक्षतः वह सबके साथ है, खुशहाल दिखाई देता है। किन्तु वास्तव में वह दोहरा जीवन जी रहा है और इस दोहरापन के कारण एक दिन वह सबसे विमुख हो जाता है, समाज से, स्वयं से। यह विमुखता जितनी उसके लिये घातक है, समाज के लिये उससे कहीं अधिक है।

प्रस्तुत शोध के माध्यम से एक नवीन रुचिपूर्ण एवं शोधपरक, जानकारी देने का प्रयास किया गया है। जिसका उद्देश्य समाज में व्याप्त आत्मनिर्वासन, कुण्ठा, अकेलेपन और अजनबीपन, की अनकही पीड़ा को अभिव्यक्त कर स्वस्थ समाज के निर्माण में महत्वपूर्ण व अतुलनीय योगदान देना है। जिससे समकालीन समाज में स्वस्थ वैयक्तिक सम्बन्धों का विकास हो सके तथा व्यक्ति वर्तमान परिस्थितियों से पूर्णरूपेण सामंजस्य स्थापित कर सार्थक जीवन जी सकें।

शोध पर्यवेक्षक  
डॉ. हिमानी सिंह  
सह आचार्य  
राजकीय कला कन्या महाविद्यालय  
कोटा (राजस्थान)

शोधार्थी  
वन्दना शर्मा  
कोटा विश्वविद्यालय, कोटा

सन्दर्भ ग्रन्थ



## आधार—ग्रन्थ

---

1. शेखर एक जीवनी – सच्चिदानंद हीरानन्द वात्स्यायन अज्ञेय,  
राजकमल प्रकाशन, 1940 (प्रथम भाग), 1944  
(द्वितीय भाग)
2. अन्धेरे बन्द कमरे – मोहन राकेश,  
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली 1961
3. यह पथ बन्धु था – नरेश मेहता,  
हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकार, बम्बई 1962
4. शहर में घूमता आइना – उपेन्द्र नाथ 'अशक',  
नीलाभ प्रकाशन, 1963
5. वे दिन – निर्मल वर्मा,  
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली 1964
6. न आने वाला कल – मोहन राकेश,  
राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली 1970
7. चलता हुआ लावा – रमेश बक्षी,  
किताबघर प्रकाशन, 1971
8. अपने—अपने अजनबी – सच्चिदानंद हीरानन्द वात्स्यायन अज्ञेय,  
भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली 1973
9. लालटीन की छत – निर्मल वर्मा,  
वाणी प्रकाशन, 1974
10. उखड़े हुए लोग – राजेन्द्र यादव,  
अक्षर प्रकाशन, दिल्ली – 1975
11. पाँच आँगनों वाला घर – गोविन्द मिश्र,  
राधाकृष्णा प्रकाशन, 1998
12. पचपन खम्भें लाल दीवारें – उषा प्रियम्बदा,  
राजकमल प्रकाशन, 2009

## सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

---

### सहायक ग्रन्थ –

1. राय डॉ. विवेकी- आधुनिक उपन्यास : विविध आयाम,  
अनिल प्रकाशन, प्र.सं. 1990
2. मोहन डॉ. नरेन्द्र – आधुनिकता और समकालीन रचना संदर्भ,  
आदर्श साहित्य प्रकाशन, प्र.सं. 1973
3. डॉ. रघुवंश – आधुनिकता और सृजनशीलता,  
मैकमिलन इंडिया लिमिटेड, प्र. सं. 1980
4. मदान डॉ. इन्द्रनाथ- आधुनिकता और हिन्दी उपन्यास,  
राजकमल प्रकाशन, प्र. सं. 1981
5. वर्मा डॉ. धनन्जय- आधुनिकता के बारे में तीन अध्याय,  
विद्या प्रकाशन मंदिर, प्र. सं. 1984
6. वर्मा डॉ. भगवानदास- आधुनिकता के रचना संदर्भ  
ग्रन्थम प्रकाशन, प्र. सं. 1975
7. मेघ डॉ. रमेश कुंतल- आधुनिकता बोध और आधुनिकीकरण,  
अक्षर प्रकाशन, प्र.सं. 1969
8. मिश्र ब्रह्मदेव- अज्ञेय और उनका उपन्यास संसार,  
लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र. सं. 1992
9. सिंह डॉ. प्रेम- अज्ञेय चिंतन और साहित्य,  
फिफ्त डायमेशन पब्लिकेशन्स, प्र. सं. 1987
10. मौर्य कृष्णदेव- अज्ञेय का कथा साहित्य,  
अतुल प्रकाशन, ब्रह्मनगर, कानपुर प्र.सं. 1994
11. चुघ सत्यपाल- अज्ञेय के उपन्यासों की शिल्पविधि,  
दिल्ली पुस्तक सदन, दिल्ली प्र.सं. 1965
12. तिवारी पूनमचंद- अज्ञेय और उनका साहित्य,  
राष्ट्रवाणी प्रकाशन, मथुरा, प्र.सं. 1987

13. चतुर्वेदी रामस्वरूप – अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या,  
भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, द्वि.सं. 1972
14. झाल्टे डॉ. दंगल– उपन्यास समीक्षा के नए प्रतिमान,  
वाणी प्रकाशन, प्रं.सं. 1987
15. वार्ष्णेय सागर लक्ष्मी– द्वितीय महायुद्धोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास,  
राजगोपाल एण्ड सन्स, दिल्ली 1973
16. भारती धर्मवीर– मानव मूल्य और साहित्य,  
भारतीय ज्ञानपीठ, 1960
17. सिन्हा डॉ. सुरेश– हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास,  
अशोक प्रकाशन, दिल्ली 1965
18. मिश्र रामदरश– हिन्दी उपन्यास एक अन्तर्यात्रा,  
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1968
19. भारद्वाज शान्ति– हिन्दी उपन्यास प्रेम और जीवन,  
सुशील प्रकाशन, पुरानी मण्डी, अजमेर, 1969
20. सिन्हा सुरेश– हिन्दी उपन्यास,  
लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद 1972
21. सिंहल शशिभूषण– हिन्दी उपन्यास की प्रवृत्तियां,  
विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, 1988
22. वार्ष्णेय लक्ष्मीसागर– हिन्दी उपन्यास उपलब्धियां,  
राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, दिल्ली 1970
23. कौशिक डॉ. राधेश्याम –स्वातंत्रयोत्तर हिन्दी उपन्यास का शिल्प विकास,  
मंगल प्रकाशन, प्र. सं. 1976
24. मदान इन्द्रनाथ– आधुनिकता और सृजनात्मक साहित्य,  
राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली 1978
25. अग्रवाल कुमार विपिन– आधुनिकता के पहलू,  
लोकभारती प्रकाशन 1972
26. सिंह डॉ. महीप –हिन्दी उपन्यास: समकालीन परिदृश्य,  
लिपि प्रकाशन, प्र. सं. 1980

27. सिन्हा डॉ. सुरेश— हिन्दी उपन्यास : उद्भव और विकास,  
अशोक प्रकाशन, प्र. सं. 1965
28. डॉ मोहनन — अधूरेपन का एहसास,  
केरल हिन्दी साहित्यमंडल, पहला सं. 1984
29. राय विवेकी — स्वातन्त्रयोत्तर हिन्दी उपन्यास और ग्राम्य जीवन,  
लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1974
30. मिश्र डॉ. श्यामसुन्दर — अस्तित्ववाद और द्वितीय समरोत्तर हिन्दी साहित्य,  
विद्या प्रकाशन मंदिर, पहला सं. 1976
31. गुप्त डॉ. लालचन्द्र "मंगल" — अस्तित्ववाद और नयी कहानी,  
शोध प्रबन्ध प्रकाशन, पहला सं. 1975
32. गुप्त डॉ. लालचन्द्र "मंगल"— अस्तित्ववाद: दार्शनिक तथा साहित्यिक भूमिका,  
अनुपम प्रकाशन, पहला सं. 1977
33. मदान डॉ. इन्द्रनाथ — आज का हिन्दी उपन्यास,  
राजकमल प्रकाशन, पहला सं. 1966
34. मदान इन्द्रनाथ—आज का हिन्दी उपन्यास,  
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली 1966
35. बदिवड़ेकर चन्द्रकांत— उपन्यास स्थिति और गति,  
पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली 1977
36. कौशिक डॉ. हेमाज — आज का हिन्दी उपन्यास,  
ललित प्रकाशन, पहला सं. 1988
37. सिंह डॉ. रामविनोद — आठवें दशक के हिन्दी उपन्यास,  
अनुपम प्रकाशन पहला सं. 1980
38. रोडरमल चार्ल्स गॉर्डन— हिन्दी कहानी अलगाव का दर्शन,  
अक्षर प्रकाशन दिल्ली 1982
39. पानेरी हेमेन्द्र—हिन्दी उपन्यास मूल्य संक्रमण,  
संघी प्रकाशन जयपुर 1974
40. राय डॉ. विवेकी — आधुनिक उपन्यास : विविध आयाम,  
अनिल प्रकाशन, पहला सं. 1990

41. मिश्र डॉ. ऊर्मिला – आधुनिकता और मोहन राकेश,  
विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी
42. मोहन डॉ. नरेन्द्र – आधुनिकता और समकालीन रचना संदर्भ,  
आदर्श साहित्य प्रकाशन, पहला सं. 1973
43. डॉ. रघुवंश – आधुनिकता और सृजनशीलता,  
मैकमिलन इण्डिया लिमिटेड, पहला सं. 1980
44. गुप्ता सीमा– समकालीन हिन्दी उपन्यास : महानगरीय बोध,  
राज पब्लिशिंग हाउस, जयपुर 2006
45. मदान डॉ. इन्द्रनाथ – आधुनिकता और हिन्दी उपन्यास,  
राजकमल प्रकाशन, पहला सं. 1981
46. शर्मा, डॉ. मखनलाल, शर्मा प्रवीण – आधुनिकता और हिन्दी एकांकी,  
शब्द और शब्द दिल्ली।
47. वर्मा डॉ. धनंजय – आधुनिकता के बारे में तीन अध्याय,  
विद्या प्रकाशन मंदिर, पहला सं. 1984
48. वर्मा डॉ. भगवानदास – आधुनिकता के रचना संदर्भ,  
ग्रन्थम प्रकाशन, पहला सं. 1975
49. मेघ डॉ. रमेश कुंतल, आधुनिकता बोध और आधुनिकीकरण,  
अक्षर प्रकाशन, पहला सं. 1969
50. विमल डॉ. गंगा प्रसाद – आधुनिकता : साहित्य के संदर्भ में,  
पुष्पा प्रिंटिंग प्रेस, पहला सं. 1978
51. सिंह डॉ. शिवप्रसाद – आधुनिक परिवेश और नवलेखन,  
लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
52. तिवारी नित्यानन्द – आधुनिक साहित्य और इतिहास बोध,  
वाणी प्रकाशन, पहला सं. 1982
53. राय डॉ. विद्याशंकर – आधुनिक हिन्दी उपन्यास और अजनबीपन,  
सरस्वती प्रकाशन मंदिर, पहला सं. 1985
54. पंडिता विमला कुमार – उपन्यासकार मोहन राकेश,  
पंचशील प्रकाशन, पहला सं. 1978

55. झांटे डॉ. दंगल – उपन्यास समीक्षा के नये प्रतिमान,  
वाणी प्रकाशन, पहला सं. 1987
56. राकेश अनीता – चन्द सतरें और,  
राधाकृष्ण प्रकाशन, पहला सं. 1975
57. डॉ. शर्मा मोहिनी– हिन्दी उपन्यास और जीवन मूल्य,  
साहित्यागार, जयपुर, 1986
58. मिश्र रामदरश– हिन्दी उपन्यास एक अन्तर्यात्रा,  
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली 1968
59. वार्ष्णेय डॉ. लक्ष्मी सागर – द्वितीय महायुद्धोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास,  
राजपाल एण्ड सन्स, पहला सं. 1973
60. कथुरिया डॉ. सुन्दरलाल – नाटककार मोहन राकेश,  
कुमार प्रकाशन, पहला सं. 1974
61. व्होरा आशारणी – नारी शोषण : आइने और आयाम,  
नेशनल पब्लिशिंग हाउस, पहला सं. 1982
62. वार्ष्णेय डॉ. लक्ष्मी सागर – परिप्रेक्ष्य और प्रतिक्रियाएँ,  
नेशनल पब्लिशिंग हाउस, पहला सं. 1972
63. जैन नेमिचन्द – बदलते परिप्रेक्ष्य,  
राजकमल प्रकाशन, पहला सं. 1968
64. गोपाल राम – भारतीय स्वतन्त्रता – संग्राम का इतिहास,  
सुलभ प्रकाशन, दूसरा सं. 1986
65. शास्त्री हरगोविन्द – मनुस्मृति टीकाकार,  
चौखम्बा संस्कृत सीटीज ऑफिस, पहला सं. 1965
66. शर्मा डॉ. रामविलास – मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य,  
वाणी प्रकाशन, पहला सं. 1984
67. भारती डॉ. धर्मवीर – मानव मूल्य और साहित्य,  
भारतीय ज्ञानपीठ, पहला सं. 1960
68. बंसल डॉ. पुष्प – मोहन राकेश का नाट्य साहित्य,  
सूर्य प्रकाशन, पाँचवाँ सं. 1976

69. शर्मा डॉ. धनानन्द एम. – मोहन राकेश का उपन्यास—साहित्य,  
शान्ति प्रकाशन, पहला सं. 1990
70. सिंह रामधारी दिनकर – संस्कृति के चार अध्याय,  
उदयाचन प्रकाशन, पहला सं. 1956
71. अरोड़ा अतुलवीर –आधुनिकता के संदर्भ में आज का हिन्दी उपन्यास,  
पब्लिकेशन ब्यूरो पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़ 1974
72. राय अमृत– आधुनिक भावबोध की संज्ञा,  
हंस प्रकाशन, इलाहाबाद 1972
73. डॉ. विनय – समकालीन कहानी समांतर कहानी,  
भारत सरकार द्वारा प्रकाशित, पहला सं. 1977
74. कुमार डॉ. प्रेम – समकालीन हिन्दी उपन्यास : कथ्य विश्लेषण,  
इन्दु प्रकाशन, पहला सं. 1983
75. कुमार डॉ. प्रेम – समकालीन हिन्दी कथा—साहित्य,  
राजश्री बुक सैप्टर, पहला सं. 1984
76. अरोड़ा डॉ. ज्ञानवती—समसामयिक हिन्दी कहानी में बदलते पारिवारिक संबंध  
सूर्य प्रकाशन, पहला सं. 1989
77. अरोड़ा डॉ. किरण बाला – साठोत्तर हिन्दी उपन्यासों में नारी,  
अन्नपूर्णा प्रकाशन, पहला सं. 1990
78. रॉग्रा डॉ. रणवीर – साहित्यिक साक्षात्कार,  
पूर्वोदय प्रकाशन, पहला सं. 1978
79. कौशिक डॉ. राधेश्याम – स्वातंत्रयोत्तर हिन्दी उपन्यास का शिल्प विकास,  
मंगल प्रकाशन, पहला सं. 1976
80. वर्मा धनन्जय – आधुनिकता के बारे में तीन अध्याय,  
विद्या प्रकाशन, दिल्ली 1984
81. गंगा विमल प्रसाद – आधुनिकता के संदर्भ में,  
मेकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया, नई दिल्ली, 1978
82. पानेरी डॉ. हेमेन्द्र कुमार – स्वतंत्रयोत्तर हिन्दी उपन्यास : मूल्य संक्रमण,  
संघी प्रकाशन, पहला सं. 1974

83. दूबे डॉ. तहसीलदार – स्वातंत्रयोत्तर हिन्दी उपन्यास-साहित्य में शिल्प-विधि का विकास, नटराज पब्लिशिंग हाउस, पहला सं. 1983
84. चुघ सत्यपाल- प्रेमचंदोत्तर हिन्दी उपन्यासों की शिल्पावधि, इकाई प्रकाशन, सब्जीमंडी, दिल्ली 1968
85. बगड़ी डॉ. आशा- प्रेमचंदोत्तर उपन्यासों में पारिवारिक जीवन, सूर्य प्रकाशन नई सड़क, दिल्ली 1974
86. शर्मा ओम प्रकाश – प्रेमचंदोत्तर उपन्यासों में नाटकीय तत्व, विक्रम प्रकाशन, कृष्णनगर, दिल्ली 1990
87. जैन नेमीचंद – बदलते परिप्रेक्ष्य, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली 1968
88. गुप्त डॉ. रामकुमार – स्वातंत्रयोत्तर हिन्दी कहानी, चिन्ता प्रकाशन, पहला सं. 1989
89. सिंह त्रिभुवन- हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, 1965
90. सिंह कुंवर पाल- हिन्दी उपन्यास सामाजिक चेतना, पाण्डुलिपि प्रकाशन, कृष्णनगर, दिल्ली, 1976
91. मानधाने डॉ. धनराज –हिन्दी के मनोवैज्ञानिक उपन्यास, ग्रन्थम रामबाग कानपुर, 1971
92. गोस्वामी क्षमा- नगरीकरण और हिन्दी उपन्यास, जयश्री प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं. 1981
93. सिन्हा डॉ. सुरेश – हिन्दी उपन्यास : उद्भव और विकास, अशोक प्रकाशन, पहला सं. 1965
94. मदान डॉ. इन्द्रनाथ – हिन्दी उपन्यास : एक नयी दृष्टि, राजकमल प्रकाशन, पहला सं. 1966
95. मदान डॉ. इन्द्रनाथ – हिन्दी उपन्यास : पहचान और परख, लिपि प्रकाशन पहला सं. 1975
96. सिंह डॉ. महीप – हिन्दी उपन्यास : समकालीन परिदृश्य लिपि प्रकाशन, पहला सं. 1980



97. बरहाटे डॉ. जयश्री – हिन्दी उपन्यास : सातवाँ दशक,  
संचयन प्रकाशन, पहला सं. 1988
98. कोहली नरेन्द्र – हिन्दी उपन्यास : सृजन और सिद्धान्त,  
सौरभ प्रकाशन, पहला सं. 1977
99. तिवारी डॉ. डी.डी. – हिन्दी उपन्यास स्वातंत्र्य संघर्ष के विविध आयाम,  
तक्षशिला प्रकाशन, पहला सं. 1985
100. अस्थाना डॉ. ज्ञान – हिन्दी कथा-साहित्य समकालीन संदर्भ,  
जवाहर पुस्तकालय, पहला सं. 1981
101. डॉ. नगेन्द्र – हिन्दी साहित्य का इतिहास,  
नेशनल पब्लिशिंग हाउस, पहला सं. 1973

## अंग्रेजी पुस्तकें –

1. गॉउल्ड हैराल्ड – कास्ट अडॉप्टेशन इन मोडर्नाइजिंग इण्डियन सोसायटी, चाणक्य पब्लिकेशन नई दिल्ली 1988
2. गुये डी मौपासां – ली रोमन इन्ट्रोडक्शन टू पियरे एट जीन, नोवलिस्ट ऑन दि नोवल (मिरियन एलाट)
3. धूरिए जी.एस. – कॉस्ट, क्लास एण्ड ऑक्यूपेशन, पापुलर बुक डिपो, बम्बई 1961
4. बर्गल ई.ई. – अरबन सोशिलोलोजी मेग्राहिल बुक कम्पनी न्यूयार्क 1955
5. मर्टन राबर्ट के – सोशल थ्योरी एण्ड स्ट्रक्चर, द फ्री प्रेस ऑफ ग्लेनको, न्यूयार्क 1962
6. मम्फोर्ड ल्यूइस– द कल्चर ऑफ सिटीज, सेंकर एण्ड बारवर्ग लंदन 1946
7. मम्फोर्ड ल्यूइस– द सिटी इन द हिस्ट्री, सेंकर एण्ड बारवर्ग, लंदन 1963
8. मार्क्स कॉल– कॅम्युनिस्ट मेनीफेस्टो प्रोग्रेस पब्लिकेशन मास्को 1967
9. मुकर्जी आर. के.– द डायनामिक्स ऑफ ए रुरल सोसायटी, ए स्टडी ऑफ दी इकानामिक स्ट्रक्चर इन बंगाल विपेज, ऐकेडमिक बरलाक, बर्लिन 1957
10. रॉश एलियन डी–हिन्दू फौमिली इन इट्स अरबन सेटिंग
11. वील्स रात्फ– अरबेनिज्म, अरबेनाइजेशन एण्ड ए कल्चुरेशन, अमेरिकन एथोपोलिजिस्ट न 55 वाल्यूम I 1951
12. शॉ सी. आर. एण्ड मैके एच.डी. –जुवीनाइल डैलिनक्वैन्सी, अरबन एरिआज 1942
13. सोरोफिन एण्ड जिमरमैन– प्रिंसिपल ऑफ रुरल एण्ड अरबन सोशियोलोजी, हैनरी हॉल्ट एण्ड कम्पनी, न्यूयार्क 1956
14. हाट, पाल के एण्ड एलबर्ट जे. रीस– सिटीज एण्ड सोसायटी 1959
15. हूंमायू कबीर– इण्डियन हेरिटेज

## शब्दकोषः–

1. हिन्दी शब्द सागर
2. नालन्दा विशाल शब्द सागर
3. कोन्टिनेन्टल इंग्लिश डिक्शनरी
4. वेबस्टर थर्ड न्यू इन्टरनेशनल डिक्शनरी
5. ज्ञान शब्दकोश
6. The Oxford English Dictionary eds. J.A.H. Murry et.al.

## पत्र-पत्रिकाएं:-

1. सिंह डॉ. बच्चन- आलोचना पत्रिका (उपन्यास विशेषांक) अक्टूबर 1984
2. अदिति-विशेषांक 15 अगस्त, 1951 भारतीय संस्कृति के आधार, नवम्बर 1955
3. आलोचना -जनवरी 1956, अक्टूबर, दिसम्बर 1967
4. बिन्दु मूल्य विश्लेषण अंक अक्टूबर 1967
5. समालोचक -फरवरी 1959
6. साप्ताहिक हिन्दुस्तान 24 जून,1973
7. साहित्य संदेश-आधुनिक उपन्यास अंक 1956, प्रगति विशेषांक 1958 मई 1960
8. हरिजन 31 अगस्त 1937
9. हिन्दुस्तान 10 जुलाई 1995
10. पहल :सितम्बर-नवम्बर 1992
11. मधुमती : जनवरी 1979, अक्टूबर 1979 नवम्बर1980 अगस्त 1990
12. राष्ट्रीय सहारा 20 मार्च 1995
13. धर्मयुग : फरवरी 1975
14. चौथी दुनिया : दिसम्बर 1987
15. गंगा जून 1988
16. इन्द्रप्रस्थ भारती 1989
17. इण्डिया टुडे : 16 फरवरी 2000, 29 मार्च 2000, 22 दिसम्बर 2000
18. ज्ञानोदय : नवम्बर 1966 (महानगर विशेषांक)
19. दैनिक भास्कर : 20 सितम्बर 1999
20. वर्तमान साहित्य : फरवरी 1988  
हंस :जून 1989 अप्रैल 1997 जनवरी 1999

प्रकाशित  
शोध पत्र

आंतरराष्ट्रीय बहुभाषिक शोध पत्रिका

# प्रिंटिंग एरिया

Printing Area International Interdisciplinary Research  
Journal in Marathi, Hindi & English Languages

April 2018, Issue-43, Vol-01

**Date of Publication**  
**21 April 2018****Editor****Dr. Bapu g. Gholap**

(M.A.Mar.&amp; Pol.Sci.,B.Ed.Ph.D.NET.)

**Co-Editor****Dr. Ravindranath Kewat**

(M.A. Ph.D.)

“Printed by: Harshwardhan Publication Pvt.Ltd. Published by Ghodke Archana Rajendra & Printed & published at Harshwardhan Publication Pvt.Ltd.,At.Post. Limbaganesh Dist,Beed -431122 (Maharashtra) and Editor Dr. Gholap Bapu Ganpat.”

**Harshwardhan Publication Pvt.Ltd.**

Reg.No.U74120 MH2013 PTC 251205

At.Post.Limbaganesh,Tq.Dist.Beed  
Pin-431126 (Maharashtra) Cell:07588057695,09850203295  
harshwardhanpubli@gmail.com, vidyawarta@gmail.comAll Types Educational & Reference Book Publisher & Distributors / [www.vidyawarta.com](http://www.vidyawarta.com)

# Printing Area

Date of Publication  
21 April 2018

## Editorial Board & Advisory Committee

- 1) Dr. Vikas Sudam Padalkar (Japan)
- 2) M.Saleem, Sialkot (Pakistan)
- 3) Dr. Momin Mujtaba (Saudi Arabia)
- 4) N.Nagendrakumar (Sri Lanka)
- 5) Dr. Wankhede Umakant (Maharashtra)
- 6) Dr. Basantani Vinita (Pune)
- 7) Dr. Upadhya Bharat (Sangali)
- 8) Jubraj Khamari (Orissa)
- 9) Krupa Sophia Livingston (Tamilnadu)
- 10) Dr. Wagh Anand (Aurangabad)
- 11) Dr. Ambhore Shankar (Jalna)
- 12) Dr. Ashish Kumar (Delhi)
- 13) Prof.Surwade Yogesh (Satara)
- 14) Dr. Patil Deepak (Dhule)
- 15) Dr. Singh Rajeshkumar (Lucknow)
- 16) Tadvi Ajij (Jalgaon)
- 17) Dr.Patwari Vidya (Jalna)
- 18) Dr.Varma Anju (Gangatok)
- 19) Dr.Padwal Promod (Waranasi)
- 20) Dr.Lokhande Nilendra (Mumbai)
- 21) Dr.Narendra Pathak (Lucknow)
- 22) Dr.Bhairulal Yadav (West Bengal)
- 23) Dr.M.M.Joshi, (Nainital)
- 24) Dr.Sushma Yadav (Delhi)
- 25) Dr.Seema Sharma (Indor)
- 26) Dr. Choudhari N.D. (Kada)
- 27) Dr. Yallawad Rajkumar (Parli v.)
- 28) Dr. Yerande V. L.(Nilanga)
- 29) Dr. Awasthi Sudarshan (Parli v.)
- 30) Dr Watankar Jayshree
- 31) Dr. Saini Abhilasha
- 32) Dr. Prema Chopde (Nagpur)
- 33) Dr. Vidya Gulbhile (M.S.)
- 34) Dr. Kewat Ravindra (Chandrapur)
- 35) Dr. Pandey Piyush (Delhi)
- 36) Dr. Suresh Babu (Hyderabad)
- 37) Dr. Patel Brijesh (Gujrat)
- 38) Dr. Trivedi Sunil (Gujrat)
- 39) Dr. Sarda Priti (Hyderabad)
- 40) Dr. Nema Deepak (M.P.)
- 41) Dr. Shukla Neeraj (U.P.)
- 42) Dr. Namdev Madumati (M.P.)
- 43) Dr. Kachare S.V. (Parli-v)
- 44) Dr. Singh Komal (Lucknow)
- 45) Dr. Pawar Vijay (Mumbai)
- 46) Dr. Chaudhari Ramakant (Ja)



Govt. of India,  
Trade Marks Registry  
Regd. No. 3418002

**Note :** The Views expressed in the published articles, Research Papers etc. are their writers own. 'Printing Area' does not take any liability regarding approval/disapproval by any university, institute, academic body and others. The agreement of the Editor, Editorial Board or Publication is not necessary. Disputes, if any shall be decided by the court at Beed (Maharashtra, India)

<http://www.printingarea.blogspot.com>

☞ **Printing Area : Interdisciplinary Multilingual Refereed Journal** ☜

UGC Approved  
Sr.No.43053

37) प्रवासी देशों का सांस्कृतिक व धार्मिक अध्ययन Pranu Shukla	160
38) आर्थिक कारकों का कालीन उद्योग पर प्रभाव (उत्तर प्रदेश के कालीन उद्योग के... डॉ० विजेन्द्र कुमार बाथम — डॉ० एस० के० जैन (से०नि०), भोगाँव	166
39) 'मुझे चाँद चाहिए' नाटक की दुनिया का उपन्यास : एक अनुशीलन डॉ. जिजाबराव विश्वासराव पाटील, जि. जलगाँव	173
40) मुरिया जनजाति के वैवाहिक प्रतिमानों में परिवर्तन (दन्तेवाडा जिले के विशेष... श्रीमती ममता रात्रे, डॉ. (श्रीमती) प्रीति मिश्रा & डॉ एन. कुजुर, रायपुर	175
41) "माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों की अर्थशास्त्र विषय में सम्प्रत्ययात्मक बोध में... डॉ. प्रतिष्ठा शर्मा & राजू शर्मा, जयपुर	178
42) हिन्दी सिनेमा और स्त्री की बदलती भूमिका प्रणु शुक्ला, टोंक	182
43) दस्तावेज पत्रिका के तुलसीदास विशेषांक (अंक-८०) का आलोचनात्मक अध्ययन गुलाब सिंह, जयपुर	185
44) व्यक्ति आधारित ग्रामीण विकास परियोजनाओं की अवधारणा, इन परियोजनाओं की... डॉ. अनुपमा शर्मा	192
45) आत्म-निर्वासन और मध्यम वर्ग के आन्तरिक अन्तर्विरोध डॉ. हिमानी सिंह & वन्दना शर्मा, कोटा	197
46) डॉ. बाबासाहेब आंबेडकरांच्या वृत्तपत्रातील विकास संवाद मिलिंद शहादेव आठवले, प्रा.डॉ.दिनकर माने, औरंगाबाद	201
47) अध्यापक महाविद्यालयों प्रशिक्षणार्थियों की बहिर्मुखीता विकास का आलोचनात्मक अध्ययन श्री.गांगुर्डे रविंद्र गोविंदराव	204
48) हिंदी के आंचलिक उपन्यासों में ग्रामीण जाति-व्यवस्था (संजीव के विशेष सन्दर्भ में) वर्षा राय, कलकत्ता	209
49) अध्यात्म और संगीत डॉ. अश्विनीकुमार सिंह, बड़ौदा	216

## आत्म—निर्वासन और मध्यम वर्ग के आन्तरिक अन्तर्विरोध

यूरोप के मध्ययुगीन आखिरी चरण में नवजागरण के फलस्वरूप उदय हुआ एक नवीन वर्ग का जो कि दो विशाल वर्गों उच्च एवं निम्न वर्ग के मध्य था। इस मध्यवर्ग के उदय ने एक नए सामाजिक परिवर्तन की कड़ी आरम्भ की। नवजागरण के कारण यंत्रीकरण का आरंभ हुआ। यंत्रीकरण ने सामाजिक संस्कृति को बहुत प्रभावित किया है। यंत्रीकरण के कारण समाज में जातिगत बंधन लचीले हो गए हैं। जातिगत ढाँचे के स्थान पर नगरों में एक नवीन वर्ग का उदय हुआ है जिसमें विश्वास, मूल्य सिद्धान्त से रहित, आडम्बरपूर्ण जीवन है, समकालीन उपन्यासों में इसी महानगरीय समाज का प्रतिबिम्ब दिखलाई देता है। अशक जी के उपन्यास “शहर में धूमता आईना” में निम्न मध्यमवर्गीय परिवार के जीवन का चित्रण किया गया है। आलोच्य उपन्यासों में मध्यमवर्गीय समाज के शिक्षित लोगों को चुना गया है जो कि विचार से आचार तक आधुनिक हैं लेकिन अपने अकेलेपन से मुक्ति पाने के लिए कॉफी हाउस, रेस्तरां आदि की भीड़ में जाते हैं। मोहन गकेश, निर्मल वर्मा आदि सभी उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों में मध्यमवर्गीय समाज से जुड़ी समस्याओं की ओर ध्यान आकृष्ट किया है। गरीबी और अभाव की परिस्थितियों में इन पात्रों को मनोवैज्ञानिक स्तर पर टूटते हुए दिखाया गया है।

उच्च और निम्न वर्ग की अपेक्षा मध्य वर्ग ही रूढ़ियों और अंधविश्वासों में जकड़ा हुआ है लेकिन यह वर्ग वैज्ञानिक चेतना का संवर्द्धक भी रहा है। जाति व्यवस्था और सती प्रथा के विरुद्ध आवाज मध्यम वर्ग द्वारा ही उठाई गई थी। मध्य वर्ग की पीढ़ी में परम्परागत मान्यताओं के प्रति विद्रोह उभर कर सामने आया। चेतना सम्पन्न मध्य वर्ग अब पक्षपात के विरुद्ध आवाज उठाने लगा। अर्द्धनारीश्वर के डॉ. असद अंसारी ने धार्मिक सद्भावना का उदाहरण प्रस्तुत किया है। मध्य वर्ग में होने वाले अन्तरजातीय विवाह इसी का परिणाम हैं। महानगरीय मध्यवर्गीय नारी की मानसिकता में भी यह परिवर्तन दृष्टिगत होते हैं। वह समाज द्वारा निर्धारित नियम कायदों का विरोध करती नजर आती है। अर्द्धनारीश्वर की सुष्मिता और विभा स्त्री—पुरुष संबंधों को एक नवीन आयाम देना चाहती हैं। यह कहा जा सकता है कि मध्यम वर्ग रूढ़िवादिता और प्रगतिशीलता के तत्वों को एकसाथ लेकर चल रहा है और फलस्वरूप यही वर्ग सबसे अधिक द्वन्द्व, तनाव और संघर्षमय जीवन जी रहा है। उपन्यास के उद्भव के साथ ही मध्यवर्ग ने उपन्यासों में अपना स्थान बना लिया। आचार्य नंददुलारे वाजपेयी का कथन है “मध्ययुग के सामन्ती समाज का अंत होने पर जब नवीन औद्योगिक सभ्यता का आविर्भाव हो रहा था और



नगरों में नवीन मध्यवर्ग की सत्ता स्थापित हो रही थी उसी समय उपन्यास के साहित्यांग का आविर्भाव हुआ। इस प्रकार उपन्यास एक ओर गद्य साहित्य के निर्माण और विकास का समकालीन है और दूसरी ओर वह मध्यवर्ग के उत्थान का समसामयिक है।”

उपन्यासकारों ने मध्य वर्ग को अपनी सोच में स्थान दिया इसका मुख्य कारण यह रहा कि उच्च वर्ग का व्यक्ति अपनी समर्थ सामाजिक और आर्थिक स्थिति के कारण इतना सुरक्षित है कि उसे संघर्ष की आवश्यकता ही नहीं होती और दूसरी तरफ निम्न वर्ग का व्यक्ति भाग्य के सहारे अपना जीवन गुज़ार देता है। इन दोनों के मध्य में है मध्य वर्ग जो कि असंतुष्ट और संघर्षप्रिय है। इस तरह से उपन्यासों में मध्य वर्ग को आशा—निराशा, सफलता—असफलता, हताशा और कुंठा के साथ कई रूपों में चित्रित किया गया है। मध्यवर्ग की प्रवृत्ति उच्च वर्ग की बराबरी करने की होती है लेकिन अपने सीमित संसाधनों के कारण वह अपने प्रयासों में सफल नहीं हो पाते इसलिए अपनी गृहस्थी को संकट में डाल देते हैं। अंधेरे बंद कमरे में हरबंस और नीलिमा की यही स्थिति दिखलाई देती है। अपनी पत्नी और दोस्तों से कटे हुए हरबंस में अजीब सी बेबसी दिखलाई देती है। इस बेबसी से मुक्त होने के लिए वह विभिन्न वर्दी को स्वीकारने की चेष्टा भी करता है। वह अपने आप को बहुत अकेला महसूस करता है। इसलिए वह नीलिमा को लिखता है “मैं इन थोड़े दिनों में ही अपने अकेलेपन से बुरी तरह ऊब गया हूँ। मुझे लगता है कि मैं दो—चार साल तो क्या इस तरह लंदन में एक महीना भी नहीं काट सकूँगा। इस प्रकार वह जीवन से थक चुका है और निराशा व्यक्ति के रूप में प्रकट होता है।

मनुष्य के स्वार्थ, संकीर्णता एवं एक—दूसरे को न समझने के कारण पारिवारिक विघटन होने लगे। संस्कारशून्यता और विघटन आज के संदर्भ में सबसे बड़ी चुनौती बनी हुई है जिससे साक्षात्कार किए बिना मानवता का विकास संभव नहीं है। यह पथ बंधु था में यही स्वर मुखरित हुआ है। आर्थिक स्थिति, संरचना और संबंधों के बदलने के कारण सम्मिलित कुटुम्ब प्रथा प्रेमचंद के जमाने से ही टूटने लगी थी। प्रस्तुत उपन्यास में ठाकुर परिवार में श्रीमोहन और श्रीवल्लभ के अलगाव द्वारा यह स्पष्ट बता देना चाहता है कि श्रीनाथ ठाकुर और उनकी पत्नी के प्रयत्नों के बाद भी किस प्रकार आर्थिक कारणों से पारिवारिक जीवन टूट रहा था। श्रीनाथ ठाकुर का कहना है “आज जब पट्टी हटाकर देखता हूँ जो तीनों लड़के मेरी आँखों से कहीं दूर चले गए हैं। बड़े ने मेरे जीवन की सारी कमाई प्रतिष्ठा पर पानी फेर दिया क्योंकि उसे अपने लिए प्रतिष्ठा, धन सभी तो अर्जित करना था। अपनी प्रगति में वह परिवार वालों को बाधा पाता है इसलिए वह सबके प्रति निर्मम हो गया है। ..... और वह श्रीवल्लभ, अपनी सास की अंगुलियों पर नाचने

वाला व्यक्ति जहाँ सुख—समृद्धि के साधन दिखे, उसी ओर बहकर चला जाने वाला पानी का रेला।” संबंधों के तनाव के बढ़ने के कारण ही पिताजी के कठोर व्यवहार से श्रीमोहन को लगा “शेष कुटुम्ब ने दीवारहीन एक दीवार ऐसी खींच ली थी, उठा ली थी कि उसकी अपेक्षा और कोई सी भी दीवार अच्छी ही होती। सब होते हैं, सब में दीवार खिंची होती है। दीवार अभेदा तभी होती है जब अंतर में खिंची होती है जिन्हें अब नहीं तोड़ा जा सकता है क्योंकि ये दीवारें संबंध टूटने पर ही उठती हैं। जय सी भी भावना शेष हो तो ये दीवारें नहीं बन पाती हैं। यही भावात्मक संबंध ही परिवार में लोगों को बाँधे रखता है। जब यह अदृश्य हो जाता है तब टूटन आरंभ होता है। इस टूटन को श्रीनाथ ठाकुर समझ गए थे। बड़ा लड़का श्रीमोहन किसी प्रकार अपने परिवार की संकुचित सीमा छोड़, कौटुंबिक दृष्टिकोण से नहीं सोच सकेगा। छोटे लड़के श्रीवल्लभ ने बड़ी चतुराई से कौटुंबिकता से अपने को लगभग पृथक कर ही लिया था। आधुनिक युग में प्रत्येक पारिवारिक समस्या के मूल में पैसा ही दिखाई पड़ता है। डॉ. सत्यप्रकाश भी इस बात से सहमत हैं कि “पैसे का दृष्टि के केन्द्र में हो जाना और प्रत्येक वस्तु का पैसे की दृष्टि से मूल्यांकन करना हिन्दू दिमाग में, हिन्दू पारिवारिक व्यवस्था में एक विशेष परिवर्तन के टूट का कारण बना। सामाजिक जीवन में शिक्षा, विवाह और स्त्री स्वातंत्र्य तथा अर्थ का प्रभाव कितने बड़े परिवर्तन ला सकता है तथा एक बदलते हुए समाज में आस्थाओं और मानवीय मूल्यों के संदर्भ में जीने वाले कितना कुछ और क्या भोग सकते हैं यह इस पारिवारिक भिन्नता और टूट का कारण है। पैसे का बढ़ता व्यामोह ही परिवार को छिन्न—भिन्न कर देता है। लेखक ने बदलते हुए मानवीय संबंधों का खोखलापन इस कुशलता से अंकित किया है कि वह बड़ी तीव्रता से उभरकर सामने आता है और पाठक के हृदय में एक टीस, एक कचोट पैदा करता है। भाई—भाई, पिता—पुत्र, सास—बहू, देवगनी—जेठानी जैसे परम्परागत संबंध बदल गए हैं, उनमें सौहार्द, संवेदना और स्नेह की तरलता के स्थान पर स्वार्थ की धूल रह गई है।

आलोच्यकालीन उपन्यासों में मध्यमवर्गीय जीवन के विविध आयामों की जटिलताओं को समझाने का प्रयास किया है। मध्यम वर्ग के जीवन की इन महानगरीय समस्याओं के मध्य अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़ते असहाय और विवश व्यक्ति के संघर्ष को उपन्यासकारों ने अपनी लेखनी प्रदान की है। एक ओर ग्रामीण जीवन सामूहिक मूल्यों, आदर्शों और मान्यताओं पर आधारित है तो दूसरी ओर महानगरीय जीवन में मानवीय संवेदना, सहानुभूति आदि के नाम पर मात्र स्वार्थीपन ही बना है। पश्चात्य सभ्यता से उधार ली गई महत्वाकांक्षाओं के कारण प्राचीन परम्पराओं और मान्यताओं का

विरोध हो रहा है। इस कारण स्वस्थ मूल्यों का अभाव होता जा रहा है। इस पाश्चात्य प्रभाव ने व्यक्ति को अंदर से तोड़-मरोड़ दिया है। प्राचीन मूल्य और आदर्श हमारी धरोहर हैं। इन्हें नष्ट करना अपनी संस्कृति नष्ट करने के समान है।

संदर्भ —

१. उपेन्द्रनाथ “अश्क” : शहर में घूमता आईना
२. विष्णु प्रभाकर : अर्द्धनारीश्वर
३. मोहन राकेश : अन्धेरे बन्द कमरे
४. नरेश मेहता : यह पथ बन्धु था

शोध निर्देशिका  
डॉ. हिमानी सिंह  
हिन्दी विभाग  
राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय  
झालावाड़

शोधार्थी  
वन्दना शर्मा  
कोटा विश्वविद्यालय,  
कोटा

MAH/MUL/ 03051/2012

ISSN :2319 9318



Jan. To March 2019  
Issue-29, Vol-07

**Date of Publication**  
**28 Feb. 2019**

**Editor**

**Dr. Babu g. Gholap**

(M.A.Mar.& Pol.Sci.,B.Ed.Ph.D.NET.)

विद्येविना मति गेली, मतीविना नीति गेली  
नीतिविना गति गेली, गतिविना वित्त गेले  
वित्तविना शूद्र खचले, इतके अनर्थ एका अविद्येने केले

- ७२७०१०००२६७

❖ विद्यावार्ता या आंतरविद्याशाखीय बहुभाषिक त्रैमासिकात व्यक्त झालेल्या मतांशी मालक, प्रकाशक, मुद्रक, संपादक सहमत असतीलच असे नाही. न्यायक्षेत्र:बीड



"Printed by: Harshwardhan Publication Pvt.Ltd. Published by Ghodke Archana Rajendra & Printed & published at Harshwardhan Publication Pvt.Ltd.,At.Post. Limbaganesh Dist,Beed -431122 (Maharashtra) and Editor Dr. Gholap Babu Ganpat.



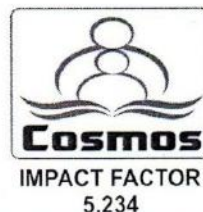
Reg.No.U74120 MH2013 PTC 251205  
**Harshwardhan Publication Pvt.Ltd.**

At.Post.Limbaganesh,Tq.Dist.Beed  
Pin-431126 (Maharashtra) Cell:07588057695,09850203295  
harshwardhanpubli@gmail.com, vidyawarta@gmail.com

All Types Educational & Reference Book Publisher & Distributors / [www.vidyawarta.com](http://www.vidyawarta.com)

**Editorial Board & Advisory Committee**

- |  |                                      |
|--|--------------------------------------|
| 1) Dr. Vikas Sudam Padalkar (Japan)    | 24) Dr.Sushma Yadav (Delhi)          |
| 2) M.Saleem, Sialkot (Pakistan)        | 25) Dr.Seema Sharma (Indor)          |
| 3) Dr. Momin Mujtaba (Saudi Arabia)    | 26) Dr. Choudhari N.D. (Kada)        |
| 4) N.Nagendrakumar (Sri Lanka)         | 27) Dr. Yallawad Rajkumar (Parli v.) |
| 5) Dr. Wankhede Umakant (Maharashtra)  | 28) Dr. Yerande V. L.(Nilanga)       |
| 6) Dr. Basantani Vinita (Pune)         | 29) Dr. Awasthi Sudarshan (Parli v.) |
| 7) Dr. Upadhyaya Bharat (Sangali)      | 30) Dr. Prema Chopde (Nagpur)        |
| 8) Jubraj Khamari (Orissa)             | 31) Dr Watankar Jayshree             |
| 9) Krupa Sophia Livingston (Tamilnadu) | 32) Dr. Saini Abhilasha,             |
| 10) Dr. Wagh Anand (Aurangabad)        | 33) Dr. Vidya Gulbhile (M.S.)        |
| 11) Dr. Ambhore Shankar (Jalna)        | 34) Dr. Kewat Ravindra (Chandrapur)  |
| 12) Dr. Ashish Kumar (Delhi)           | 35) Dr. Pandey Piyush (Delhi)        |
| 13) Prof.Surwade Yogesh (Satara)       | 36) Dr. Suresh Babu (Hydarabad)      |
| 14) Dr. Patil Deepak (Dhule)           | 37) Dr. Patel Brijesh (Gujrat)       |
| 15) Dr. Singh Rajeshkumar (Lucknow)    | 38) Dr. Trivedi Sunil (Gujrat)       |
| 16) Dr. Ashlesha Mungi (Baramati)      | 39) Dr. Sarda Priti (Hydarabad)      |
| 17) Dr.Patwari Vidya (Jalna)           | 40) Dr. Nema Deepak (M.P.)           |
| 18) Dr. Maske Dayaram (Hingoli)        | 41) Dr. Shukla Neeraj (U.P.)         |
| 19) Dr.Padwal Promod (Waranasi)        | 42) Dr. Namdev Madumati (M.P.)       |
| 20) Dr.Lokhande Nilendra (Mumbai)      | 43) Dr. Kachare S.V. (Parli-v)       |
| 21) Dr.Narendra Pathak (Lucknow)       | 44) Dr. Singh Komal (Lucknow)        |
| 22) Dr.Bhairulal Yadav (West Bangal)   | 45) Dr. Pawar Vijay (Mumbai)         |
| 23) Dr.M.M.Joshi, (Nainital)           | 46) Dr. Chaudhari Ramakant (Jalgaon) |



**Note :** The Views expressed in the published articles, Research Papers etc. are their writers own. 'Printing Area' does not take any liability regarding approval/disapproval by any university, institute, academic body and others. The agreement of the Editor, Editorial Board or Publication is not necessary. Disputes, if any shall be decided by the court at **Beed** (Maharashtra, India)

<http://www.printingarea.blogspot.com>

**विद्यवाता : Interdisciplinary Multilingual Refereed Journal Impact Factor 6.021(IJIF)**

27) आत्म-निर्वासन और स्त्री-पुरुष संबंधों की जटिलताएँ डॉ. हिमानी सिंह, झालावाड़ — वन्दना शर्मा, कोटा	113
28) निम्न मध्यमवर्गीय परिवारों में गृह — व्यवस्था के संबंध में निर्णय की प्रक्रिया ... दीपिका कुमारी, कामेश्वर नगर दरभंगा	117
29) पौराणिक युगीन संगीत व्यवस्था डा० मोनिका दीक्षित, मथुरा	122
30) बारां जिले में कस्तूरबा गाँधी बालिका आवासीय विद्यालयों से बालिका शिक्षा पर पड़ने वाले... डॉ० अन्जुबाला राजपूत, मेरठ	127
31) मौर्यकालीन शासन—व्यवस्था डॉ० सरिता कुमारी, नालन्दा	131
32) मानवतावाद के उपासक : संत कबीरदास प्रा. डॉ. द्वारका गिते—मुंडे, नांदुर (घाट) तह. केज, जि. बीड	135
33) हिन्दी चित्रपट में शास्त्रीयता की परम्परा (स्वर सम्राज्ञी लता मंगेशकर के ध्वन्या... (डॉ.) गुरप्रीत कौर” — लता, अमृतसर	138
34) महिला सशक्तिकरण : जागरूकता एवं प्रयास श्रुति कीर्ति रस्तोगी, जयश्री शुक्ला	143
35) 'मेक इन इण्डिया' का आधार कौशल का विकास एवं शैक्षिक मोर्चाबन्दी — एक... Dr. Sachin kumar, Greater Noida.	149
36) अन्तर्जातीय विवाह : सामाजिक समरस्ता की ओर एक कदम डॉ. संजय कुमार, चूरू (राज.)	154
37) अमानवीयता के देश का कडुआ सच : दलित साहित्य डॉ० धर्मेन्द्र कुमार, झाँसी (उ०प्र०)	157
38) शेरशाह की भू-राजस्व व्यवस्था डा० सेराज मोहम्मद, हल्द्वानी(नैनीताल)	160
39) ग्राम स्वराज की अवधारणा और उत्तराखण्ड की राजनीति डॉ भगवती प्रसाद पुरोहित, गोपेश्वर (चमोली) उत्तराखण्ड	163

लिए स्वतंत्र चिन्ह तथा वर्ण का उपयोग किया जाता है। अंग्रेजी भाषा के लिखित रूप के लिए जिन लिपि का उपयोग किया जाता है वह वर्णात्मक लिपि हैं। रोमन लिपि में लिखित शब्द के भितर स्वर के लिए स्वतंत्र ध्वनिचिन्ह का प्रयोग किया जाता है और व्यंजन के लिए स्वतंत्र ध्वनिचिन्ह का उपयोग होता है। जैसे LOVE शब्द में 'L' व्यंजन के लिए स्वतंत्र ध्वनिचिन्ह का प्रयोग हुआ है। इस तरह 'O' के लिए 'V' के लिए भी स्वतंत्र ध्वनिचिन्ह का उपयोग हुआ है। इस तरह शब्द से प्रयुक्त सभी ध्वनिचिन्ह सिधे समझ में आते हैं। इस कारणवश वर्णात्मक लिपि को सर्वाधिक विकसित रूप माना जा सकता है।

इस तरह स्पष्ट होता है कि लिपि का उदभव और विकास के अध्ययन और विश्लेषण करने के बाद यह कहा जा सकता है की लिपि का उदभव चित्रलिपि से हुआ और लिपि का विकास वर्णात्मक लिपि से हुआ है।

**संदर्भ सुचि :-**

- 1) हिन्दी भाषाविज्ञान परिचय :- डॉ. ज्ञानराज काशीनाथ गायकवाड 'राजवंश'
- 2) भाषा विज्ञान :- डॉ. नेमीचंद श्रीमल
- 3) हिन्दी भाषा :- डॉ. भोलानाथ तिवारी

## आत्म—निर्वासन और स्त्री—पुरुष संबंधों की जटिलताएँ

शोध निर्देशिका

डॉ. हिमानी सिंह

हिन्दी विभाग

राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, झालावाड़

शोधार्थी

वन्दना शर्मा

कोटा विश्वविद्यालय, कोटा

महानगरीयों में प्रेम संबंधी मान्यताओं में परिवर्तन होता जा रहा है। युवा पीढ़ी की स्वच्छन्दता की बढ़ती प्रवृत्ति के कारण अब प्रेम का वह पवित्र स्वरूप बदलता जा रहा है। वास्तविक प्रेम का स्थान दैहिक आकर्षण ने ले लिया है। इस हेतु समकालीन उपन्यासकारों ने इनके कारण और दुष्परिणामों के प्रति सचेत करने के लिए पात्रों का सहारा लिया है। विवाहेत्तर प्रेम संबंधों का चलन आज आम होता जा रहा है। महानगरीय पति—पत्नी अब बंधनों और परम्पराओं को तोड़कर अन्य स्त्री—पुरुष से प्रेम संबंध स्थापित करने में नहीं हिचकते हैं। चलता हुआ लावा में भी इसी त्रिकोण प्रेम को दर्शाया गया है। उपन्यास का पात्र जब अपनी पत्नी के साथ तालमेल नहीं रख पाता तो वह दूसरे पात्र गुड्डम की ओर आकर्षित हो जाता है। गुड्डम का कथन है "तुम्हारा क्या है — तुम्हारे पास नाटक एक सहारा है। अभी मुझे हर्ट कर दोगे, अभी काफी हाउस में जाकर लतीफे सुनाओगे। तुमने कहा था दुहरे ढंग से जीना तुम्हारी विवशता रही है लेकिन तुम पत्नी के साथ भी घूम सकते हो और उसी शाम मेरी चूनी पर नाम भी लिख सकते

हो। साथ ही संतुलन भी रख सकते हो कि दांये हाथ की बात भी बांये हाथ को न मालूम हो।" गुड्डम का यह कथन एक ओर स्वच्छन्दता की हद बतलाता है तो दूसरी तरफ उसके अन्तर्द्वन्द्व की व्यथा को भी व्यक्त करता है। उसके एक तरफ स्वत्व का प्रश्न खड़ा था और दूसरी तरफ घर से विवाह करने का दबाव भी आ रहा था, ऐसे में आत्मनिर्वासन को झेलती गुड्डम नौद की गोलियाँ खाकर आत्महत्या कर लेती है। यह उपन्यास बतलाता है कि बंधन से मुक्त पुरुषों का एक समूह एक स्त्री से कभी संतुष्ट नहीं हो पाता है। वह ऐसी स्त्रियों की चाह में रहते हैं जो अधिक उम्र तक विवाह नहीं करतीं और अपने परिवार से उपेक्षित होती हैं। उसके सामने सहानुभूति प्रदर्शित करके वह उसके मन में प्रेम का बीजारोपण करते हैं। अपनी टूटी गृहस्थी की झूठी कहानी सुनाकर वह ऐसी प्रौढ़ कुमारियों को प्रेम के चक्रव्यूह में फँसा लेते हैं।

रमेश बक्षी, मोहन राकेश, उषा प्रियंवदा, जेनेन्द्र, राजेन्द्र यादव, मन्नु भण्डारी, कृष्णा सोबती आदि अनेक समकालीन उपन्यासकारों ने स्त्री-पुरुष संबंधों को विभिन्न रूपों में चित्रित किया है। आरंभ में विवाह के मायने अलग थे किन्तु वर्तमान में पुरुष स्वतंत्र रूप से यौन संबंध की माँग कर रहा है तो स्त्री भी विवाह संस्था को अपने व्यक्तित्व के अनुसार ढालना चाहती है। स्त्री-पुरुष संबंधों की समस्या का सर्वाधिक चित्रण स्वातंत्र्योत्तर उपन्यास मोहन राकेश के अंधेरे बंद कमरे में है। नीलिमा के साथ रहकर भी हरबंस स्वयं को खाली सा महसूस करता है। नीलिमा भी स्वतंत्र होना चाहती है। नीलिमा एक महत्वाकांक्षी नारी है जो अपनी निजी आकांक्षाओं और रूचि में ही खोई है। वह अपने स्वतंत्र अस्तित्व पर विश्वास करती है। इसमें हरबंस और नीलिमा के माध्यम से दाम्पत्य जीवन के उबाऊ संदर्भों और तनाव जनित अन्तर्द्वन्द्वों का चित्रण है। निर्मल वर्मा के उपन्यास वे दिन में रायना के मन की चाह उपन्यास में अनेक स्थानों पर सांकेतिक रूप से व्यक्त होती है। रायना सभी संबंध

ों से कटकर यायावरीय जीवन व्यतीत कर रही है। उसके पिता कहीं हैं, माता की चर्चा तक नहीं है। पति से वह निस्संग है। पुत्र से भी उसे अनुराग नहीं है। वह स्वावलंबिनी नारी कही जा सकती है। अपनी इच्छानुसार विदेशी नगरों में वह भटकती रहती है। कहीं उसे अनैतिक संबंध बनाना गलत भी लगता है लेकिन वह अधिक दिनों तक अकेले भी नहीं रह पाती। इस उपन्यास में पारिवारिक दबाव अलग होने वाले दो प्रेमियों की निस्सहायता का भी चित्रण है जो उन्हें आत्मनिर्वासन की स्थिति में पहुँचा देते हैं। आलोच्य उपन्यासों में प्रेमसंबंधों में भी अलगाव को खोजने का प्रयास किया गया है। इन उपन्यासों के माध्यम से प्रेम संबंधों में एक प्रकार का अलगाव और अजनबीपन पनपने के कारणों पर प्रकाश डाला गया है। वे दिन की पृष्ठभूमि यूरोपीय है लेकिन दूसरे उपन्यासों में परम्परागत भारतीय समाज के प्रेमियों में अलगाव के कारणों को देखा गया है किन्तु उल्लेखनीय तथ्य यह है कि इन लेखकों ने प्रेम संबंधों में अलगाव की समस्या की अनदेखी कर वैवाहिक संबंधों में अलगाव को अपना विषय बनाया है। यह लेखक विवाहित दम्पति के जीवन में आने वाली समस्याओं और फिर उनसे उपजे अकेलेपन पर अपना ध्यान केन्द्रित किए हुए हैं। निर्मल वर्मा के "वे दिन" में जिस प्रेम की व्याख्या की गई है वह सिर्फ एक विशेष संदर्भ की ही धारणा है वास्तव में वह अवास्तविक लगती है। इससे स्पष्ट होता है कि आधुनिक जीवन में प्रेम में प्रौढ़ता नहीं है। इससे यह लगता है कि सारे मानवीय संबंध अधूरे हैं और जिसे प्रेम कहते हैं वह मात्र एक असंभव प्रक्रिया है। इनकी रचनाओं में नारी चरित्रों की संख्या काफी है जो मध्यवर्गीय नारी का प्रतिनिधित्व करती है। इनकी अपनी आस्था और आकांक्षाएँ हैं जिनकी वे पूर्ति करना चाहती हैं। जब वह इच्छाएँ पूरी नहीं होती तो इनमें असंतोष जन्म लेता है। इन्हें अपनी वैयक्तिक स्वतंत्रता और अस्तित्व का गहरा बोध है। अपनी वैयक्तिकता को लेकर वह खालीपन और रिक्तता से गुजरती हैं। अंधेरे बंद कमरे की



नीलिमा आदि से अंत तक संघर्ष करती है। इन उपन्यासों में नारी—पुरूष संबंधों पर आज के संदर्भ में विचार किए गए हैं।

उषा प्रियंवदा ने अपने उपन्यास पचपन खम्भे लाल दीवारों में आधुनिक जीवन की ऊब, छटपटाहट और अकेलेपन की यंत्रणा को व्यक्त किया है। उनकी इस रचना में आधुनिकता का स्वर प्रबल दिखाई देता है तो दूसरी तरफ पाठक को अनुभव होता है कि भारतीय नारी किन सामाजिक और आर्थिक विवशताओं में बंधी हुई है। उपन्यास की पात्र सुषमा छात्रावास के पचपन खम्भों और लाल दीवारों के बीच घुटती रहती है किन्तु वह उससे मुक्त नहीं होकर वहीं जीने के लिए विवश है — “वैसे ही कुछ मद्धिम स्वयं की प्रतिध्वनियाँ गुंजती हैं, मन में कुछ करवट लेता है और चुप हो जाता है, ऐसा ही अभेद्य सर्वग्रासी अंधकार जीवन में सिमटता है। उक्त पंक्तियों से पात्र की मानसिक यंत्रणा का सहज ही बोध हो जाता है। महानगरीय व्यवस्था ने स्त्री जीवन में अनेकानेक परिवर्तन किए हैं। आज वह सभी पदों पर कार्यरत है और आर्थिक रूप से सक्षम होने के कारण आत्मनिर्भरता का आत्मविश्वास उसमें झलकता है। जैसे कि पचपन खम्भे की सुषमा में भी इसे व्यक्त किया गया है “सुषमा ने मेज़ पर रखी पीतल की तख्ती पर फिर एक बार ऊँगली फेरी। नई चमकती तख्ती पर उसके नाम के अक्षर उभरे हुए थे। सुषमा को अपना नाम अनायास ही बहुत मीठा और संगीतमय लग गया।” कामकाजी नारी की घर और बाहर दोहरी जिम्मेदारियाँ हो गई हैं जिससे उनके पारिवारिक जीवन में तनाव उत्पन्न होने लगे हैं। अपनी अस्मिता को तलाशती नारी के लिए यह एक चुनौतीपूर्ण कार्य है कि वह दोनों ही क्षेत्रों में खरी उतरे। उपन्यासकारों ने स्त्री—पुरूष संबंधों की इस जटिलता और यथार्थ को कलमबद्ध किया है। वैवाहिक संबंधों में बढ़ते तनाव के कारण महानगरीय वर्ग विवाह का ही विरोधी हो गया है। उत्तरदायित्वों और तनाव से बचने के लिए फ्री लिविंग की अवधारणा ने आकार लिया है। संयुक्त परिवार के विभाजन के

साथ ही परिवार के विभिन्न सदस्यों के मध्य संबंध बुद्धि और तर्क से प्रेरित होने लगे हैं। समकालीन उपन्यासकारों ने इन्हीं मानवीय संबंधों पर अपनी आक्रामक शैली में तो कहीं पर व्यंग्यात्मक शैली में लेखन का विषय बनाया है।

पारिवारिक सम्बन्धों में सबसे महत्वपूर्ण सम्बन्ध पति—पत्नी का होता है। उपन्यासकार जेनेन्द्र के उपन्यास कल्याणी में इस व्यथा का बहुत ही प्रभावपूर्ण वर्णन किया गया है। कल्याणी डॉक्टर की डिग्री लेकर विदेश से लौटती है, तब उस क्षेत्र का डॉक्टर असरानी उससे विवाह करने का आग्रह करता है। कल्याणी किसी दूसरे युवक से प्रेम करती है किन्तु असरानी उसे विवाह के लिए मजबूर करता है क्योंकि वह वैवाहिक संबंध में भी लाभ देखता है। वह कल्याणी पर शक करता है और कल्याणी पर शोक—टोक लगाता है। असरानी से विवाह होने के बाद कल्याणी को अपने पति से घृणा होने लगती है। घटनाक्रम आगे बढ़ता है और अन्त में कल्याणी असहायता और अकेलेपन से त्रस्त हो मृत्यु को प्राप्त हो जाती है। इस उपन्यास के माध्यम से जेनेन्द्र ने नारी के विश्वास और प्रेमिल भावना को एक स्वार्थी पति के हाथों निर्दयता से तड़पते हुए मरते दिखलाया है। यह मात्र कल्याणी के मन की तड़प नहीं है यह हमारे समाज का आईना है जिसमें सहज और नैसर्गिक मूल्यों का कोई स्थान ही नहीं है। कल्याणी जैसी अनेकों स्त्रियाँ आत्मान्वेषण में लुप्त हो जाती हैं। भैतिकतावादी दृष्टि के कारण महानगरीय नारी शिक्षित है किन्तु उसका जीवन घर और बाहर दो पाठों के मध्य पिस रहा है।

शेखर एक जीवनी में शशि के चरित्र को अज्ञेय ने एक उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। शशि का शेखर के प्रति अनुराग है किन्तु वह पत्नी मर्यादा के प्रति सचेत भी है। वह शेखर को बनाने के लिए स्वयं मिटने के लिए तैयार है। जेनेन्द्र के ही उपन्यास सुखदा में भी स्त्री सशक्तिकरण दिखलाया गया है। यह उपन्यास आत्मकथा शैली में लिखा गया है। सुखदा जो कि उपन्यास का

मुख्य पात्र है। अपने अतृप्त नारी अहम् में रहती है। सामान्य नौकरी वाले पति को पाकर उसकी इच्छाओं की पूर्ति नहीं हो पाती है और यही वजह पति—पत्नी के बीच तनाव का कारण बन जाती है। कहानीक्रम के अन्त में जब सुखदा स्वजनों से बिछड़ जाती है तब एकान्त में अकेलेपन से व्यथित होकर वह पश्चाताप करती है और अपने इन्हीं उद्वेगों को लेखनीबद्ध करती है। यह उपन्यास एक आत्महंता नारी के एकाकीपन और अविवेकपूर्ण आचरण का साक्षी है। अपनी स्वतंत्रता हर कीमत पर पाने की चाह में वह अपने परिवार को होम कर बैठती है।

स्वतंत्रता के बाद के उपन्यासों में समाज के दो रूप दर्शाए गए हैं पहला स्त्री के स्वतंत्र व्यक्तित्व को स्वीकार करता है और उसे समानता का दर्जा भी देता है। इसमें स्त्री—पुरुष संबंध स्वस्थ मानसिकता लिए होते हैं तो दूसरी तरफ नारी को भोग्य के रूप में प्रस्तुत किया गया है जिससे स्त्री—पुरुष संबंधों के मूल्यों का ह्रास देखने को मिलता है। स्त्री—पुरुष संबंधों में यह स्थिति बड़ी विकट होती है। यहाँ तक कि पति द्वारा अर्थ और पद की प्राप्ति के लिए अपनी पत्नी को दूसरे के समक्ष परोसने की प्रवृत्ति भी पनप जाती है। यह स्थिति जैनेन्द्र के उपन्यास कल्याणी में देखने को मिलती है। कल्याणी से अर्थ लाभ प्राप्त करने के उद्देश्य से असरानी उससे विवाह करता है और फिर अपने स्वार्थ को पूर्ण करने के लिए कल्याणी को साधन बना लेता है। वह उससे चिकित्सावृत्ति भी करवाना चाहता है और उस पर पाबंदी भी लगाता है।

मोहन राकेश के उपन्यास अंधेरे बंद कमरे में मध्यवर्गीय समाज के बदलते संबंधों को दर्शाया गया है। उपन्यास की कथा पत्रकार मधुसूदन के माध्यम से व्यक्त की गई है जिसमें मानवीय विवशताओं को आधुनिकता के साथ जोड़ा गया है। यह मध्यवर्गीय पात्रों की नियति को व्यक्त करता है। शहरी समाज के आधुनिकता के धरातल पर विचित्र प्रकार की मानसिक स्थिति को दर्शाया गया है। हरबंस और नीलिमा जो कि पति—पत्नी हैं। दोनों ही सुशिक्षित हैं किन्तु दोनों के मन में एक—दूसरे के

लिए संदेह है। दोनों ही एक—दूसरे के अस्तित्व को नकारते नज़र आते हैं। इस उपन्यास का केन्द्र बिन्दु हरबंस और नीलिमा की जिन्दगी का बंद कमरा है जो उन्होंने स्वयं बनाया है। इनकी आकांक्षाओं ने दोनों को एक—दूसरे का विरोधी बनाकर भटकने के लिए मजबूर कर दिया है। यह उपन्यास मध्यमवर्गीय समाज पर आधुनिकता के प्रभाव को दिखलाने वाली श्रेष्ठ रचना है।

#### संदर्भ —

१. रमेश बक्षी : चलता हुआ लावा
२. मोहन राकेश : अंधेरे बंद कमरे
३. निर्मल वर्मा : वे दिन
४. उषा प्रियंवदा : पचपन खम्भे लाल दीवारें
५. जेनेन्द्र : कल्याणी
६. सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन “अज्ञेय” : शेखर एक जीवनी
७. जेनेन्द्र : सुखदा



हिन्दी विभाग

जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर

द्वारा आयोजित एवं

भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली तथा विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, नई दिल्ली द्वारा प्रायोजित

द्वि-दिवसीय अन्तर्राष्ट्रीय संगोष्ठी

'समकालीन विमर्श : सामाजिक, सांस्कृतिक परिदृश्य'

**प्रमाण पत्र**

प्रमाणित किया जाता है कि श्री/सुश्री/श्रीमती/प्रो./डॉ. \_\_\_\_\_ वन्दनाशर्मा

पद **शोधार्थी** संस्था **कोटा वि.वि., कोटा** \_\_\_\_\_ ने हिन्दी विभाग

जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर द्वारा दिनांक 10-11 जनवरी, 2015 को आयोजित 'समकालीन विमर्श :

सामाजिक, सांस्कृतिक परिदृश्य' विषयक अन्तर्राष्ट्रीय संगोष्ठी में मुख्य अतिथि / सत्राध्यक्ष / विषय-विशेषज्ञ /

पत्र-वाचक / सक्रिय प्रतिभागी के रूप में \_\_\_\_\_ **दलित साहित्य की प्रवृत्तियाँ**

विषयक पत्र-वाचन कर संगोष्ठी को गरिमा प्रदान की।

(डॉ. कुलदीप सिंह मीणा)

(प्रो. देवेन्द्रकुमार सिंह गौतम)

(प्रो. श्रवणकुमार मीणा)

आयोजन सचिव, अन्तर्राष्ट्रीय संगोष्ठी

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग

निदेशक, अन्तर्राष्ट्रीय संगोष्ठी



# INTERNATIONAL CONFERENCE ON "Education Policy for Strong Nation"

एनएचई विभागा-समर्थित कार्यक्रम



Organised by : **Bhartiya Shikshan Mandal, Raj. (India)**

January 17-18, 2015


Venue : Agarwal P.G.college, Sanganer Gate, Jaipur

## Certificate

This is to certify that Prof./Dr./Mr./Ms. ....**Vandana...S.Kalra**.....  
from .....**University of Kota...kota**.....

has Participated / Presented a Paper / Delivered an invited lecture / **Chair/Co-Chair** in the session, in Conference.

His / Her participation is highly appreciated.

  
**Dr. M.L. Chhipa**  
Convener & President  
(Vice-Chancellor-Atalbihari Vajpayee  
Hindi University, Bhopal)

  
**Dr. N.K. Pandey**  
Director (Research)  
University of Rajasthan, Jaipur  
(Co-Convener)

  
**Prof. R.S. Khangarot**  
Principal  
Agarwal P.G. College, Jaipur  
(Co-Convener)

  
**Dr. B.L. Natiya**  
Organising Sec.  
National Vice President &  
President Vidhya Bharti, JaipurPrant